साहित्य के महावीर
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

सम्पादक

डॉ. विकास दवे

सह सम्पादक

प्रो. कृष्णगोपाल मिश्र

सम्पादन सहयोग

डॉ. मुकेश कुमार मिश्र

प्रकाशक

साहित्य अकादमी, भोपाल

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

साहित्य के महावीर
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

सर्वाधिकार : **प्रकाशकाधीन**

प्रकाशक : **साहित्य अकादमी (म.प्र.सं.प.)**
मध्यप्रदेश शासन, संस्कृति विभाग,
संस्कृति भवन, बाण गंगा चौराहा, भोपाल-3
फोन : 0755 : 2554782
Email : sahityaacademy.bhopal@gmail.com

संस्करण : **प्रथम 2021**

मूल्य : **रु. 300/- (रुपये तीन सौ मात्र)**

आवरण : **अमरजीत कुमार**

आकल्पन : **राकेश सिंह**

मुद्रण : **मध्यप्रदेश माध्यम**, अरेरा हिल्स,
भोपाल (म.प्र.)

साहित्य के महावीर : आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम लेते ही आँखों के समक्ष साहित्य का एक ऐसा विराट व्यक्तित्व प्रकट होता है, जिसने साहित्य की हर विधा के लिए अपने जीवन का कण-कण और क्षण-क्षण लगाया।

आचार्य जी जब कविता लिखते हैं तो कविता के उस उदात्त बिंदु तक पहुँचते हैं, जिस शिखर को छूने का प्रत्येक साहित्यकार अपने मन में स्वप्न सँजोता है। जब वे गद्य लिखते हैं तो ऐसे संश्लिष्ट निबंध साहित्य की झोली में डालते हैं, जो वर्षानुवर्ष तक गद्य लेखकों के लिए मानक बने रहते हैं। जीवन परिचय एक ऐसी विधा है जो मनुष्य की प्रत्येक अवस्था के लिये न केवल प्रेरक होती है बल्कि उसकी जीवन दिशा तय करने में भी सहायक सिद्ध होती है। विशेषकर जीवनी साहित्य भारत की नई पीढ़ी के लिए श्रेष्ठतम उत्प्रेरक माना जाता है।

आचार्य जी द्वारा लिखित जीवनी साहित्य हमें यह सोचने पर विवश कर देता है की महापुरुष हमें हमारे आसपास भी विचरते दिखाई दे जाते हैं किंतु कई बार साहित्य सृजन में ऐसे सहज, सरल और सामान्य पात्र साहित्यकार की चेतना से चूक जाने के कारण पृष्ठों पर स्थान प्राप्त नहीं कर पाते। इस दिशा में साहित्य जगत को सोचने पर विवश करने के लिए आचार्य जी ने ऐसे पात्रों के जीवन चरित्र उकेरे जो बड़े-बड़े महाकाव्यों में भी उपेक्षित रह गए थे। 'साहित्यिक अंत्योदय' की यह उदात्त भावना उन्हें समकालीन रचनाकारों से पृथक पंक्ति में खड़ा कर देती है। इस दिशा में श्रद्धेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अवदान किसी भी दृष्टि से कमतर नहीं आँका जा सकता।

साहित्य की एक और उत्कृष्ट विधा है संपादन कला। संपादन कला में आचार्य जी ने जो मापदंड स्थापित किये वह आज भी भारत भर के विश्वविद्यालयों के पत्रकारिता पाठ्यक्रमों के 'माइलस्टोन' की तरह उपयोग में लाये जाते हैं।

सरस्वती का उनका संपादन-काल संभवत: किसी संपादक के जीवन की अंतिम अभिलाषा की तरह स्वर्णिम आभा लिये संपादन इतिहास के पृष्ठों में दर्ज होता है। यही कारण है कि उन्हें वरिष्ठ साहित्यकार 'भाषा संस्कारक' के रूप में रेखांकित करते हैं।

उनकी समालोचना दृष्टि भारतीय साहित्य समालोचना जगत में इसलिए भी अनूठी मानी जाती है क्योंकि उन्होंने केवल छिद्रान्वेषी दृष्टि रखकर दोष निकालने के स्थान पर अत्यंत आत्मीयता से उस युग के रचनाकारों को गढ़ने और निखारने का काम किया। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर समकालीन साहित्यकारों ने साहित्य की झोली में रचनाओं के हीरे जवाहरातों का ढेर लगा दिया, वह मालिका भी कम लंबी नहीं है।

भारतीय गीतिधारा आचार्य जी के ऋण से स्वयं को कभी मुक्त नहीं कर पाएगी। गीतिधारा की रत्न शृंखला में श्रद्धेय द्विवेदी जी का नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। यही कारण है कि उन्हें 'कविता का भीष्म पितामह' और 'पितृ पुरुष' कहने में आज भी हम संकोच नहीं करते।

भाषा की सेवा मानो महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के रक्त संस्कार बनकर उनकी धमनियों में दौड़ती थी। कविता में खड़ी बोली के प्रयोग को लेकर पर्याप्त विरोध सहने के बाद भी उन्होंने कविता के नव संस्कार की इस प्रक्रिया में कभी ढील नहीं आने दी। उनके आचार्यत्व को लेकर भले ही समकालीन समालोचनाकार तरह तरह के प्रश्न चिह्न लगाते रहे किंतु उसके बाद भी श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी को साहित्य के 'लोक' ने सच्चे मन से आचार्य स्वीकारा। यही कारण है कि उनका आचार्य विशेषण न तो कहीं से आयातित दिखाई देता है और न ही किसी के द्वारा प्रदत्त, अपितु यह आचार्यत्व उनकी लेखनी से नि:सृत रचना कर्म से उपजता है।

साहित्य के खेत में जब वे विचारों के बीज बोते हैं तब रचनाओं की लहलहाती फसल ही उन्हें आचार्य घोषित करती है। वे जब काव्य सिद्धांतों की चर्चा करते हैं तो स्वाभाविक रूप से काव्य के शास्त्रीय पक्ष को परंपरागत क्लिष्टता से जन सामान्य की सहज, सरल समझ तक ले जाने में सफल हो जाते हैं। उनके संपादन-काल में सरस्वती पत्रिका ने जितनी श्रेष्ठ रचनाएँ साहित्य संसार को सौंपी उनकी चर्चा करना इस अग्रलेख को अत्यधिक विस्तार देना हो जाएगा। इन

विषयों पर श्रद्धेय डॉक्टर देवेंद्र दीपक जी और प्राध्यापक उमेश कुमार सिंह जी ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। यह पुस्तक आपके हाथों में सौंपते हुए आनंद भी हो रहा है और इसके विलंब से प्रकाशित होने पर हृदय में कष्ट भी है क्योंकि कोरोना-काल में बाधित हुए साक्षात्कार पत्रिका के प्रकाशन के कारण इसे जिस विशेषांक के रूप में आप सब के हाथों में पहुँचना था उस रूप में न आते हुए यह अत्यंत विलंब से पुस्तक आकार में आप सबके हाथों में पहुँच रही है, किंतु फिर भी मन में इस बात का संतोष है कि इस विशेषांक के लिए अतिथि संपादक के रूप में श्रद्धेय डॉ. कृष्ण गोपाल मिश्र जी का जो श्रमसाध्य कार्य संपन्न हुआ था उसे अंततः मूर्तरूप देना संभव हो सका। संपादकीय सहयोग के लिए डॉ. कृष्ण गोपाल मिश्र जी के साथ दत्तोपंत ठेंगड़ी शोध संस्थान के निदेशक डॉ. मुकेश मिश्र जी के प्रति भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। डॉ. कृष्ण गोपाल मिश्र जी ने जहाँ सभी लेखकों से विविध विषयों पर आलेख मँगवा कर उन्हें एक सूत्र में पिरोने का महत् कार्य किया वहीं डॉ. मुकेश मिश्र जी ने इस पुस्तक के कलेवर से लेकर शब्द शुद्धि तक और साथ ही इस ग्रंथ की रचनाओं की विषय वस्तु को पुनरावृति से मुक्त करने हेतु एक सफल श्रमसाध्य कार्य संपन्न किया। मैं मिश्र बंधु द्वय को इस परिश्रम हेतु धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

आइए साहित्य की दुनिया के शलाका पुरुष आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपूर्ण जीवन चरित्र पर केंद्रित इस ग्रंथ का आनंद लेते हैं और अवगाहन करते हैं 'महावीर गंगा' में। निश्चय ही इस ग्रंथ के प्रत्येक लेखक की प्रत्येक पंक्ति हमें आचार्य जी के जीवन चरित्र के व्यक्तित्व और कृतित्व की गंगा से एक अंजुरी आचमन की तृप्ति देने में सक्षम सिद्ध होगी। पुनः सभी लेखकों के प्रति हृदय से श्रद्धा ज्ञापित करते हुए सुधि पाठकों के हाथों में सौंप रहा हूँ यह ग्रंथ 'साहित्य के महावीर : आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी'।

धन्यवाद।

डॉ. विकास दवे
निदेशक
साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश

अनुक्रम

महावीरप्रसाद द्विवेदी **भारत यायावर** // 09

एक लेख जिसने हिन्दी की झोली भर दी **डॉ. देवेन्द्र दीपक** // 43

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनकी साहित्य-साधना
डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ // 48

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि : **त्रिभुवन राय**// 63

महावीरप्रसाद द्विवेदी का जीवनी साहित्य **डॉ. उदय प्रताप सिंह** // 82

महाजनो येन गत: स: पन्था: **डॉ. विनय षडंगी राजाराम** // 89

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का भाषा-चिन्तन **मुक्तेश्वर नाथ तिवारी** // 96

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविता और काव्य-चिन्तन
डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी // 106

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व के विविध आयाम
डॉ. बी.एल.आच्छा // 116

महावीरप्रसाद द्विवेदी का आचार्यत्व **प्रो. उमेश कुमार सिंह** // 123

द्विवेदी युगीन गीत भूमि और पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के गीत
डॉ. सुरेश गौतम // 135

हिंदी साहित्य की सुरसरिता के संवाहक आचार्य 'महावीरप्रसाद द्विवेदी'
प्रो. नरेंद्र मिश्र // 141

सरस्वती और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी **डॉ. मृगेन्द्र राय** // 159

भाषा चिंतन की स्वदेशीयता और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
नित्यानन्द श्रीवास्तव // 167

आचार्य द्विवेदी जी का महावीरत्व **डॉ. प्रणव शास्त्री** // 175

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : युगान्तरकारी व्यक्तित्व
डॉ. सुधीर कुमार शर्मा // 178

संपादन कला के 'आचार्य' **लोकेन्द्र सिंह** // 190

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्येतिहासकारों की दृष्टि में
डॉ. हरेराम पाठक // 197

महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में चित्रित समसामयिक समस्याएँ
डॉ. दोड्डा शेषु बाबु // 203

हिन्दी भाषा-साहित्य के भीष्म पितामह : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
डॉ. शिवमंगल कुमार // 211

महावीरप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि एवं सृष्टि **डॉ. बलदेव पाण्डेय** // 221

महावीरप्रसाद द्विवेदी का कवि-कर्म **गणेशचंद्र राही** // 245

हिन्दी भाषा के संस्कारक 'आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी'
डॉ. भूपेन्द्र हरदेनिया // 266

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्य-सिद्धान्त **डॉ. कृष्णगोपाल मिश्र** // 276

आचार्य द्विवेदी का साहित्य सृजन : रचनावली के गवाक्ष से
डॉ. आशीष पाण्डेय // 295

महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारत यायावर

महावीरप्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद् होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने 'सरस्वती' का अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान् कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्त्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, वैय्याकरणिक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अन्ततः वे युगान्तर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिंतन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रदेश में नव जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परम्परा थी। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनन्दन किया था एवं उनके सम्मान में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं – 'मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा – इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। ....

शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरज : कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कभी कदम नहीं रक्खा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया?'

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मैट्रिक तक की पढ़ाई की थी। तत्पश्चात् वे रेलवे में नौकरी करने लगे थे। उसी समय इन्होंने अपने लिए चार सिद्धांत निश्चित किये- वक्त की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत् प्रयत्न करते रहना। द्विवेदी जी ने लिखा है - 'पहले तीन सिद्धांतों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था; पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करने वाले प्लेट-लेयर Permanent way Inspector तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफे छोड़कर मुझे तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी।' द्विवेदी जी 15 रु. मासिक पर रेलवे में बहाल हुए थे और जब उन्होंने 1904 ई. में नौकरी छोड़ी उस वक्त उन्हें 150 रु. मूल वेतन एवं 50 रु. भत्ता मिलता था, यानी कुल 200 रु.। उस जमाने में यह एक बहुत बड़ी राशि थी। वे 18 वर्ष की उम्र में रेलवे में बहाल हुए थे। उनका जन्म 6 मई, 1864 ई. में हुआ था और 1882 ई. से उन्होंने नौकरी प्रारम्भ की थी। नौकरी करते हुए वे अजमेर, बम्बई, नागपुर, होशंगाबाद, इटारसी, जबलपुर एवं झाँसी शहरों में रहे। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते हुए पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का अम्यास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 1885 ई. में 'श्रीमहिम्नस्तोत्र' की रचना की, जो पुष्पदंत के संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर है। इसका प्रकाशन 1889 में हुआ। इसमें द्विवेदी जी ने सभी पद्य रचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में भी किया है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है - 'इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू, हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो साम्प्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान हैं, मैं परम कृतज्ञ हूँ।' अपने 'आत्म-निवेदन' में उन्होंने लिखा है -'बचपन से ही मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के 'ब्रजविलास' पर हो गया था। फुटकर कविता भी

मैंने सैकड़ों कण्ठस्थ कर लिये थे। होशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों बना रहा।' 1889 से 1892 ई. तक द्विवेदी जी की इस प्रकार की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं - विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी, देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि। 1896 ई. में इन्होंने लॉर्ड बेकन के निबन्धों का हिन्दी में भावार्थमूलक रूपान्तर किया, जो 'बेकन-विचार-रत्नावली' पुस्तक में संकलित हैं। 1898 ई. में इन्होंने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' लिखी, जो हिन्दी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। 1899 ई. में श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर इन्होंने 'नैषध-चरित-चर्चा' नामक आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक पुस्तक लिखी। यह सिलसिला जो शुरू हुआ, वह 1930-31 ई. तक चला और द्विवेदी जी की कुल पचासी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

जनवरी, 1903 ई. से दिसम्बर, 1920 ई. तक इन्होंने 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था, इसीलिए इस काल को हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। अपने प्रकाण्ड पांडित्य के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाने लगा। उनके व्यक्तित्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है - 'उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान् ज्ञान राशि के नीचे आ गया हूँ।' द्विवेदी जी का मानना था कि 'ज्ञान-राशि के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' द्विवेदी जी स्वयं तो एक 'महान् ज्ञान-राशि' थे ही उनका सम्पूर्ण वाङ्मय भी संचित ज्ञान राशि है, जिससे होकर गुजरना अपनी जातीय परम्परा को आत्मसात करते हुए विश्वचिंतन के समक्ष भी होना है। डॉ. रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है - 'द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह 'सम्पत्तिशास्त्र' है। ..... अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-

से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं। इसके साथ उन्होंने राजनीतिक विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिंतन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी सम्पादक या साहित्यकार ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।'

ऐसे महान् ज्ञान-राशि के पुंज थे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। किन्तु रामविलास शर्मा के पूर्व जितने भी आलोचक हुए, उन्होंने द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन तो नहीं ही किया, अपितु उनका अवमूल्यन ही किया। इन महान् आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में द्विवेदी जी पर जो टिप्पणी की है, उसपर एक नजर डालें : 'द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में 'सरस्वती' के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उसे बहुत-कुछ समझ जायँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही है। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्भावना वाले निबन्ध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबन्धों की श्रेणी में दो-चार ही लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकला या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गम्भीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई है।'

इसी प्रसंग में रामचन्द्र शुक्ल आगे लिखते हैं - 'कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी जी के लेख या निबन्ध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित

होकर किसी नई विचारपद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखण्ड को लिए हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।'

अब आप देखें कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन के प्रति रामचन्द्र शुक्ल की ये टिप्पणी पढ़कर हिन्दी का कोई भी पाठक उससे विरक्त होगा या आशक्त। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी के विद्यार्थी वर्षों से आप्त वचनों की तरह याद करते आ रहे हैं। ऐसे में मूल पाठ से उनके आप्त वाक्यों का यदि मिलान कर परीक्षण न किया जाए, तो अनर्थ होगा ही।

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक, सबसे बड़े साहित्येतिहास-लेखक। इसी इतिहास में वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदान को सिर्फ भाषा-परिष्कारकर्त्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्द हैं 'यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों और दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।' अब पाठक स्वयं रामचन्द्र शुक्ल की उपरोक्त पंक्तियों को देखें। क्या यहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर कसे गये हैं? क्या यहाँ 'बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर नहीं कही गई हैं'? क्या शुक्ल जी 'मोटी अक्ल के पाठकों के लिए' ही ये सब लिख रहे हैं? दरअसल शुक्ल जी जिस आलोचना-पद्धत्ति का सहारा लेकर उक्त बातें लिख रहे थे, उसे अंग्रेजी में Judicial Criticism और हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं और इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसने आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों का ध्यान ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन से हटाकर अधिकांशत: कलापक्ष तक ही सीमित कर दिया है। कलापक्ष की ओर ध्यान देने वाले आलोचकों का कहना है कि युगीन परिस्थितियाँ, युगीन चेतना और युग सत्य निरंतर परिवर्तनशील है अतएव इन्हें आधार नहीं बनाया जा

सकता। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण इन्हें साहित्य का स्थायी मानदण्ड नहीं स्वीकार किया जा सकता। लेकिन इसी के साथ यह भी सत्य है कि ऐसी दशा में निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं रहेगा। इसका मुख्य कारण है ऐसे आलोचक का रचनाकार और रचना पर फतवे जारी करना। रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में ऐसे फतवे जगह-जगह भरे पड़े हैं। उन्होंने कृतियों के महत्त्व को उनके कलापक्ष के कारण स्वीकार किया। उनका कलावादी दृष्टिकोण 'रस-मीमांसा' के काव्यशास्त्रीय आधार से निर्मित हुआ था। यही कारण है कि उन्होंने द्विवेदी जी के विचारों को, उनके संचित ज्ञान-राशि पर ध्यान नहीं दिया और उनकी भाषा पर विचार किया। 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर' - यह अभिव्यक्ति की प्रणाली पर बात की जा रही है, जो निस्संदेह भाषा है। जब द्विवेदी जी मूर्ख या मोटे दिमाग वालों के लिए लिखते थे और मोटी तरह से लिखते थे तो उन्होंने भाषा परिष्कार कैसे किया? जिस लेखक की भाषा की सतही समझ होगी, वह दूसरे लेखकों की भाषा को दुरुस्त कैसे करेगा? पुनः रामचन्द्र शुक्ल की बातों पर विचार करें-महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शाश्वत साहित्य या स्थायी साहित्य नहीं लिखा। उनका महत्त्व भाषा-सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है - मोटी अक्लवालों के लिए है। इस तरह की असंगत बातों से आचार्य शुक्ल का इतिहास भरा हुआ है। किसी आलोचक ने इसकी अब तक ढंग से समीक्षा भी नहीं लिखी है और यह हिन्दी साहित्य का अब तक श्रेष्ठ इतिहास बना हुआ है। हिन्दी के पाठक इसमें दिये हुए फतवों को आप्त वचनों की तरह याद करते रहते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-नवरत्न' की समीक्षा लिखते हुए लिखा है - 'इस तरह की बातें किसी इतिहसकार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्त्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास-लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द, वाक्य और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।'

सन् 1933 ई. में आचार्य द्विवेदी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया गया। इसकी प्रस्तावना श्यामसुन्दर दास एवं राय कृष्णदास के नाम से प्रकाशित हुई, किन्तु यह लिखा गया था नन्ददुलारे वाजपेयी के द्वारा। इसलिए यह 1940 ई. में प्रकाशित वाजपेयी जी की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं

शताब्दी' में संकलित है। इसमें यह विचार किया गया है कि स्थायी या शाश्वत साहित्य में द्विवेदी जी का साहित्य परिगणित हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिकोण से महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित सम्पूर्ण साहित्य को अयोग्य ठहरा दिया गया। सिर्फ उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' के अंकों को ही महत्त्व दिया गया।

1952 ई. में हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' नामक पुस्तक छपी। इसमें एक जगह वे लिखते हैं – 'पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के स्पष्टवादिता से भरे हुए और नयी प्रेरणा देने वाले निबन्ध यद्यपि बहुत गंभीर नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन्होंने गम्भीर साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता पहुँचाई।' अब सवाल यह उठता है कि यदि महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्ध गम्भीर नहीं हैं तो उन्होंने गम्भीर साहित्य के निर्माण में सहायता कैसे पहुँचाई?

ये तमाम बातें महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदान पर धूल डालने की कोशिश थी। किन्तु, ऐसे रचनाकार भी थे जो द्विवेदी जी के महत्त्व को रेखांकित कर रहे थे, उनमें प्रमुख थे – प्रेमचंद, निराला और पंत। मैथिलीशरण गुप्त तो उनके शिष्य थे ही। पंत ने 1931–32 में द्विवेदी जी पर दो कविताएँ लिखीं। सुमित्रानंदन पंत की कविता की चार पंक्तियाँ देखें –

आर्य, आपके मन:स्वप्न को ले पलकों पर
भावी चिर साकार कर सके रूप–रंग भर,
दिशि–दिशि की अनुभूति, ज्ञान–विज्ञान निरंतर
उसे उठावें युग–युग के सुख–दुख अनश्वर

1933 ई. में प्रेमचंद ने 'हंस' का द्विवेदी जी पर विशेषांक निकाला। वह भी अप्रैल एवं मई के दो अंकों में। अप्रैल, 1933 के 'हंस' की सम्पादकीय में प्रेमचंद लिखते हैं – 'आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं के बनाए हुए हैं। यदि पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी न होते तो बेचारी हिन्दी कोसों पीछे होती – समुन्नति की इस सीमा तक आने का उसे अवसर ही नहीं मिलता। उन्होंने हमारे लिए पथ भी बनाया और पथ–प्रदर्शक का काम भी किया।'

यह था आचार्य द्विवेदी का ऐतिहासिक योगदान। इसी क्रम में आगे प्रेमचंद द्विवेदी जी का शब्द–चित्र इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं – 'द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली है। मुखमण्डल पर दृष्टि डालते ही यह बात स्पष्ट

मालूम हो जाती है कि उनमें रचनात्मकता कूट-कूट कर भरी हुई है, वे सच्चे युग-प्रवर्त्तक हैं, उनमें क्रांति ले आने की विलक्षण क्षमता है। उन्नत ललाट, घनी भौंहें, रौबदार मूँछें, रसभरी गंभीर आँखें और जलद-गंभीर वाणी - उनकी विशिष्टता ज्ञापित करती है और देखने से ऐसा मालूम पड़ता है मानो किसी ऐसे व्यक्ति के पास हैं जो हमारे लिए हमारे बीच भेजा गया है - जो सब तरह से हमारा ही है। ...हमारे लिए उन्होंने वह तपस्या की है, जो हिन्दी साहित्य की दुनिया में बेजोड़ ही कही जाएगी। किसी ने हमारे लिए इतना नहीं किया, जितना उन्होंने। वे हिन्दी के सरल सुन्दर रूप के विधायक बने, हिन्दी साहित्य में विश्व-साहित्य के उत्तमोत्तम उपकरणों का उन्होंने समावेश किया, दर्जनों कवि, लेखक और संपादक बनाये। जिसमें कुछ प्रतिभा देखी उसी को अपना लिया और उसके द्वारा मातृभाषा की सच्ची सेवा कराई। हिन्दी के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सब कुछ अर्पित कर दिया। हमारी उपस्थित उपलब्धि उन्हीं के त्याग का परिणाम है।'

मई, 1933 के 'हंस' की सम्पादकीय पुनः प्रेमचंद ने आचार्य द्विवेदी पर लिखा एवं उनके महत्त्व को सही ढंग से प्रतिपादित किया। वे कहते हैं - 'द्विवेदी जी का जीवन - साहित्य, साधना और तप का जीवन है। ....साहित्य की लगन का कितना ऊँचा आदर्श है। कहाँ से क्या लें और उसे किस तरह अच्छे-से-अच्छे रूप में संसार को दें, यही धुन है। जनहित का कोई अंग उनसे नहीं छूटा। जहाँ कोई उपयोगी चीज देखी, चाहे वह पुरातत्त्व से संबंध रखती हो, या दर्शन से, या भाषा-विज्ञान से, या प्राकृतिक दृश्यों से, उसे पाठकों के लिए संकलन करना उनका कर्त्तव्य था। वह जिस चीज को पढ़कर स्वयं आनंदित होते थे, उसका रस पाठकों को चखाना एक लाजिमी बात थी। 'सरस्वती' की फाइल उठाकर द्विवेदी जी की संपादकीय टिप्पणियाँ देखिए, विविध ज्ञान का भंडार है। ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर द्विवेदी जी ने न लिखा हो, गहरे से गहरे तात्त्विक विवेचन और साधारण-से-साधारण दंतकथाएँ तक आपको उनमें मिलेंगी, और आप उस व्यक्ति के ज्ञान-विस्तार पर चकित हो जाएँगे। और यह काम किसी विद्या और ज्ञान के केन्द्र में बैठकर नहीं, एक गाँव की एकांत कुटिया में होता था। साहित्य की वह छटा उसी कुटिया से निकलकर, हिन्दी-संसार को आलोकित कर देती थी।'

'सरस्वती' पत्रिका इलाहाबाद के इंडियन प्रेस से छपती थी, किन्तु द्विवेदी जी कानपुर के निकट के एक गाँव जूही में रहकर उसका सम्पादन करते थे। वे

खपड़ैल मकान में रहते थे। प्रेमचन्द ने जिस कुटिया का उल्लेख किया है, वह यही है। अब जूही कानपुर शहर का एक मुहल्ला हो गया है। प्रेमचन्द ने द्विवेदी जी के महत्त्व को सही रूप में प्रतिपादित किया है। उनका महत्त्व ज्ञान-विज्ञान का प्रसार कर हिन्दी जनता में जागृति लाने को लेकर था। बाद में रामविलास शर्मा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' नामक पुस्तक लिखकर द्विवेदी जी के ऐतिहासिक योगदान को उसी रूप में व्याख्यायित किया, जिसे प्रेमचन्द उसी वक्त पहचान रहे थे। वे शाश्वत साहित्य या कलात्मक साहित्य की दृष्टि से द्विवेदी जी के साहित्य को नहीं देख रहे थे।

मई, 1933 ई. में ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन और इंडियन प्रेस के सहयोग से इलाहाबाद के लेखकों ने इलाहाबाद में 'द्विवेदी-मेला' का आयोजन किया था। इसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी को सम्मानित करने पूरा हिन्दी जगत उमड़ पड़ा था। कहते हैं, इतना बड़ा लेखकों का जमावड़ा पहली बार इस अवसर पर हुआ। इसके केन्द्र में द्विवेदी जी थे। वे हिन्दी लेखकों के परम आदरणीय ऐतिहासिक पुरुष की तरह उपस्थित थे। निराला ने 'सुधा' के जुलाई, 1933 के अंक में 'आचार्य अमर हों!' नामक टिप्पणी में उनका जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है, वह बेहद जीवंत और यथार्थ है - 'उस दिन उनका प्रयाग में, कैसा अभूतपूर्व स्वागत हुआ था! देश के कोने-कोने से राष्ट्रभाषा के पुजारी, अपने इष्टदेव के चरणों में श्रद्धा के स्नेहमय फूल चढ़ाने के लिए - उनकी एक झलक से अपने जीवन को सफल बनाने के लिए - उमड़ पड़े थे। वह उस दिन कैसा भव्य लगते थे! कभी उनके मुखमण्डल पर वृहस्पति का पाण्डित्य प्रतिबिम्बित हो उठता था, तो कभी सरस्वती की प्रतिभा! सहस्त्रों साहित्यसेवियों के बीच में वह भोले-भाले, दम्भहीन, विनयशील महापुरुष हीरे की तरह चमक रहे थे। वह हिन्दी भाषा के प्रकाण्ड पंडित हैं। हिन्दी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ संपादक, समालोचक और लेखक हैं। हिन्दी भाषा कैसे लिखी जाती है, यह उन्होंने लिखकर दिखा दिया, पत्र का सम्पादन कैसे किया जाता है, यह उन्होंने स्वयं सम्पादन करके बता दिया, समालोचना क्या वस्तु है, यह उन्होंने अपनी समालोचनाओं द्वारा व्यक्त कर दिया। वह आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं। विधाता हैं। सर्वस्व हैं। वह राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उन्हें लोग आचार्य कहते हैं - वह सचमुच आचार्य हैं। आधुनिक हिन्दी की उन्नत्ति और विकास का अधिकांश श्रेय उन्हीं आचार्य को है। वह तो अपने को राष्ट्रभाषा के

विनम्र सेवक बतलाते हैं, राष्ट्रभाषा उन्हें अपना निर्माता कहकर पुकारती है। दोनों एक-दूसरे के अनन्य भक्त हैं, प्रगाढ़ प्रेमी हैं। हम दोनों ही के उपासक हैं। राष्ट्रभाषा हमें प्राणों से प्यारी है, आचार्य भी हमें उतने ही प्रिय हैं। वह इतने बड़े होकर भी हमसे कितने प्यार से बोलते हैं। वह इतने ऊँचे होकर भी हम तुच्छ साहित्य-सेवियों से किस स्नेह से मिलते हैं ! यह उनकी उदारता है, बड़प्पन है। वह हमें पथभ्रष्ट होते देख चुमकारकर, बड़े मधुर शब्दों में, चेतावनी देते हैं - कभी रौद्र-रूप धारण कर झिड़की नहीं देते। वह हमें गलती करते देख कटु शब्द नहीं कहते, वरन् बड़े प्यार से हमें सावधान करते तथा हमारी भूल संशोधन करते हैं। हिन्दी-संसार ने ऐसे असाधारण, असामान्य तथा अलौकिक व्यक्ति की जयन्ती मनाकर वास्तव में अपना आदर किया है। आचार्य सचमुच आदर तथा उपासना के पात्र हैं। वह चिरायु हों, अमर हों, हमारी परमेश्वर से यही प्रार्थना है।'

कहना न होगा कि रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी और हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचारों के बरक्स प्रेमचंद एवं निराला ने महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदान को, उनके अमर व्यक्तित्व की अमिट छाप को सही रूप में समझा और मूल्यांकित किया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले लेखक थे, जिन्होंने अपनी जातीय परम्परा का गहन अध्ययन ही सिर्फ नहीं किया था, उसे आलोचनात्मक दृष्टि से भी देखा था। उन्होंने वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत-साहित्य की निरन्तर प्रवाहमान धारा का अवगाहन किया था एवं उपयोगिता तथा कलात्मक योगदान के प्रति एक वैज्ञानिक नजरिया अपनाया था। जब द्विवेदी जी देखते हैं कि वेदों के प्रति हिन्दुओं में अन्धश्रद्धा बढ़ रही है, लोग वेदों का अध्ययन न कर इसे ईश्वरकृत मान सिर्फ पूजन-आराधन कर रहे हैं, तो वे क्षुब्ध होते हैं। उनके शब्द देखिए - 'वेद के विषय में हम हिन्दुओं की श्रद्धा कुछ इतनी बढ़ गई है कि वेदों को भगवान् की वाणी कहते-कहते हमने उन्हें खुद भगवान् ही बना डाला है। हम बहुधा अखबारों में पढ़ते हैं - अमुक शहर में 'वेद भगवान' की सवारी निकली। अमुख तारीख को 'वेदभगवान' का षोडशोपचारपूजन हुआ।'

उस समय क्या आज भी यह मान्यता बहुतेरे लोगों में मिलेगी कि 'वैदिक ऋषि मंत्र-द्रष्टा थे। उन्होंने योगबल से ईश्वर से प्रत्यादेश की तरह वैदिक मंत्र प्राप्त किये हैं।' द्विवेदी जी इस मान्यता का खण्डन करते हुए आगे लिखते हैं - 'यदि

यह बात है तो इन सूक्तों में इन ऋषियों की निज की दशा का वर्णन कैसे आया? ये मंत्र उनकी दशा के ज्ञापक कैसे हुए? ऋग्वेद का कोई ऋषि कुएँ में गिर जाने पर उसी के भीतर पड़े-पड़े स्वर्ग और पृथिवी आदि की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से कह रहा है, आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिए। कोई सविता से प्रार्थना कर रहा है कि हमारी बुद्धि को बढ़ाइए। कोई बहुत-सी गायें माँग रहा है, कोई बहुत-से पुत्र। कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल और दुन्दुभी पर मंत्र रचना कर रहा है। कोई नदियों को भला-बुरा कह रहा है कि ये हमें आगे बढ़ने में बाधा डालती हैं। कहीं माँस का उल्लेख है, कहीं सुरा का। कहीं द्यूत का। ऋग्वेद के सातवें मंडल में तो एक जगह एक ऋषि ने बड़ी दिल्लगी की है। सोमपान करने के अनन्तर वेद-पाठरत ब्राह्मणों की वेद-ध्वनि की उपमा आपने बरसाती मेंढकों से दी है। ये सब तों वेद के ईश्वर प्रणीत न होने की सूचक हैं। ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, कलत्र, दूध, दही माँगने की कोई जरूरत नहीं। यह ऋग्वेद की बात हुई। यजुर्वेद का भी प्राय: यही हाल है। सामवेद के मंत्र तो कुछ को छोड़ कर शेष सब ऋग्वेद ही से चुने गये हैं। रहा अथर्ववेद, सो यह तो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि मंत्रों से परिपूर्ण है। स्त्रियों को वश करने और जुएँ में जीतने तक के मंत्र ऋग्वेद में हैं। ...न ईश्वर जुआ खेलता है, न वह स्त्रैण ही है और न वह ऐसी बातें करने के लिए औरों को प्रेरित ही करता है। ये सब मनुष्यों ही के काम हैं, उन्होंने वेदों की रचना की है।'

यह था उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उन्मेष, जो हिन्दी-साहित्य में पहले-पहल महावीर प्रसाद द्विवेदी के चिन्तन एवं लेखन के द्वारा प्रस्फुटित हुआ था। पाठक द्विवेदी जी के उपरोक्त मंतव्य से यह न समझें कि वे वेदों को निरर्थक समझते थे। उनका स्पष्ट मत था कि वेद पूजा-पाठ करने की चीज नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रंथ हैं। वेदों का अध्ययन हमें अवश्य करना चाहिए और इस दृष्टिकोण से कि 'वैदिक समय में भारतवासियों की सामाजिक अवस्था कैसी थी, वे किस तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे, कहाँ रहते थे, क्या किया करते थे - इन सब बातों का पता यदि कहीं मिल सकता है तो वेदों ही में मिल सकता है।'

इस प्रकार द्विवेदी जी वेदों से संस्कृत-साहित्य की जो परंपरा या इतिहास है, उस पर गवेषणात्मक, विवेचनात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं। वे संस्कृत-साहित्य के महत्त्व पर विस्तार से विचार करते हुए बताते हैं कि

संस्कृत-साहित्य विस्तृत एवं विविध आयामी है। 1891 ई. तक कोई चालीस हजार संस्कृत-ग्रंथों की नामावली तैयार हो चुकी थी। फिर भी कितने ही ग्रंथों के नाम तो उसमें शामिल ही नहीं हो पाये थे। इस विपुल साहित्य के शोध और अवगाहन के फलस्वरूप ही प्राचीन भारत का इतिहास-लेखन संभव हो सका। किन्तु यह कार्य विदेशी विद्वानों ने किया था। भारत के संस्कृतज्ञ इन ग्रंथों के प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति रखते थे। वे देव-स्वरूप हो गये थे। वेदों को तो ईश्वरकृत माना ही जाता था, रामायण, महाभारत, पुराण तो श्रद्धेय ग्रंथ थे ही, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, श्रीहर्ष, दण्डी, बाणभट्ट आदि के ग्रंथों के प्रति भी यही भक्तिपरक अवधारणा थी। द्विवेदी जी ने इनकी ऐतिहासिकता को दृष्टि में रखकर तटस्थ विवेचन किया है और इनकी असंगतियों को भी दर्शाया है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमारे देश में इस तरह के विचारकों का अभाव था। हिन्दी में सिर्फ पांडेय रामावतार शर्मा ही ऐसे विचारक थे जो द्विवेदी जी के समानधर्मा थे। उन्होंने लिखा है -'इस बदले हुए जमाने में भी अभी तक पांडेय रामावतार शर्मा के सदृश कुछ ही स्वतंत्र स्वभाव के पंडित देख पड़ते हैं। स्वतंत्र स्वभाव से हमारा मतलब ऐसे स्वभाव वाले सज्जनों से है जो मन की बात, समाज की समझ के प्रतिकूल होने पर भी, नि:शंक कह डालने का साहस कर सकें।'

द्विवेदी जी ने 1899 ई. में श्रीहर्ष के महाकाव्य 'नैषधीयचरितम्' पर अपनी पहली आलोचनात्मक पुस्तक लिखी - 'नैषध-चरित-चर्चा'। यह हिन्दी में लिखी संस्कृत साहित्य पर पहली आलोचना-पुस्तक है। इसमें उन्होंने श्रीहर्ष के समय आदि का निरूपण करते हुए उनकी कविता का यथार्थ विवेचन किया है। इस विवेचन में श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उनकी कमजोरियों पर भी अँगुली रखी है। इस पुस्तक पर कई संस्कृतज्ञ विद्वानों ने प्रत्यालोचना लिखी। इनमें प्रमुख थे - माधव प्रसाद मिश्र। ये उस समय काशी से प्रकाशित 'सुदर्शन' मासिक पत्रिका के संपादक थे। इन्होंने जून, 1900 ई. के 'सुदर्शन' में 'नैषध-चरित-चर्चा' की लम्बी समीक्षा लिखी और महावीरप्रसाद द्विवेदी पर बहुत सारे आरोप लगाये। द्विवेदी जी ने उनके आरोपों के उत्तर एक लम्बा लेख लिखकर दिया, जो अक्टूबर, 1900 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। द्विवेदी जी का यह लेख संस्कृत-साहित्य के उनके गहन अध्ययन एवं संस्कृत-साहित्य के देशी-विदेशी विद्वानों के शोध-पूर्ण कार्यों का ब्यौरा देने वाला

है। फिर उन्होंने लगातार संस्कृत-साहित्य का अन्वेषण, विवेचन और मूल्यांकन किया। उन्होंने संस्कृत के कुछ महान् महाकाव्यों का औपन्यासिक रूप में हिन्दी में रूपान्तर भी किया, जिनमें रघुवंश, कुमार संभव, मेघदूत, किरातार्जुनीय प्रमुख हैं। श्रीहर्ष ने 'नैषधीय-चरितम्' में कुछ दिक्पालों और कलियुग को पात्र बनाया है। उन्हें कलियुग के वर्णन में कई दिलचस्प प्रसंग दिखाई पड़े, जिसे उन्होंने 'श्रीहर्ष का कलियुग' शीर्षक ललित निबन्ध में वर्णन किया है। द्विवेदी जी श्रीहर्ष के कलियुग-प्रसंग के द्वारा वैदिक रीति-रिवाज या मान्यताओं को कलियुग यानी आज के पूँजीवादी चरित्र के बरक्स खड़ा करते हैं। दोनों में वाद-विवाद, तर्क-वितर्क होते हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं - 'इस महाकवि की इस कलियुग-वर्णना से एक बात और भी बड़े मार्के की मालूम हो सकती है। वेदों में बहुत पुराने जमाने की कुछ रूढ़ियों का उल्लेख है। वे रूढ़ियाँ उस समय जायज़ थीं। जन-समुदाय उन्हें सुदृष्टि से देखता था। आजकल वे कुदृष्टि से देखी जाती हैं। इसी से आजकल के कुछ वेदज्ञ उनका अर्थ उस समय के समाज के अनुसार करके अपनी विद्वता और वेदज्ञता प्रकट करते हैं। पांडित्य और वेद-ज्ञान में वे शायद अपने को श्रीहर्ष से भी सौगुना समझते होंगे। .... श्रीहर्ष के वर्णन से हम यदि इतना ही जान सकें कि वे वेद के कुछ संशयास्पद स्थलों का क्या अर्थ समझते थे, तो पुराने वेद-व्याख्याताओं की संख्या में एक की और वृद्धि हो जाये।'

द्विवेदी जी वैदिक मान्यताओं का खण्डन करने एवं उनकी कुरीतियाँ दर्शाने के लिए ही कलियुग-प्रसंग की पुनर्रचना करते हैं। कलियुग के एक प्रतिनिधि के कुछ आक्षेप वैदिक देवताओं के समक्ष इस प्रकार रखे जाते हैं - 'आपके वेदों में लिखा है कि यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ज़रा बताइए तो सही, किसने-किसने यज्ञ करके स्वर्ग पाया है। वेदों में अगर लिखा हो कि पत्थर फेंकने से पानी पर तैरने लगते हैं तो क्या आप वेदों की इस उक्ति को सच मान लेंगे? नहीं, तो आपने स्वर्ग-प्राप्ति की बात कैसे सच मान ली? ..... आपके एक आचार्य वृहस्पति हो गये हैं। .... वे कहते हैं कि अग्निहोत्र, वेद-पाठ, तंत्रोक्त-क्रियाओं का साधन, त्रिपुण्ड धारण करना और ललाट पर त्रिपुण्ड लगाना उन लोगों के पेट पालने का साधन-मात्र है, जिनमें न अक्ल है, न पौरुष है और न खर्च करने के लिए जिनके पास एक छदाम ही है! फिर क्यों तुम लोग इन शुष्क आडम्बरों के पीछे पड़कर लोगों को ठग रहे हो?' फिर अगला तर्क है जाति-शुद्धि

एवं कुल की निष्कलंकता-विषयक। फिर उसी संदर्भ में आगे का तर्क - 'स्त्री-संसर्ग को भारी पाप समझा जाता है। तुम इन्द्र को अहल्या की याद दिला देना। जिस काम में तुम्हारे राजा का इतना उत्साह उससे तुम्हारी इतनी घृणा! तुम पूरे राज-विद्रोही हो। पीनलकोड में राज-विद्रोहियों के लिए कितनी कड़ी सज़ा का विधान है, यह बात किसी वकील से तो पूछ लेते।' फिर अगला तर्क सुनिए - 'तुम्हारे वेद कहते हैं, पाप करने से अगले जन्म में पाप और पुण्य करने से सुख होता है। पर इस जन्म में उसका उलटा प्रत्यक्ष देखना पड़ता है। अगम्यागमन से सुख होता है या नहीं? अरे, फिर क्यों प्रत्यक्ष प्रमाण को न मानकर जन्म-जन्मान्तर की न देखी हुई कपोल कल्पित बातों पर विश्वास करते हो? इसका कहीं ठिकाना है कि मरकर फिर जन्म होगा। .....यज्ञों में हिंसा क्यों करते हो ....हिंसा से पाप होता है या नहीं? वैदिक हिंसा से पाप नहीं होता, यह विचार क्या संदेह से खाली नहीं है?' फिर अगला आक्षेप - 'जिस तरह हो सके सुख-प्राप्ति की चेष्टा करो। .... श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन से मृत प्राणी की तृप्ति होती है - ये सब धूर्तों की बातें हैं। उनकी प्रतारणा के फंदे में पड़कर अपना सर्वनाश न करो। ... फूल को अगर तोड़ना ही है तो तोड़कर अपने सिर पर रक्खो - अपने ही ऊपर चढ़ाओ। पत्थरों पर क्यों उन्हें चढ़ाते फिरते हो? वाह री तुम्हारी मूर्तिपूजा! ... अरे मूर्खों, वेदों में और अधिक क्या रक्खा हुआ है? फिर उनपर इतनी श्रद्धा क्यों? ..... तुम लोग तो पशुओं से भी गये-बीते जान पड़ते हो, क्योंकि ब्रह्मा आदि देवताओं और व्यास आदि द्विजों के बनाये ग्रंथों पर तुम आँख मूँदकर विश्वास करते हो। उन्होंने लिख दिया है - 'गो प्रणमेत्' अर्थात् गाय को नमस्कार करना चाहिए। बस, तुम लगे पशुओं के सामने हाथ जोड़ने। अरे क्या तुम गाय, भैंस से भी तुच्छ हो जो किसी के कहने मात्र से उनको नमस्कार करने दौड़ते हो? क्यों तुम व्यर्थ दान देते फिरते हो? दान देने से लक्ष्मी प्रसन्न नहीं होती ....बलि ने सर्वस्व दान देकर क्या पाया? केवल बंधन! क्या तुम भी यही चाहते हो?' इस प्रकरण के अंत में यह संदेश : इन सब ढकोसलों को छोड़ो। 'श्रीहर्ष का कलियुग' का अंतिम प्रसंग कलियुग का निषध देश के भ्रमण का है, जहाँ वह वैदिक कर्मकाण्ड के नाम पर ऐसे-ऐसे घृणित और कुत्सित कर्म होते हुए देखता है कि उसके मन में यह विचार उठता है - यह क्रिया-काण्ड तो भाँडों का अकांडतांडव है। अश्वमेध-यज्ञ में, यजमान की पत्नी को, अश्व के प्रजोत्पादक अंग से, अपने अवयव-विशेष का

संस्पर्श कराना पड़ता है। ... जिन वेदों में इसतरह की बातें हैं उनका कर्ता ईश्वर कदापि नहीं हो सकता। हाँ, किसी भाँड ने उन्हें बनाया हो सकता है।

द्विवेदी जी श्रीहर्ष के कलियुग-प्रसंग का वर्णन कर वही अपनी पुरानी धारणा को दुहरा रहे थे - वेद ईश्वर निर्मित नहीं हैं। उनमें जो धर्म-कर्म, रीति-रिवाज, यज्ञ, देवी-देवता का चित्रण है, वह मात्र ऐतिहासिक दृष्टि से जानने-समझने के लिए - आचरण करने के लिए नहीं। जो लोग सनातन-धर्म की दुहाई वेदों को लेकर किया करते हैं, उन्हें वेदों के संबंध में द्विवेदी जी के किये गये विचारों को गहराई से समझना चाहिए। उनके इस तरह के क्रांतिकारी विचारों के कारण ही उन्हें नास्तिक कहा जाता था। अपने समय के संस्कृतज्ञ विद्वानों के इस आक्षेप का उत्तर वे 'कथऽहम् नास्तिक' शीर्षक संस्कृत भाषा में लिखी कविता में दे चुके थे। इसी संदर्भ में उनकी 'विधि-विडम्बना' कविता को भी पढ़ना चाहिए। वे तथाकथित देव-वाणी ही नहीं, ईश्वर की भी आलोचना करते हैं और अभिव्यक्ति के खतरे उठाते हैं। 'विधि-विडम्बना' कविता 'सरस्वती' के मई 1901 ई. में प्रकाशित हुई थी। यह कविता बह्मा या विधाता की आलोचना बड़े ही तीखे स्वर में करती है। इसके प्रारम्भ की ये पंक्तियाँ -

अति नीरस, अति कर्कश, अति कटु, वेद-वाक्य-विस्तार
क्षण भर तू समेटकर सुन निज अविचारों का सार।

आगे उन्होंने विधाता की विडम्बनाओं का मजाक उड़ाते हुए सृष्टि-रचना में हुई गड़बड़ियों को विनोद के लहजे में प्रस्तुत किया है -

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं,
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े-बड़े उग आते हैं?
घोर घमंडी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक?
चिह्न देख जिसमें सब उनको पहचानते निःशंक।
दुराचारियों को तू प्रायः धर्माचार्य बनाता है,
कुत्सित-कर्म-कुशल कुटिलों को अक्षरज्ञ उपजाता है।
मूर्ख धनी, विद्वतजन निर्धन, उलटा सभी प्रकार!
तेरी चतुराई को ब्रह्मा! बार-बार धिक्कार!!
शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनका नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर से नए-नए अखबार!

इस कविता में पहले वेद जो नीरस, कर्कश, कटु हैं, उन्हें समेटकर ब्रह्मा को अपने अविचारों का सार सुनाने का आग्रह किया गया है और ब्रह्मा या विधाता की बनाई सृष्टि का मजाक उड़ाया गया है। जो धर्माचारी हैं, प्रायः वे दुराचारी हैं। अक्षरज्ञ यानी शिक्षित जन कुटिल होते हैं और गंदे कामों में लिप्त रहते हैं। अखबार निकालने वालों को सही भाषा-ज्ञान तक नहीं होता। धनी लोग मूर्ख और विद्वान् लोग निर्धन होते हैं। ऐसी बातें लिखने वाले का विरोध तो होगा ही। और उसपर ब्रह्मा तक को धिक्कार!

द्विवेदी जी को इसीलिए नास्तिक कहा जाता था और वह भी उनके प्रारंभिक साहित्यिक जीवन के समय ही। द्विवेदी जी की कविताओं में भी एक तीखा आलोचनात्मक स्वर जगह-जगह दिखलाई पड़ता है। उनकी अगस्त, 1901 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'ग्रंथकार-लक्षण' कविता में उस समय के लेखकों का भरपूर मजाक उड़ाया गया है -

शब्द-शास्त्र है किसका नाम?
इस झगड़े से जिसे न काम,
नहीं विराम-चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता है।
इधर-उधर से जोड़-बटोर,
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़,
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं।
अपनी पुस्तक की सानन्द
स्वयं समीक्षा लिख स्वच्छन्द,
अन्य नाम से अखबारों में जो शतबार छपाते हैं
निज मुख से जो गुण विस्तार
करते सदा पुकार-पुकार,
ग्रंथकार-पद-योग्य सर्वथा वे ही समझे जाते हैं।
किसी समालोचक के द्वार
सिर घिस-घिसकर बारम्बार
निज पुस्तक की समालोचना जो सविनय लिखवाते हैं।

द्विवेदी जी के अनुसार सही भाषा लिखनी तक नहीं आती और इधर-उधर से जोड़-बटोर कर यानी सामग्री जुटा कर लोग लेखक बन जाते हैं। उनकी

पुस्तक को कोई पूछने वाला जब नहीं होता तो वे अपनी पुस्तक की स्वयं समीक्षा लिखकर छद्म नामों से अखबारों में छपा लेते हैं। वे अपनी प्रशंसा स्वयं ही किया करते हैं। वे ऐसे लेखक हैं जो किसी आलोचक की दहलीज पर सिर रगड़कर अपनी पुस्तक की आलोचना लिखवाते हैं।

ऐसा अदम्य साहस, निष्ठा, तर्कशीलता, विवेकशीलता और जोखिम महावीर प्रसाद द्विवेदी में कूट-कूट कर भरा था। और इस चेतना और चिंतन का प्रसार उन्होंने हिन्दी प्रदेशों में किया। आजादी के पूर्व के जितने हिन्दी साहित्यकार हैं, प्राय: उन सभी में द्विवेदी जी के विद्रोही रूप का प्रभाव पड़ा। उनके बाद की पीढ़ी उनकी तरह ही ऐसे विद्रोही विचारों की पैदा हुई, जिसने प्रचलित मान्यताओं एवं धारणाओं की धज्जी उड़ाते हुए अपना महान् रचना-कार्य किया। प्रेमचंद, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, राहुल सांस्कृत्यायन, शिवपूजन सहाय, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, उग्र, पंत, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि बड़े साहित्यक व्यक्तित्वों को यदि गहराई से देखें तो द्विवेदी जी की छाप उनपर दिखाई पड़ेगी।

द्विवेदी जी अपने अन्य समकालीन कवियों की तरह प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविताएँ लिखते थे। जिस ब्रजभाषा में श्रृंगार और भक्ति की कविताओं की एक समृद्ध परम्परा रही है, उसमें उन्होंने पहले-पहल यथार्थवादी कविताएँ लिखीं। 'भारत-दुर्भिक्ष' (1897) एवं 'त्राहि! नाथ!! त्राहि!!!' (1897) ऐसी ही कविताएँ हैं। इन कविताओं में जीवन-यथार्थ का दारुण चित्रण हुआ है -

गली-गली कंगाल पेट पर हाथ दोऊ धरि धावैं,
अन्न-अन्न पानी-पानी कहि शोर प्रचण्ड मचावैं।
बालक, युवा, जरठ, नारी, नर भूख-भूख कहि गावैं,
अविरल अश्रुधार आँखिन ते बारंबार बहावैं।

अब इस तरह के चित्रण का निराला की 'भिक्षुक' आदि कविताओं से मिलान कर देखिए। इसी क्रम में आगे की पंक्तियाँ -

मिलै घास भूसा नहि ढूँढ़े मूसा घर तजि भागे
रुपिया अश्व, अठन्नी महिष, बैल चवन्नी लागे।

द्विवेजी जी की खड़ी बोली हिन्दी में लिखी पहली कविता है - 'प्लेगस्तवराज'। यह गद्य में लिखी हुई हिन्दी की भी पहली कविता है। यह बेहद आश्चर्य का विषय है कि द्विवेदी जी खड़ी बोली हिन्दी में जो पहली कविता

लिखते हैं, वह गद्य में और उसे कविता मानते हुए अपने कविता-संग्रह 'काव्य-मंजूषा' में स्थान भी देते हैं। इस कविता को बालमुकुन्द गुप्त ने 19 मार्च, 1900 ई. के 'भारत मित्र' में प्रकाशित किया था। गुप्त जी को यह बहुत पसंद भी था। उन्होंने लिखा है - 'जितने लेख आपने 'भारत मित्र' में लिखे उन सबमें यही हमें पसंद आया और इसी की बाहर से भी प्रशंसा हुई।' यानी 'प्लेगस्तवराज' कविता को उस समय काफी ख्याति मिली थी। इस कविता का विषय तो शीर्षक से ही स्पष्ट है। अब सवाल यह उठता है कि प्लेग नामक महामारी का स्तवन क्यों किया गया? स्तोत्र-काव्य की संस्कृत में एक लम्बी परम्परा है। स्वयं द्विवेदी जी ने स्तोत्र-काव्य लिखे थे। पर यह किस प्रकार का स्तोत्र-काव्य है? प्लेग की महिमा एवं उसके गुणों का गान करने से भाषा में एक विशेष प्रकार की भंगिमा पैदा हो गयी है, जिसका दर्शन हिन्दी में पहली बार इस कविता में दिखलाई पड़ता है। प्लेग की स्तुति करते हुए कहीं-कहीं अंग्रेजी राज की छवि उजागर होने लगती है, वह क्या अनायास है? ये पंक्तियाँ देखिए - 'आप रसिकों के शहनशाह हैं। महामारी का अस्पताल आपकी राजधानी है। पुलिस और पल्टन के गोरे आपके पताकाधारी नक़ीब हैं। डॉक्टर आपके पार्षद हैं। सेग्रिगेशन कैम्प आपका क्रीड़ाकानन है। वहीं आप और आपके आश्रित लोग नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते हैं। .... ' (यहाँ अरबी शब्द 'नक़ीब' का प्रयोग द्विवेदी जी ने किया है, जिसका अर्थ है - वह व्यक्ति जो किसी राजा-महाराजा की सवारी के समय आगे-आगे आवाज़ लगाते चलता है।) यह कविता संस्कृत से शुरू होती है और संस्कृत में ही समाप्त। बीच में हिन्दी रूप है। भारत में अंग्रेजीराज के स्थापित होने के बाद अकाल और महामारी पूरे हिन्दुस्तान में बहुत अधिक बढ़ गया था। इसके फलस्वरूप 19वीं शताब्दी में ही पचास लाख से अधिक भारतीय मर गये थे। द्विवेदी की 'भारत दुर्भिक्ष,' 'त्राहि ! नाथ !! त्राहि !!!' तथा 'प्लेगस्तवराज' कविताओं में अकालपीड़ित और महामारी ग्रस्त वैसे ही हिन्दुस्तान का यथार्थ चित्रण है। अंग्रेजी राज में सामान्य भारतीय जनता लगातार भूख और कुपोषण का शिकार हो रही थी। उसकी दरिद्रता के पीछे यह कारण था -

धड़ाधड़ धार रुपयों की बही है
विलायत ओर सीधी जा रही है

ये पंक्तियाँ 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' कविता की हैं, जो 'सरस्वती' के

जुलाई, 1903 ई. के अंक में प्रकाशित हुई थीं। इसमें द्विवेदी जी बताते हैं कि असगर, विसेसर और काली जैसे श्रमजीवी इसलिए मर रहे हैं क्योंकि ग्रांट, ग्राहम और राली जैसे अंग्रेज अपना घर भर रहे हैं –

महा अन्याय हा हा हो रहा है!
कहें क्या कुछ नहीं जाता कहा है।
मरें असगर, विसेसर और काली,
भरे घर, ग्रांट, ग्राहम और राली।

द्विवेदी जी की साम्राज्यवादी विरोधी चेतना यहाँ मुखर रूप में प्रकट हुई है, जबकि 'प्लेगस्तवराज' में यह चेतना मौन रूप में विद्यमान है।

द्विवेदी जी ने बाल कविताएँ भी लिखी हैं। इन कविताओं की भाषा सहज और सरल है। ऐसी ही एक कविता है–'प्यारा वतन'। इसकी कुछ पंक्तियाँ देखें –

'कच्चा घर जो छोटा सा था
पक्के महलों से अच्छा था
पेड़ नीम का दरवाजे पर,
सायबान से था वह बेहतर
सब्ज खेत जो लहराते थे
दिल को वे कैसे भाते थे
फर्श मखमली जो बिछते हैं
नहीं मुझे अच्छे लगते हैं।'

प्राय: द्विवेदी-युग की कविताओं को इतिवृत्तात्मक कहकर विद्वानों ने चलता कर दिया है। ऐसे विद्वानों ने यह नहीं गौर किया कि ये आधुनिक युग के प्रारम्भिक चरण की कविताएँ हैं और आगे की कविता के प्राय: कई तत्त्व इनमें विद्यमान हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने छायावादी कवियों, और खासकर निराला की कविता के वे स्रोत ढूँढ़ निकाले हैं, जो द्विवेदी जी के यहाँ मूल रूप से विद्यमान हैं। परवर्ती आलोचकों में डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव भी इस बात को स्थापित करते हुए लिखते हैं – 'साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित धारणा यह है कि द्विवेदी-युग की स्थूल इतिवृतात्मक कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में 'छायावाद' नामक सूक्ष्म लाक्षणिक काव्य-प्रवृत्ति का उदय हुआ। इस धारणा में आंशिक सच्चाई हो सकती है, पर महत्त्वपूर्ण वास्तविकता यह है कि छायावाद एक नहीं है, उसके

अनेक रूप हैं। एक छायावाद नये प्रकार के यथार्थवाद का समर्थक है, जिसे द्विवेदी युगीन देसी स्वच्छन्दतावाद और सांस्कृतिक नवजागरण से सम्बद्ध करके देखा जा सकता है। .... अंग्रेजी राज, जमींदारी प्रथा, किसान आन्दोलन जैसे विषयों पर लिखते हुए निराला उसी नवजागरण के पोषक जान पड़ते हैं, जिसे महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने लेखन के द्वारा प्रतिपादित किया था।'

द्विवेदी जी की कविताओं का ऐतिहासिक महत्त्व है। बीसवीं शताब्दी की कविता की भित्ति इन कविताओं की नींव पर ही खड़ी हुई है। उनकी कविताओं से उनकी मन:स्थितियाँ, विचारधारा एवं भावधारा का भी पता चलता है। उन्होंने आधुनिक कविता को न केवल ब्रजभाषा से मुक्त किया, वरन् शृंगार, अलंकार, समस्यापूर्ति और नायिका-भेद की पुरानी परिपाटी को ध्वस्त कर आधुनिक कविता के निर्माण के लिए एक साफ-सुथरे यथार्थवादी एवं प्रगतिशील रास्ते का निर्माण किया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक भावबोध की कविताएँ लिखने के साथ ही अपने वैचारिक निबन्धों के द्वारा आधुनिक युग की कविता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की थी। इस सन्दर्भ का उनका पहला वैचारिक निबन्ध 'कवि-कर्त्तव्य' जुलाई, 1901 की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। वे इस निबन्ध में कविता के छन्द, भाषा, अर्थ और विषय पर विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका पहला और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। कविता का लक्षण जहाँ कहीं पाया जाये, चाहे पद्य में, चाहे गद्य में, वहीं कविता है। फिर वे हिन्दी के कवियों से नये-नये छंदों को अपनाने का आग्रह करते हैं। जिन छंदों में पहले ही विपुल कविताएँ हो चुकीं, उनके अलावा संस्कृत और उर्दू में भी कई लोकप्रिय छंद हैं, जिन्हें हिन्दी के कवियों को अपनाना चाहिए। वे हिन्दी कवियों से तुकों के बन्धन को छोड़ने का भी आग्रह करते हैं। वे कविता की भाषा सरल, बोधगम्य और बातचीत के स्तर पर रखने की सलाह देते हैं। वे कहते हैं कि गद्य और पद्य की भाषा भी एक ही होनी चाहिए। तात्पर्य यह कि कविता की भाषा अब ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली होनी चाहिए। वे कविता के भाव या अर्थ के संदर्भ में कहते हैं कि अर्थ-सौरस्य ही कविता का प्राण है। यदि यह है तो छंद-अलंकार के बिना भी कविता की सार्थकता है। वे कविता के दो प्रमुख उद्देश्य स्वीकार करते हैं - मनोरंजन और

उपदेश। कविता में कोई न कोई संदेश अवश्य होना चाहिए, जिससे समाज को आवश्यक दिशा-निर्देश मिले एवं उसे पढ़ते हुए आनंद या मनोरंजन भी हो। 'कवि-कर्त्तव्य' का दूसरा भाग जनवरी, 1911 ई. की 'सरस्वती' में 'कवि का कर्त्तव्य' शीर्षक से 'विद्यानाथ' छद्मनाम से प्रकाशित हुआ था। इसमें भी वे कहते हैं - 'कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कविता के लिए कविता करना एक तमाशा है।' इस तरह वे 'कला कला के लिए' सिद्धांत को खारिज करते हैं। फिर वे कविता को ग्रहण करने के लिए 'सहृदय' की बात करते हैं। हिन्दी के कवियों का उल्लेख वे इन शब्दों में करते हैं - 'कवि भी 'धर्म-संस्थापनार्थाय' उत्पन्न होते हैं। उनका काम केवल तुक मिलाना या 'पावस पचासा' लिखना ही नहीं। तुलसीदास ने कवि होकर वैष्णव धर्म की स्थापना की है, मत-मतान्तरों का भेद मिटाया है और 'ज्ञान के पंथ को कृपाण की धार' बताया है। प्राय: उसी प्रकार का काम, दूसरे रूप में सूरदास, कबीर और लल्लूलाल ने किया है। हरिश्चन्द्र ने शूरता, स्वदेश-भक्ति और सत्य, प्रेम का धर्म चलाया है। ..... हिन्दी के जितने प्रसिद्ध कवि हैं उन्होंने देश, काल, अवस्था और पात्र के अनुसार ही कविता की है।

दिसम्बर, 1903 की 'सरस्वती' में उनका 'कविता' शीर्षक निबन्ध छपा। इसमें वे कविता को और गहराई से समझने का प्रयत्न करते हैं -'अंत:करण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात् मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। वही कविता है। चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक।' आगे वे 'रामचरितमानस' एवं श्रीधर पाठक के 'एकांतवासी योगी' की पंक्तियों का उदाहरण लेकर अपनी बातों को आगे बढ़ाते हैं। वे कहते हैं - 'अन्त:करण में रस उत्पन्न करके, और थोड़ी देर के लिए और बातों को भुलाकर, उदार विचारों में मन को लीन कर देना ही कविता का सच्चा पर्यवसान है। कविता द्वारा यह भासित होना चाहिए कि जो बात हो गई है वह अभी हो रही है, और जो दूर है वह बहुत निकट दिखलाई देती है।' इस लेख के अंत में वे कविता की विशेषताएँ बताते हुए कहते हैं कि कविता में विश्रांति मिलती है। वह एक प्रकार का विराम-स्थान है। उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है। चक्की पीसते समय स्त्रियाँ, काम करने में मजदूर

आदि परिश्रम कम होने के लिए, गीत गाते हैं। जैसे मनुष्यों के लिए गाने की जरूरत है, वैसे ही देश के लिए कविता की जरूरत है। प्रतिदिन नये-नये गीत बनते हैं और सब कहीं गाये जाते हैं। इसी नियमानुसार देश में समय-समय पर नयी-नयी कविताएँ हुआ करती हैं।

यहाँ द्विवेदी जी 'नयी कविता' का प्रयोग कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि हर समय कविताओं में नवीनता की उद्भावना आवश्यक है। कविता में रूप और वस्तु के स्तर पर परिवर्तन होते रहता है। एक समय की कविता अपनी पूर्ववर्ती कविता से नवीन होती है। यह नवीनता समय और जीवन के बदल जाने की द्योतक होती है। यहाँ आकर कविता का रूप काफी परिवर्तित हो जाता है। 'कवि और कविता' निबन्ध में वे बताते हैं कि कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं, यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं यह कविता ही नहीं है। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो 'छन्दोदिवाकर' में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे अब तक कविता कहते आये हैं, वहीं उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव-काँव! इसी लेख में आगे वे स्थापित करते हैं कि कविता और पद्य में अन्तर होता है। 'किसी प्रभावोत्पादक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। कवि का सबसे बड़ा गुण नयी-नयी बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना की बड़ी जरूरत है। जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाये कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है। आगे वे बताते हैं कि कवियों को प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखना चाहिए।' जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

द्विवेदी जी ने 'कविता' शीर्षक निबन्ध में यह उल्लेख किया है कि देश में जैसे-जैसे सुधार अधिक होता है और विद्या-बुद्धि बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे कविता-शक्ति कम होती जाती है। रामचन्द्र शुक्ल ने इस बात को कुछ शब्द बदल कर रखा है कि सभ्यता के विकास के साथ कवि-कर्म मुश्किल होता जाता है।

परन्तु द्विवेदी जी ने आगे चलकर इस मत का संशोधन किया है। उन्होंने कविता पर सबसे महत्त्वपूर्ण विचार 'कविता का भविष्य' निबन्ध में प्रस्तुत किया है, जो सितम्बर, 1920 की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इस निबन्ध में भारतीय एवं यूरोपीय कविता की परम्परा का उल्लेख करते हुए वे बताते हैं कि जीवन की किन परिस्थितियों में एक खास प्रकार की कविता का जन्म होता है। समय के परिवर्तन के साथ कविता के भावों, विचारों और ढाँचों में भी अन्तर होता जाता है। भाषा की उन्नति के साथ-साथ कविता की भी उन्नत्ति होती है। विज्ञान के विकास से कला का ह्रास नहीं, प्रत्युत वृद्धि होती है। परन्तु कविता का सत्य विज्ञान या दर्शन का सत्य नहीं है और न उसमें वह सत्य है, जो किसी धर्म या मत विशेष से स्पष्ट किया जाता है। इसमें सत्य का प्रकाश कुछ दूसरी ही रीति से होता है।

पहले द्विवेदी जी मानते थे कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन और शिक्षा देना है। परन्तु इस निबन्ध में वे अपने पुराने मत का संशोधन करते हुए कहते हैं, 'कवि का काम न तो शिक्षा देना है, न दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करना है। उसके हृदय से वह ज्ञान उद्गत होना चाहिए, जिससे समस्त मानव-जाति की हृतंत्री में विश्व-वेदना का स्वर बज उठे।' यहाँ द्विवेदी जी मानो भावी स्वच्छंदतावादी या छायावादी कविता की पृष्ठभूमि तैयार करते-से लगते हैं। इस निबन्ध के अंत में वे भावी कविता के स्वरूप पर विचार करते हैं। वे कहते हैं कि जब भावों की वृद्धि होती है तब भाषा में रूपान्तर होता है। जब कोई भाषा भाव ग्रहण करने में असमर्थ होती है, तब उसका अन्त हो जाता है और उसका आसन दूसरी भाषा ले लेती है। यही कारण है कि भाषा एक-सी कभी नहीं रहती।

यहाँ द्विवेदी जी का आशय भाषा के स्वरूप से है। यानी हर युग की कविता एक नये प्रकार का शब्द-विन्यास, एक नयी अभिव्यंजना या सर्जना, अन्ततः एक नयी भाषा लेकर प्रकट होती है। 'प्राचीन काल में सभी कवि प्रकृति की देदीप्यमान शक्तियों का गान करते हैं। इसके बाद कवि वीरों का यशोगान करते हैं। इसके बाद नाटकों की सृष्टि होती है, फिर श्रृंगार-रस पर काव्य-रचना होती है, भाषा का माधुर्य बढ़ता है, अलंकारों की ध्वनि सुन पड़ती है और पद-नैपुण्य प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सांसारिक विषयों से घृणा होती है। भक्ति के उन्मेष में कोई प्रकृति का आश्रय लेता है, कोई प्राचीन आदर्शों का।' यह है कविता की प्राचीन परम्परा। इसके बाद कविता के भावी स्वरूप पर वे प्रकाश

डालते हैं। 'बाह्य प्रकृति के बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत की ओर दृष्टिपात करता है। तब साहित्य में कविता का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य 'मनुष्य' हो जाता है। संसार से दृष्टि हटा कर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है। तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सान्त (सअन्त) में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिण्ड में असीम ज्योति का आभास पाता है।' यह है छायावादी कविता की विशेषता, जो उस वक्त शुरू ही हुई थी।

इस निबन्ध के अंत में भावी यथार्थवादी एवं प्रगतिशील कविता का सौंदर्यशास्त्र प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं -'अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखाने से निकले हुए मैले मजदूर को अपने काव्य का नायक बनाना नहीं चाहता था। वह राजस्तुति, वीरगाथा अथवा प्रकृति-वर्णन में लीन रहता था। परन्तु अब वह क्षुद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत् का रहस्य सबको विदित होगा। जगत् का रहस्य क्या है, इस पर एक ने कहा है कि असाधारण में यह रहस्य नहीं है। जो साधारण है वही रहस्यमय है, वही अनन्त सौंदर्य से युक्त है। इसी सौंदर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य-कवियों का काम होगा।' यहाँ द्विवेदी जी ने 'साधारण के सौंदर्य' के उद्घाटन की जो बात कही है, वह उनके समय से बहुत आगे की बात है। द्विवेदी जी की इस स्थापना का स्रोत स्वयं उनका जीवन है। वे जहाँ एक ओर अपने समय में अपने विचारों के द्वारा एक युगान्तर उपस्थित कर हिन्दी भाषी क्षेत्र की जनता में नवजागरण की शुरुआत कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर किसानों के जीवन से घनिष्ठ रूप में जुड़े हुए थे। 'सरस्वती' के सम्पादन से अवकाश लेने के बाद उन्होंने अपने इलाके में ग्राम-पंचायत की स्थापना की थी और उसके सरपंच के रूप में किसानों की समस्याओं से गहराई से जुड़े रहे।

'कविता का भविष्य' निबन्ध में भक्तिकाव्य के अभ्युदय के सन्दर्भ में जो स्थापना द्विवेदी जी ने की है, उसी को रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में शब्द बदल कर रखा है। द्विवेदी जी के शब्द हैं - 'क्षीण शक्ति और राजनीतिक स्वत्व से हीन हिन्दू भगवान का आश्रय खोजे और भक्तिरस के काव्यों में तल्लीन हो जाये तो आश्यर्च नहीं।' अब रामचन्द्र शुक्ल के शब्द देखें - 'देश में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव-गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। ... इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से

हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?' हालाँकि इस स्थापना का खण्डन कई इतिहासकार कर चुके हैं। पर यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह स्थापना द्विवेदी 1920 में कर रहे थे, जिसे 1929 के इतिहास में शुक्ल जी दुहरा रहे थे।

द्विवेदी जी के बहुत सारे विचार और काम आज भले ही अप्रासंगिक लग सकते हैं, परन्तु उनके समय में वे कितने क्रांतिकारी थे, यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में गहरे उतरने वाले ही समझ सकते हैं। उनका एक प्रारम्भिक निबन्ध है –'नायिका भेद', जो 'सरस्वती' के जून, 1901 ई. के अंक में छपा था। इसमें वे बताते हैं, 'राज्याश्रय मिलने की देरी, राजाओं को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनन्द चखाने के लिए कविजी की देरी नहीं। दस वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर पचास वर्ष की प्रौढ़ा तक सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतलाकर और उनके हाव-भाव, विलास आदि की सारी दिनचर्या वर्णन करके कविजन संतोष नहीं करते थे। दुराचार में सुकरता के लिए दूती कैसी होनी चाहिए, मालिन, नाइन, धोबिन में से इस काम के लिए कौन सबसे प्रवीण होती है, इन बातों का भी वे निर्णय करते थे। नायक के सहायक बिट और चेटक आदि का वर्णन करने में भी वे नहीं चूकते थे। इस प्रकार की पुस्तकों अथवा कविताओं का बनना अभी बन्द नहीं, वे बराबर बनती जाती हैं।'

द्विवेदी जी के समय की कविता की एक स्थिति तो यह थी, दूसरी समस्यापूर्ति की थी। उनके समय में ही उर्दू वालों की नकल पर कवि-सम्मेलनों की शुरुआत हो चुकी थी, जिससे कविता की पतनशीलता और बढ़ गयी। जनवरी, 1926 ई. में कविकिंकर नाम से महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में 'कवि-सम्मेलन' शीर्षक एक लेख लिखा। इसके प्रारम्भ में वे महान् कवियों की विशेषता बताते हुए कहते हैं, 'प्रकृत कवि क्या नहीं कर सकता? वह रोते हुओं को हँसा सकता है, सोते हुओं को जगा सकता है, देशद्रोहियों को देशभक्त बना सकता है और मार्ग-भ्रष्टों को सुमार्ग में ला सकता है।' लेकिन इसके उलट बहुत सारे या बहुतायत में कवि थे जो समस्यापूर्ति, नायिका-भेद एवं शृंगारिकता की धारा बहा रहे थे और ऐसी कविताएँ कवि-सम्मेलनों का आधार थीं। द्विवेदी जी कहते हैं, 'अब उर्दू कवियों और मुशायरों की देखा-देखी हिन्दी के भी कवियों के खूब सम्मेलन हो रहे हैं और समस्या-पूर्तियों का तूफान-सा आ रहा है।'

इन कवि-सम्मेलनों में एक प्रवृत्ति और जोर मारती हुए फिर से दिखाई पड़ने लगी थी और वह थी ब्रजभाषा की रीतिवादी कविता की पुनर्स्थापना। वे इस पर प्रहार करते हुए कहते हैं, 'ब्रजभाषा की कविता के पक्षपातियों को जानना चाहिए कि अब उसका समय गया। उसका तिरोभाव अवश्यंभावी है। अब वह पुरानी प्राकृत भाषाओं के काव्य और साहित्य की तरह केवल पुस्तकों में ही पायी जायेगी। समय को उसकी चाह नहीं। यह बात हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं।' द्विवेदी जी के समय में ही कवियों में दलबन्दी शुरू हो गयी थी। ऐसे कवियों पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं, 'कवियों की दलबन्दी को विवेकशील जन निंद्य समझें, समझा करें। कुछ भी क्यों न हो जाये, पर कवियों की शान में फर्क न पड़े।' फिर वे भारत की राजनीतिक पार्टियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं, 'दलबन्दी भारत के भाग्य ही में लिख-सी गयी है। देखिए न, लिबरल, इंडिपेंडेंट, स्वराजिस्ट - सभी आपस में दलबन्दी कर रहे हैं। दल के भीतर दल पैदा हो रहे हैं। फिर कवि यदि अपने फिरके अलग-अलग बनावें तो क्या आश्चर्य?' आज हिन्दी के साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों में दलबन्दी की स्थिति चरम पर है। क्या इससे साहित्य और देश का भला हो सकता है? मई, 1927 ई. की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी का 'आजकल के हिन्दी-कवि और कविता' शीर्षक प्रसिद्ध निबन्ध सुकविकिंकर छद्म नाम से छपा था, जिसमें छायावाद के नाम से प्रचलित रहस्यवादी, नकली एवं छद्म कविता की आलोचना है।

द्विवेदी जी ने नाटक-विधा पर विस्तार से चर्चा अपने लम्बे निबन्ध 'नाट्य-शास्त्र' में किया है जो स्वतंत्र पुस्तक-रूप में प्रकाशित है। अक्टूबर, 1922 की 'सरस्वती' में उनका प्रसिद्ध निबन्ध 'उपन्यास-रहस्य' प्रकाशित हुआ। इसके द्वारा वे उस समय रचे जा रहे सस्ते और भद्दे उपन्यासों का तीखे शब्दों में विरोध करते हैं। कारण यह था कि उपन्यासों का विपुल प्रकाशन व्यावसायिक मान्यता की देन था। वे लिखते हैं, 'आजकल हिन्दी-साहित्य में उपन्यास-नामधारिणी पुस्तकों की भरमार हो रही है। ..... जो यह भी नहीं जानता कि मानस-शास्त्र भी कोई शास्त्र है, जो यह भी नहीं जानता कि चरित्र-चित्रण किस चिड़िया का नाम है, जिसे इस बात की रत्ती भर भी परवाह नहीं कि उसकी पुस्तक के पाठ से पाठक का चरित्र बिगड़ेगा या बनेगा, वह भी उपन्यास लिख-लिखकर नाम नहीं दाम उपार्जन करने की फिक्र में है।' आगे वे बताते हैं कि प्रकृत उपन्यास-साहित्य के

जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशों के लेखकों को है। उन्हीं ने साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है - उन्हीं ने इसे कला का रूप दिया है। उन्होंने उपन्यास-विधा का विश्लेषण - मूल्यांकन करने वाली यानी आलोचना की पुस्तकें भी लिखी हैं। आगे वे यह स्थापना रखते हैं कि जिन कथाकारों ने पश्चिमी देशों के उपन्यासों एवं इस विधा के विश्लेषणपरक ग्रंथ न पढ़े हैं, वे भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं। 'जिनको मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनोमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रूख किस तरफ़है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है, वे पश्चिमी पंडितों के (उपन्यास-सम्बन्धी) तत्त्व-निरूपण का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।' द्विवेदी जी उपन्यास-लेखन में मनोविज्ञान पर बेहद जोर देते हैं। किन्तु उनका मानना था कि, 'घटनावली के निदर्शन और भावों की जड़ में मनोविज्ञान रहे जरूर, पर वह छिपा हुआ रहे। शरीर के भीतर जैसे अस्थिपंजर छिपा रह कह शरीर-संगठन में सहायता देता है वैसे ही मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा-भाग के भीतर अलक्षित रखना चाहिए। जो इस खूबी को जानते हैं और जो अपनी रचना में नियमों के पचड़े को गुप्त रखकर चरित्र-चित्रण करते है उन्हीं के उपन्यासों का अधिक आदर होता है।' आगे उन्होंने उपन्यास के रहस्य का उद्घाटन करते हुए लेखक में आलोचनात्मक दृष्टि का होना आवश्यक बताया है। 'जिसके मन के मानसिक भावों का विकास करना है उसके संस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की, उसके आसपास की व्यवस्था की - सारांश यह है कि उसकी सम्पूर्ण परिस्थितियों की आलोचना करना चाहिए।' अन्ततः उपन्यास-लेखन मुश्किल काम है। इतनी विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए, अच्छा उपन्यास लिख डालना सबका काम नहीं। उपन्यासकार को कल्पना के बल पर नयी, पर सर्वथा स्वाभाविक, रचना करनी पड़ती है। और 'उपन्यास-रचना के सम्बन्ध में, हिन्दी में तो, अभी कूड़े-कचरे ही का जमाना है। और, आरम्भ में प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में यह बात होती है।' दूसरी ओर 'उपन्यास-रचना अब तो पश्चिमी देशों में कला की सीमा को पहुँच गयी है। जो उपन्यासकार ऐसे उपन्यासों की सृष्टि करता है, जिसके पात्रों के चरित्र चिर काल तक सदुपदेश और समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं वही श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक हैं। वह चाहे तो राजा से

लेकर रंक तक को और मजदूर से लेकर करोड़पति तक को कुछ का कुछ बना दे। वह चाहे तो बड़े-बड़े दुराचारी और कुसंस्कारों की जड़े हिला दे। वह चाहे तो देश में अद्भुत जागृति उत्पन्न करके दु:शासन की भुजाओं को बेकार कर दे।'

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक विधाओं पर किये विचार का उद्देश्य नये रचनाकारों के सामने उसके सही स्वरूप की जानकारी प्रस्तुत करना था तथा उनमें आधुनिक विचारों का उन्मेष करना भी। उनके विचार उस वक्त प्रस्तुत किये गये थे, जब हिन्दी में आधुनिक चिंतन शुरू ही हुआ था। यह आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक दौर था, जब आधुनिक कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाएँ प्रारम्भ हो रही थीं। यह वह नींव था, जिस पर सम्पूर्ण आधुनिक साहित्य का महल खड़ा हुआ आज दिखाई दे रहा है। कलात्मक दृष्टि से भले ही अपने परवर्ती साहित्य से यह कमजोर लगे, परन्तु वैचारिक रूप से यह ज्यादा परिपक्व और प्रगतिशील है। रामविलास शर्मा की यह बात बिल्कुल सही है कि हिन्दी के अनेक लेखक, वे लोग भी जो अपने को बहुत प्रगतिशील समझते हैं, कई बातों में द्विवेदी जी से पीछे हैं, आगे नहीं हैं।

जैसा कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के बारे में ख्यात है कि उन्होंने हिन्दी भाषा को परिष्कृत, परिमार्जित कर उसे आधुनिक स्वरूप प्रदान किया था। यह उनका एक ऐतिहासिक योगदान था। किन्तु उन्होंने हिन्दी को देशव्यापक भाषा बनाने के लिए संघर्ष भी किया था। उनमें अपनी मातृभाषा के प्रति अदम्य प्रेम था। वे मानते थे कि सुसभ्य, शिक्षित और जागृत देश अपनी स्वाधीनता ही के सदृश अपनी मातृभाषा की रक्षा, जी-जान से, करते हैं। रक्षा ही नहीं, वे उसकी दैनंदिन उन्नति के लिए भी सदा सचेष्ट रहते हैं। वे जानते हैं कि स्वाधीनता की रक्षा के लिए स्वभाषा की रक्षा और उन्नत्ति अनिवार्य है। पर अनेक कारणों से यह बात इस देश के निवासियों के ध्यान में बहुत समय तक नहीं आयी। 1907 ई. में उनकी 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसकी भूमिका के प्रारम्भ में वे लिखते हैं, 'कुछ समय से विचारशील जनों के मन में यह बात आने लगी है कि देश में एक भाषा और एक लिपि होने की बड़ी जरूरत है, और हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि ही इस योग्य हैं।' इस पुस्तक लिखने के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि हिन्दी को देशव्यापक भाषा के रूप में स्वीकार करने को अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के लोगों से कहने के पहले हमें इसका इतिहास सामने रखना

जरूरी लगता है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति कहाँ से है? किन पूर्ववर्त्ती भाषाओं से वह निकली है? वे कब और कहाँ बोली जाती थीं? हिन्दी को उसका वर्तमान रूप कब मिला? उर्दू में और उसमें क्या भेद है? इससमय जो और भाषाएँ बोली जाती हैं, उनका हिन्दी से क्या सम्बन्ध है? ... हिन्दी-हितैषियों को इन सब बातों का जानना जरूरी है। ... और प्रान्तवालों की इन बातों से अभिज्ञ करना हम लोगों का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है, क्योंकि जब हम उनसे कहते हैं कि आप अपनी भाषा को प्रधानता न देकर हमारी भाषा को दीजिए, उसी को देशव्यापक भाषा बनाइये, तब उनसे अपनी भाषा का कुछ हाल भी तो बताना चाहिए।

मार्च, 1923 ई. में, कानपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर द्विवेदी जी के वक्तव्य को पुस्तकाकार छपवाकर बँटवाया गया था, जिसे उन्होंने अपनी 'साहित्यालाप' नामक पुस्तक में 'वक्तव्य' शीर्षक से संकलित किया था। मैंने उसका नाम 'हिन्दी' कर दिया है। यह कई परिच्छेदों में है। इसके दो प्रारम्भिक परिच्छेद मातृभाषा पर हैं। वे 'मातृभाषा की महत्ता' इन शब्दों में निरूपित करते हैं - 'जो अपनी भाषा का आदर नहीं करता, जो अपनी भाषा से प्रेम नहीं करता, जो अपनी भाषा के साहित्य की पुष्टि नहीं करता, वह अपनी मातृभूमि की उन्नति कदापि नहीं कर सकता। उसके स्वराज्य का स्वप्न, उसके देशोद्धार का संकल्प, उसकी देशभक्ति की दुहाई बहुत कुछ निस्सार है। ...मातृभाषा की उन्नति करके एकता, जातीयता और राष्ट्रीयता के भावों को जब तक आप विदेश तक में रहने वाले भारतवासियों के हृदय में जागृत न कर देंगे, तब तक आपके राजनीतिक मनोभिलाष पूरी तौर पर कदापि सफल होने के नहीं।'

यानी मातृभाषा की सेवा, देश-सेवा और मातृभाषा का विकास देश के विकास और स्वाधीनता के सवाल से जुड़ा है। द्विवेदी जी इसका प्रमाण अनेक देश और उनकी भाषाओं का उदाहरण प्रस्तुत कर स्वराज्य और स्वभाषा के घनिष्ठ सम्बन्ध को उजागर करते हैं। उनका मानना है कि यदि अपनी भाषा गयी तो अपनी जातीयता और स्वाधीनता गयी ही समझिए। बिना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किये स्वराज्य की नींव दृढ़ नहीं हो सकती। वे अपने समय में यह साफ देख रहे थे कि शिक्षित समुदाय, जिसे अपनी मातृभाषा के स्वराज्य के लिए संघर्ष करना चाहिए था और देशवासियों में जागृति लानी चाहिए थी, वह स्वयं अपनी मातृभाषा की सबसे अधिक अवहेलना करता था और अंग्रेजीदाँ होकर अंग्रेजी-

राज के चारण की भूमिका अदा करने लगा जाता था। कमोबेश यही स्थिति आज भी हमारे देश में है। द्विवेदी जी ऐसे लोगों को समझाते हुए कहते हैं – 'जिनमें राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो जातीयता के महत्त्व को समझते हैं, वे प्राण रहते कभी अपनी मातृभाषा का त्याग नहीं करते, कभी उसके पोषण और परिवर्तन के काम से पीछे नहीं हटते, कभी दूसरों की भाषा को अपनी नहीं बनाते। जिंदा देशों में यही होता है। मुर्दा और पराधीन देशों की बात मैं नहीं कहता, उन अभागे देशों में तो ठीक इसका विपरीत ही दृश्य देखा जाता है।'

वे यह आशंका व्यक्त करते हैं कि स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी क्या हिन्दुस्तान में अंग्रेजी की ही तूती बोलेगी? उन्होंने हिन्दी को देशव्यापक भाषा या राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित करने के लिए जो संघर्ष किया था, वह अब भी पूरी तरह फलीभूत नहीं हुआ है और आजाद भारत में अब भी अंग्रेजी की तूती ही बोल रही है, जो पराधीन मानसिकता की देन है। द्विवेदी जी के अलावा उस समय महात्मा गाँधी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो देशी भाषाओं के स्वराज्य और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। उन्होंने महात्मा गाँधी के इस संघर्ष का 'सरस्वती' के द्वारा समर्थन किया था। वे देशवासियों को अपनी भाषा से प्रेम करने एवं उसे विकसित कर गरिमा प्रदान करने के लिए ज्ञान-विज्ञान, इतिहास-पुरातत्त्व एवं अन्याय विषयों तथा साहित्य की तमाम विधाओं को समृद्ध करने का बार-बार आह्वान करते हैं। उनके इस संदर्भ में किये गये विचार ऐतिहासिक सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण तो हैं ही, आज भी उनकी प्रासंगिकता बरकरार है।

हिन्दी भाषा की यह विशेषता रही है कि वह विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग तरह से बोली जाती है, यानी उसमें एकरूपता नहीं है। हर प्रान्तवासी का हिन्दी उच्चारण भी भिन्न तरह का रहा है। यह महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय में और भी अधिक था। उस समय जो हिन्दी लिखी जा रही थी, उसमें भी एकरूपता नहीं थी। हिन्दी के महत्त्वपूर्ण लेखक भी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध लिखा करते थे। द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा की अनस्थिरता को दूर करने के लिए अपना ऐतिहासिक महत्त्व का निबन्ध 'भाषा और व्याकरण' नवम्बर, 1905 की 'सरस्वती' में लिखा। इस पर बेहद वाद-विवाद हुए। उस समय के प्राय: सभी लेखकों ने भाषा पर चली इस बहस में हिस्सा लिया और अपनी भाषा के प्रति सजग तथा

संवेदनशील हुए तथा सही भाषा लिखने लगे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी 'ज्ञान राशि के संचित कोष' को साहित्य कहते थे। उनकी 'साहित्य' की परिभाषा के अन्तर्गत विज्ञान, इतिहास-पुरातत्त्व, अर्थशास्त्र, भूगोल, समाजशास्त्र आदि सभी विषय आ जाते थे। उनका मानना था - 'यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए।' इतिहास की महत्ता वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं -'जो जातियाँ इतिहास में अपने पूर्व-पुरुषों के गौरव को रक्षित नहीं रखती, जो उनके कारनामों को भूल जाती हैं, जो अपने भूतपूर्व बल और विक्रम को विस्मृत कर देती हैं, वे नष्ट हो जाती हैं और नष्ट नहीं भी होतीं तो परावलम्ब के पंक में पड़ी हुई नाना यातनाएँ सहा करती हैं। ... जिस जाति का इतिहास नष्ट नहीं हुआ और जिसमें अपने पुण्य-पुरुषों का आदर बना हुआ है, वही अपनी मातृभूमि के अद्य:पात से विदीर्णहृदय होकर, अनुकूल अवसर आने पर, फिर भी अपना नतमस्तक उन्नत कर सकती है।' इसी दृष्टि से उन्होंने इतिहास का अनुसंधान किया है। इतिहास-पुरातत्त्व पर किया गया उनका लेखन नवजागरण का आधार-स्तम्भ है।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में देशी-विदेशी अनेक साहित्यकारों, वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों, संगीतकारों, दार्शनिकों के जीवन-चरित लिखे थे एवं 'सरस्वती' में प्रकाशित किये थे। इसतरह का उनका लेखन भी आज इतिहास का एक अंग बन चुका है। इन जीवन-चरितों में काल के गर्त में पड़े कितने ही जीवन-सत्य और ऐतिहासिक तथ्य हैं, जो पढ़ते ही उजागर हो उठते हैं। ये अतीत के कई प्रसंगों को उजागर कर हमें जागरूक, सचेत और गौरवशाली बनाते हैं। ये एक प्रेरणा-स्तम्भ की तरह हैं जो जीवन-मार्ग में ऊँचे उठते कदमों को गतिशील किये रहते हैं। द्विवेदी जी का मानना था कि साहित्य के जितने अंग हैं उनमें इतिहास प्राय: सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। परन्तु किसी-किसी का मत है कि जीवन-चरित का महत्त्व इतिहास से भी बढ़कर है।

भारतेन्दु-युग के दो महत्त्वपूर्ण साहित्यकार एवं संपादक प्रताप नारायण मिश्र एवं बालकृष्ण भट्ट थे। भारतेन्दु एवं महावीरप्रसाद द्विवेदी के बीच की ये दो महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। द्विवेदी जी ने विस्तार से प्रतापनारायण मिश्र एवं उनके 'ब्राह्मण' पत्र पर लिखा है। इस जीवनी में प्रतापनारायण मिश्र से प्रथम भेंट का

बेहद रोचक ढंग से चित्रण किया गया है। उनका यह शब्द-चित्र देखिए - 'प्रतापनारायण अव्वल दर्जे के काहिल थे। उनके बैठने की जगह तक में कूड़े का ढेर लगा रहता था। अखबार, चिट्ठियाँ, कागज बिखरे पड़े रहते थे। उनके यहाँ आने-जाने वाले उनके मित्र, अगर उन्हें उठाकर जगह को साफ कर देते थे, तो कर देते थे। खुद प्रतापनारायण ने शायद ही कभी इनको उठाकर यथास्थान रक्खा हो। लोगों को चिट्ठियों का उत्तर तक वह बहुधा न देते थे। ...प्रतापनारायण का रंग गोरा था। नाक बहुत लम्बी थी। शरीर दुबला था। कमर जवानी में ही झुक गयी थी। आप सिर के बाल बड़े-बड़े रखते थे। ...प्रतापनारायण के स्वभाव में स्वच्छन्दता अधिक थी। वह हमेशा अपने ही रंग में मस्त रहते थे। उन्हें किसी की परवाह न थी। ...वह सर्वथा मनमौजी थे। जब कभी कोई उनकी तबियत के खिलाफ कुछ कह देता या कोई काम कर बैठता, तब उसका भी जरा मुलाहजा न करके वह उसकी गोशमाली करने लगते थे। उनकी तबियत में जोश था। इससे कभी-कभी छोटी-छोटी बातों पर भी वह बिगड़ उठते थे। स्वदेशी चीजों और कपड़ों पर उनका अधिक प्रेम था। सादापन उन्हें बहुत पसंद था। वह हमेशा सादे कपड़े पहनते थे। ...हरिश्चन्द्र पर प्रतापनारायण की अपूर्व भक्ति थी। उनकी 'कविवचन सुधा' पढ़ते ही हिन्दी पर वह अनुरागशील हुए थे। ... प्रतापनारायण स्वतंत्र थे, फक्कड़ थे, हिन्दी और हिन्दुस्तान और काँग्रेस के परम् भक्त थे। अच्छे कवि, लेखक और उत्साही थे।'

द्विवेदी जी द्वारा लिखित प्रतापनारायण मिश्र की जीवनी का उल्लेखकर डॉ. रामविलास शर्मा ने उनके व्यक्तित्व की तुलना निराला के व्यक्तित्व से सही की है। प्रतापनारायण के व्यक्तित्व की तरह निराला का व्यक्तित्व भी नाटकीय था। उनमें रुचि-विचित्रता थी। बेहद अस्तव्यस्त रहने वाले, बेपरवाह, स्वच्छंद, किन्तु ओजस्वी। इनसे ठीक विपरीत महावीर प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व था - सुसंयत, व्यवस्थित, ज्ञान के हर क्षेत्र में दिलचस्पी रखने वाला, अन्वेषी और जागरूक, अपने इतिहास के प्रेरक और गौरवशाली तत्त्वों का अवगाहन करने वाला। महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व से साम्य रखनेवाला, हिन्दी साहित्य में दूसरा व्यक्तित्व डॉ. रामविलास शर्मा का है। रामविलास जी ने द्विवेदी जी द्वारा लिखित 'हिन्दी-नवरत्न' की समीक्षा-पद्धत्ति की तुलना अपनी पंत पर लिखित एक समीक्षा से की है। द्विवेदी जी की तरह साहित्य, समालोचना, इतिहास-पुरातत्त्व, विज्ञान,

अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र में रामविलास जी की भी गहरी दिलचस्पी रही है और उन्होंने इन पर लिखा है। द्विवेदी जी ने अनेक जीवन-चरित लिखकर जिस विधा की शुरुआत की उसे रामविलास जी ने निराला की जीवनी लिखकर विकसित रूप प्रदान किया। द्विवेदी जी की तरह रामविलास जी भी प्रारम्भ में कविताएँ लिखते थे। जिस तरह अलग या विपरीत व्यक्तित्व के होने पर भी द्विवेदी जी ने प्रतापनारायण की प्रतिभा का समादर किया, उसी तरह रामविलास जी ने निराला की महान् प्रतिभा का समादर किया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 1885 ई. से लिखना प्रारम्भ किया था और 1928 ई. तक लगातार लेखन किया। उसके बाद उनका लेखन रुक गया। उनका देहावसान 21 दिसम्बर, 1938 ई. में हुआ। अपने जीवन के अंतिम दस वर्ष उनके शारीरिक और मानसिक कष्ट में बीते। उनकी पत्नी का देहावसान 1912 ई. में हो गया था। संतानहीन थे। अपनी कारुणिक जीवन गाथा उन्होंने अब तक नहीं रखी थी। किन्तु 1928 ई. में उनके सबसे अभिन्न मित्र चिन्तामणि घोष का देहांत हो गया। उन्होंने सितम्बर, 1928 की 'सरस्वती' के 'श्रद्धांक' में जो अपना संस्मरण लिखा था, उसमें अपनी पीड़ा को पहली बार अभिव्यक्ति दी - 'आज तक मुझे आत्मीयों की वियोग-जन्य बड़ी ही मर्मकृतन्तक व्यथाएँ सहनी पड़ी हैं - एक दफे नहीं, कई दफे। यहाँ तक कि आज तक मेरे सभी कुटुम्बी, एक-एक करके मुझे छोड़ गये। मैं ही अकेला कूलद्रुम बना हुआ अपने अन्तिम श्वासों की राह देख रहा हूँ। परन्तु, यह सब होने पर भी, कभी मैंने 'सरस्वती' में अपना रोना नहीं रोया, कभी दुखजनित विलाप नहीं किया, अदृष्ट ने मुझ पर कैसे-कैसे प्रहार किये, इस पर भी कभी कुछ नहीं लिखा। बात यह थी कि मेरी उस कष्ट-कथा से 'सरस्वती' का कुछ भी सम्बन्ध न था। .... परन्तु, आज, मुझे एक ऐसे पुरुष की निधन-वार्ता का उल्लेख करना ही पड़ेगा जो मित्र होकर भी मुझसे अभिन्न थे, पर-जन होकर भी मेरे स्वजन थे, अन्य-कुटुम्ब-भुक्त होकर भी कुटुम्बी-से थे। वह इसलिए भी करना पड़ेगा, क्योंकि उनका सम्बन्ध 'सरस्वती' से था। वही उसके जनक, वही उसके पालक और वही उसके उन्नायक थे। हतोत्साह किये जाने पर भी, हजारों रुपये का घाटा उठाने पर भी, और समय-समय पर, अनेक विघ्न-बाधाओं का अविर्भाव होने पर भी उन्होंने 'सरस्वती' को जीवित ही नहीं रक्खा, उन्होंने उसे दिन पर दिन अधिकाधिक उन्नत करके औरों के लिए वह आदर्श उपस्थित कर

दिया, जिसे देखकर इस समय हिन्दी साहित्य में और भी कितने ही अच्छी-अच्छी मासिक पुस्तकें अपने प्रकाश का प्रसरण कर रही हैं।'

द्विवेदी जी और चिन्तामणि घोष में कई बातों की समानता थी। दोनों समय के पाबन्द, अध्यवसायी और सत्य पर अडिग रहने वाले थे। दोनों ने प्रारम्भिक दौर में रेलवे की नौकरी की थी। दोनों का सम्बन्ध प्रकाशक एवं सम्पादक के रूप में 'सरस्वती' से था और दोनों की मृत्यु भी 74 वर्ष की अवस्था में हुई। द्विवेदी जी के सबसे अभिन्न, पारिवारिक और आत्मीय चिन्तामणि घोष थे। उनकी मृत्यु के बाद उन्होंने लेखन से प्राय: विराम ही ले लिया।

एक लेख जिसने हिन्दी की झोली भर दी

डॉ. देवेन्द्र दीपक

एक लेख जिसने हिन्दी की झोली भर दी। ऐसा कौन-सा लेख है?

वह लेख है- कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता

इसका लेखक?

इसके लेखक हैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जो आचार्य न होकर भी आचार्य थे। यह लेख जुलाई 1908 के सरस्वती अंक में छपा लेखक के रूप में नाम छपा है - श्रीयुत भुजंगभूखण्ड भट्टाचार्य। उस समय लेखक अनेक कारणों से अपना कुछ लेखन छद्म नाम से किया करते थे।

ऐसा क्या है इस लेख में?

एक यह उपालाभ-लेख है इसके प्रारम्भ में लेखक लिखता है-

''कवि स्वभाव से ही उच्छृंखल हैं। वह जिस तरफ झुक गये, झुक गये। जी में आया तो राई का पर्वत कर दिया। जी में आया तो हिमालय की तरफ भी आँख उठाकर न देखा। यह उच्छृंखलता या उदासीनता सर्व-साधारण कवियों में तो देखी ही जाती है, अगर कवि तक इससे नहीं बचे क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी को निषाद द्वारा वध किया गया, देख जिसे कवि-शिरोमणि का हृदय दु:ख से विदीर्ण हो गया, और जिनके मुख से आनिषाद इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पड़ी, वहीं पर-दु:ख-कातर मुनि रामायण निर्माण करते समय एक नव-परिणीता दु:खिनी वधु को बिल्कुल ही भूल गया। विपत्ति-विधुरा होने पर उसके साथ अल्पादल्पतरा संवेदना तक उसने प्रकट न की-उसकी खबर तक न ली।

आचार्य आगे लिखते हैं-माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के विषय में कोई विशेषता नहीं। क्योंकि आग से भी अधिक संताप पैदा करने वाला पति-वियोग

उनको हुआ ही नहीं, रही बात वियोगिनी देवी उर्मिला, सो उसका चरित्र सर्वथा गेय और आलेख्य होने पर भी, कवि ने उसके साथ अन्याय किया अत: इस देवी की इतनी उपेक्षा क्यों?

पूरा लेख एक तरह का शिकायतनामा है। आचार्य जी ने इसमें तुलसीदास को भी नहीं छोड़ा। माधवी के पक्ष में कुछ बातें अवश्य हैं।

यह लेख बहुत पढ़ा गया। बहुत उद्धृत हुआ। आचार्य द्विवेदी ने यह लेख क्यों लिखा? इसका हेतु?

डॉ. रामविलास शर्मा का उनके विषय में कहा गया एक वाक्य बहुत महत्त्वपूर्ण है- उन्होंने यह जानने का प्रयास किया कि हम अपने चिन्तन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं, यह अपने ऋण और धन से संपृक्त होना है।

रिक्तियाँ और उनकी पहचान, रिक्तियाँ और उनकी संपूर्ति के लिए सम्यक विवेकपूर्ण प्रयत्न! संपूर्ति के इस प्रयास में स्वयं में अहर्निश प्रयत्न करना और दूसरे समर्थ लोगों को उस दिशा में अग्रसर करने के लिए सद्भावना से सक्रिय करना यही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी की सामाजिकी की समझते थे,/ हिन्दी की मानविकी से परिचित थे,/ हिन्दी की आर्थिकी पर उनके समक्ष थी,/ हिन्दी की शैक्षिकी की आवश्यकताओं का उन्हें ज्ञान था/हिन्दी की वैज्ञानिकी की समृद्धि में उनका विश्वास था,/आचार्य ने रिक्त पूर्ति के लिए यह लेख लिखा-

क्या है जो अलक्षित रह गया? क्या है जो उपेक्षित हो गया? क्या है जो अप्रकाशित रह गया? क्या है जो चर्चा में नहीं आ पाया? क्या है जिसकी आज आवश्यकता है और जिसके प्रति हमसे दुर्लक्ष्य हुआ? वह विषय हो सकता है, पात्र हो सकता है, प्रसंग हो सकता है, आख्यान हो सकता है, कालखण्ड हो सकता है, समस्या हो सकती है, क्षेत्र हो सकता है, विद्या हो सकती है।

आचार्य जी के इस लेख को मैं एक उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट)के रूप में देखता है- उर्मिला तो निमित्त है, रचनाकार जाओ और यथा मति परती धरती को तोड़ो। बंजर को उर्वरा बनाओ! जहाँ कुछ नहीं है, वहाँ कुछ रचो-पचो।

हिन्दी के वैक्यूम को जानो और उस वैक्यूम ...

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने प्रश्न था हिन्दी के रूप खड़ीबोली हर दृष्टि से समृद्ध हो। इसके लिए वे जीवन भर स्वयं तो प्रयत्नशील रहे ही, साथ

ही अधिसंख्यक लेखकों को इसके लिए प्रेरित किया।

इस दिशा में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया परम्परा से आती हुई साहित्य की परिभाषा से पृथक एक नयी परिभाषा दी। उन्होंने साहित्य को वाङ्मय के रूप में और वाङ्मय को साहित्य के रूप में देखा और कहा–ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम ही साहित्य है। इस परिभाषा ने अनेक नये द्वार खोल दिए। एक सवाल प्रभाव्य–हिन्दी को भक्ति चाहिए, लेकिन उससे अधिक शक्ति चाहिए। मनुष्य हो भारत भाषा शक्ति के तीन स्रोत हैं– इन तीनों दिशाओं में अग्रसर रहे–कटिबद्ध अपने इस लक्ष्य के लिए उनकी कार्यशैली का मूलमंत्र था–निंदा नहीं, निदान, आलोचना नहीं, अनुष्ठान, आक्षेप नहीं प्रक्षेप!

मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य जी के काफी निकट थे। उनकी पहली कविता सरस्वती में 1905 में प्रकाशित हुई थी गुप्त जी ने लिखा है मेरी उल्टी–सीधी प्रारम्भिक रचनाओं का पूर्णशोधन करके उन्हें सरस्वती में प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना, द्विवेदी महाराज का ही काम था।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने इस लेख में उर्मिला की उदासीनता का प्रश्न उठाया। गुप्त जी 1908 में प्रकाशित होने के बाद उर्मिला काव्य की रचना की। इसका रचनाकाल 1908–1909 है। यह रचना बाद में प्रकाशित हुई।

गुप्त जी ने जीवन भर के लिए एक बात और बाँध ली– जहाँ जो उपेक्षित है, उदासीनता के कारण जो अलक्षित रह गया में उन विषयों और पात्रों पर लिखूँगा।

1910 में जयद्रथ वध, 1919–1911 में 'नल दमयंती' 1912 में भारत–भारती, 1915 में तिलोत्तमा, 1916 में 'चन्द्रहास'।

1914 में द्वितीय पत्नी का देहांत हो गया। अनेक हस्तियों की दृष्टि से यह वर्ष महत्त्वपूर्ण है। गुप्त जी रिक्तियों को भरने के लिए अनुवाद की ओर अग्रसर हुए। माइकल, मधुसूदन दत्त और मास को अनुवाद के लिए चुना एक बंगला से दूसरा संस्कृत से। प्रमुख अनूदित रचनाएँ हैं– 'घटोत्कच' 'स्वप्नवासवादत्ता', 'चारुदत्त', 'उहभंग', 'वीरांगना', 'मेघनादवध' इतना काम केवल 1914 में। इन अनुवादों से हिन्दी समृद्ध हुई।

गुप्त जी ने पूरे परिदृश्य को अन्वेषक की दृष्टि से देखा। विशेष रूप से उपेक्षित नारी पात्रों को बड़ी गम्भीरता और उदात्त भाव से उन्होंने उठाया और

यशोधरा विष्णुप्रभा 'रत्नावली', 'हिडम्बा' 'उत्तरा' 'सैरन्ध्री', 'माण्डवी' जैसी रचनाएँ हिन्दी की झोली में आईं। नहुष और कुशलगीत भी सामने आए। उर्मिला की पीड़ा ने गुप्त जी से साकेत लिखवाया। इसका किंचित श्रेय आचार्य जी के खाते में ही दर्ज।

मैथिलीशरण गुप्त के अनुज सियारामशरण गुप्त ने भी रिक्तियाँ भरने का काम किया और हिन्दी की झोली में 'मौर्यविजय' और 'नकुल' रचनाएँ डाल दीं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय, महावीरप्रसाद द्विवेदी से एक वर्ष छोटे थे। उन्होंने 'प्रियप्रवास', 'वैदेही वनवासी' दो महत्त्वपूर्ण काव्य हिन्दी को दिए–विशेष बात यह कि पात्रों को श्रीधर पाठक ने शून्य भरने के लिए शून्य की पहचान की। एक क्षेत्र खड़ीबोली के लिए प्रायः अधूरा था और वह था बालसाहित्य का। श्रीधर पाठक ने बाल साहित्य की कमी को पूरा किया। उन्होंने कुक्कुटी, उठो भाई उठो, तीतर, बिल्ली के बच्चे, तोते पढ़े, मैना, चकोर, मोर, कोयल, गुड्डी, लोरी, बालोपयोगी रचनाएँ हिन्दी की झोली में डालीं।

वनाष्टक और स्वदेशी विज्ञान जैसे अछूते विषयक कृतियों ने आकार लिया। गोल्डस्मिथ अंग्रेजी का बड़ा कवि है। श्रीधर पाठक, द ट्रेवलर और डेज़र्टेड विलेजस का अनुवाद किया श्रांतपथिक और उज्जड़ ग्राम।

देश प्रेम उस समय की बह रही एक महती भाव धारा थी। श्रीधर पाठक ने भारतश्री, भारत वंदना, भारतोत्थान, जयभारत जय–2, जैसी भावसंवलित रचनाएँ हिन्दी को दीं।

एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर है रामनरेश त्रिपाठी, उन्होंने एकदम कई मौलिक दिशाएँ चुनीं। सबका ध्यान परिनिष्ठित कविता पर था, रामनरेश त्रिपाठी ने गाँव–गाँव घूम–घूमकर बिखरे हुए लोकगीतों को लिपिबद्ध किया। यह कोई आसान काम नहीं था। यह मैदानी काम था। यदि रामनरेश त्रिपाठी उस समय लोकगीतों का संकलित नहीं करते तो हमारी यह लोकसंपदा लुप्त हो गयी होती।

हिन्दी के पाठक के मन में ललक थी कि वह भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य से अवगत हो। रामनरेश त्रिपाठी ने बंगला, संस्कृत, उर्दू, हिन्दी की श्रेष्ठ कविता संकलित की और कविता कौमुदी के 8 खण्ड हिन्दी को मिले।

एक और दिशा–पौराणिक पात्र सुभद्रा और जयंत को लेकर उन्होंने नाटक लिखे, वहीं मौलिक तेजस्वी पात्रों के सहारे पथिक, मिलन और स्वप्न जैसे

लोकप्रिय खण्डकाव्य रचे।

और सबसे बड़ा अवदान है त्रिपाठी जी की वह कविता जो विद्यालयों में प्रार्थना के रूप में सामूहिक रूप से गाई जाती रही। आज भी गाई जाती है-

हे प्रभो आनंददाता ज्ञान हमको दीजिए।
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हम से कीजिए
लीजिए हमको शरण में हम सदाचारी बनें
ब्रह्मचारी धर्मरक्षक और व्रतधारी बनें।

और भी बहुत कुछ है जो इस संदर्भ में जोड़ा जा सकता है। बात उर्मिला की उपेक्षा की थी। इस संबंध में बालकृष्ण शर्मा नवीन का उल्लेख अनिवार्य है। नवीन जी ने उर्मिला महाकाव्य का लेखन 1921 में प्रारम्भ किया। 1934 में यह पूरा हुआ और 1957 में प्रकाशित हुआ। छः सर्ग वाले इस महाकाव्य में नवीन जी ने उर्मिला के जन्म से लेकर लक्ष्मण से पुनर्मिलन तक की कथा कही।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का 1908 में प्रकाशित यह लेख नवीन जी के मन को कितने लम्बे समय तक भाता रहा, यह अपने में एक महत्त्वपूर्ण सच है। जब-जब भी नवीन जी अपनी इस रचना को लिखने बैठते होंगे, तब तक कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता लेख उनके सामने एक जीवित संदर्भ के रूप में उभरता होगा।

उर्मिला के साथ माण्डवी और श्रुतिकीर्ति भी दशरथ-परिवार की वधु हैं। डॉ. बलदेव प्रसाद ने साकेत का संत काव्य में माण्डवी की और रवीन्द्रनाथ शुक्ल ने शत्रुघ्न महाकाव्य में श्रुतिकीर्ति का मार्मिक चित्रण किया।

यह एक खेदजनक स्थिति है कि आचार्यमहावीर प्रसाद द्विवेदी के बहुविध्य अवदान को परवर्ती आलोचकों ने कमतर करके देखा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने जो कुछ उनके विषय में कहा उसके लिए मेरे पास एक ही शब्द है बैड टेस्ट, डॉ. रामविलास शर्मा ही हैं जिन्होंने उनके अवदान का सम्यक मूल्यांकन किया।

अपने इस लेख की प्रारम्भिक पंक्ति के साथ ही इस लेख का समापन- एक लेख जिसने हिन्दी की झोली भर दी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनकी साहित्य-साधना

डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल सन् 1850 से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। 1850 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग की संज्ञा दी गई है जिसमें हिन्दी साहित्य गत पौराणिक वातावरण से निकलकर उस समय के जीवन और वातावरण के सम्पर्क में आया। हिन्दी गद्य के पुष्ट होने के कारण इस काल में नवीन साहित्यिक विषयों का विकास होने के साथ-साथ विज्ञान, इतिहास, भूगोल, धर्म, पुराण, अर्थशास्त्र, यात्रा, गणित, राजनीति और गवेषणा सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसी कारण इसे हिन्दी साहित्य का अभ्युत्थान काल कहा गया। 1900 से 1925 तक का काल द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। इस युग को हिन्दी साहित्य के परिष्कार युग की संज्ञा दी गई है। इस युग का आदर्श समाज में एक सात्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का साथ देना, श्रृंगार के विलास वैभव को निषेध, मध्य वर्ग की राष्ट्रीय भावना आदि इस युग के सामान्य विषय थे। इस युग में न केवल साहित्य की विभिन्न विधाओं पर कड़ी दृष्टि रखकर उसकी भाषा सम्बन्धी त्रुटियों का परिष्कार किया गया वरन् भारतेन्दु युग में ज्ञान के जिन विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी ने प्रवेश किया था, उनकी ज्ञानात्मक समीक्षा और परीक्षा भी इस युग में हुई। इस युग का नामकरण जिन महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर द्विवेदीकाल रखा गया, उनकी साहित्य-साधना पर विचार करने के लिए यह निबन्ध कुछ प्रयत्न करेगा।

महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म 1864 ई. में उत्तरप्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में हुआ था। उनके पितामह ब्रिटिश फौज में भारतीय सिपाहियों

को पुराण पढ़कर सुनाया करते थे। उन्हें हस्तलिखित पुस्तकें एकत्रित करने का शौक था। आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। उनकी पत्नी ने इन एकत्रित पाण्डुलिपियों को बेचकर ही अपने बच्चों को पाला था। उनके पिता रामसहाय द्विवेदी भी अंग्रेज़ फौज़ में सिपाही थे। 1857 में इनकी पलटन अंग्रेजों से विद्रोह करने के कारण तोपों से उड़ा दी गई थी परन्तु रामसहाय जी किसी प्रकार बचकर सतलज में कूद पड़े थे और कई दिनों तक तैरते रहने के बाद, अनेक कष्ट सहकर, साधु वेश में घर आये। महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही हुई। तेरह वर्ष की अवस्था में ये अंग्रेजी पढ़ने के लिए रायबरेली में डिस्ट्रिक्ट स्कूल में प्रविष्ट हुए थे। संस्कृत के प्रति उनका प्रेम अपने दादा और नाना दोनों ओर के संस्कारों से मिला था परन्तु उस स्कूल में संस्कृत विषय न होने के कारण आपको फारसी को वैकल्पिक विषय के रूप में चुनना पड़ा। कुछ दिनों उन्नाव और फतहपुर में पढ़ने के बाद आप अपने पिता के पास बम्बई चले गए और वहीं रहकर संस्कृत, गुजराती, मराठी और अंग्रेजी का गहरा अभ्यास किया। कुछ दिनों नागपुर और अजमेर में नौकरी करने के बाद पुन: बम्बई आ गए और तार देने की विधि सीखकर रेलवे में सिग्नलर हो गए। रेलवे के अनेक पदों पर काम करने के बाद, अपनी पूर्ण निपुणता और आविष्कार बुद्धि का परिचय देकर वे अन्त में डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिडेन्टेन्ट के ऑफिस में चीफ क्लर्क हो गए। वहाँ 5 वर्ष कार्य किया परन्तु उच्चाधिकारी से पटरी न बैठने के कारण नौकरी से इस्तीफा दे दिया। साहित्य-साधना नौकरी के साथ-साथ चलती रही। संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद किये और अनेक आलोचनाएँ लिखीं। 1903 में सरस्वती के सम्पादक बने और 1920 तक यह दायित्व सँभाला। इन सत्रह वर्षों के बीच में रुग्णता के कारण एक वर्ष अवकाश पर भी रहे। 'सरस्वती' के सम्पादन से अलग होने के बाद 1920 से 1938 तक अपने गाँव में बड़ी कठिनाइयों के साथ जीवन निभाया और 21 दिसम्बर, 1938 में रायबरेली में उनका देहान्त हो गया। उनका सम्पूर्ण जीवन, विशेषकर 'सरस्वती' के सम्पादन काल का जीवन, कठोर साहित्यिक परिश्रम, हिन्दी और पत्रकारिता के प्रति समर्पण, अनेक विधि लेखन, साहित्यकारों की भाषा का सुधारकर उन्हें साहित्य के क्षेत्र में स्थापित करने का जीवन रहा है। अपनी ध्येयनिष्ठता के कारण उन्होंने अपने युग पर शासन किया था, इसीलिए उनके युग को द्विवेदी युग की संज्ञा दी जाती है।

जहाँ तक उनकी कृतियों का सम्बन्ध है गद्य-पद्य के कुल ग्रन्थों की संख्या 80 है। गद्य में 14 अनूदित और 50 मौलिक कृतियाँ प्राप्त होती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है -

अनूदित पद्य रचनाएँ : 1. विनय विनोद (1889, भर्तृहरि कृत 'वैराग्य शतक' का दोहों में अनुवाद), 2. विहार वाटिका (1890, 'गीत गोविन्द' का भावानुवाद), 3. स्नेहमाला (1890, भर्तृहरि के 'श्रृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद), 4. श्री महिम्नस्तोत्र (1891, संस्कृत के 'महिम्न स्तोत्र' का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद), 5. गंगालहरी (1891, पं. जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का सवैयों में अनुवाद), 6. ऋतु तरंगिणी (1891, कालिदास के 'ऋतु संहार' का छायानुवाद), 7. सोहागरात (अप्रकाशित, बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद)

मौलिक पद्य रचनाएँ : 8. देवीस्तुति शतक (1892), 9. कान्यकुब्जावलीव्रतम् (1898), 10. समाचार पत्र सम्पादक स्तव: (1898), 11. नागरी (1900), 12. काव्य-मंजूषा (1903), 13. कान्यकुब्ज अबला-विलाप (1907), 14. कविता-विलाप (1909), 15. सुमन (1923), 16. द्विवेदी काव्यमाला (1940)

अनूदित गद्य रचनाएँ : 17. यामिनी विलास (1891, पण्डितराज के 'भामिनी विलास' का अनुवाद), 18. अमृत लहरी (1896, पं. जगन्नाथ के 'यमुना स्तोत्र' का भावानुवाद), 19. बेकन विचार रत्नावली (1901, बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद), 20. शिक्षा (1906, हबर्ट स्पेंसर के एजुकेशन का अनुवाद), 21. स्वाधीनता (1907, जान स्टुअर्ट मिल के On Liberty का अनुवाद), 22. जल-चिकित्सा (1907, जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद), 23. हिन्दी महाभारत (1908, महाभारत का हिन्दी रूपान्तर), 24. रघुवंश (1912, रघुवंश का भाषानुवाद), 25. वेणीसंहार (संस्कृत कवि भट्ट नारायण के नाटक वेणीसंहार का अनुवाद), 26. कुमारसंभव (1915, कालिदास के कुमारसम्भवम् का अनुवाद), 27. मेघदूत (1917, कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद), 28. किरातार्जुनीय (1917, भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का हिन्दी अनुवाद), 29. प्राचीन पण्डित और कवि (1918, अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और लेखकों का परिचय), 30. आख्यायिका सप्तक (1927, अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का हिन्दी अनुवाद)

मौलिक गद्य रचनाएँ : 31. तरुणोपदेश (अप्रकाशित), 32. हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना (1899), 33. नैषध चरित चर्चा (1900), 34. हिन्दी कालिदास की समालोचना (1901), 35. वैज्ञानिक कोश (1906), 36. नाट्यशास्त्र (1912), 37. विक्रमांकदेव चरित चर्चा (1907), 38. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (1907), 39. सम्पत्तिशास्त्र (1907), 40. कौटिल्य कुठार (1907), 41. कालिदास की निरंकुशता (1912), 42. वनिता-विलाप (1918), 43. औद्योगिकी (1920), 44. रसज्ञ-रंजन (1920), 45. कालिदास और उनकी कविता (1920), 46. सुकवि संकीर्तन (1924), 47. अतीत स्मृति (1934), 48. साहित्य सन्दर्भ (1928), 49. अद्भुत आलाप (1924), 50. महिला मोह (1925), 51. आध्यात्मिकी (1928), 52. वैचित्र्य-चित्रण (1926), 53. साहित्यालाप (1926), 54. विज्ञ-विनोद (1926), 55. कोविद कीर्तन (1928), 56. विदेशी विद्वान (1928), 57. प्राचीन चित्र (1929), 58. चरित चर्चा (1930), 59. पुरावृत्त (1933), 60. दृश्यदर्शन (1928), 61. आलोचनांजलि (1928), 62. चरित्र-चित्रण (1929), 63. साहित्य सीकर (1930), 64. विज्ञान वार्ता (1930), 65. विचार विमर्श (1931), 66. पुरातत्व प्रसंग (1933)

इनके अतिरिक्त 1923 में हुए तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समय दिये गए भाषण और 1933 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित किये गए द्विवेदी मेला के अवसर पर दिए गए भाषण भी पुस्तकाकार प्रकाशित हैं। बालोपयोगी स्कूली रीडर भी छः हैं।

उपर्युक्त विस्तृत सूची को प्रस्तुत करने का उद्देश्य पाठकों की दृष्टि में इस तथ्य को रेखांकित करना है कि वे हिन्दी के एक ऐसे जुझारू लेखक थे जो आजीवन अनथक रूप से लिखते रहे। 1889 से लेकर 1920 तक तो प्रतिवर्ष एक, दो या तीन पुस्तकें प्रकाशित होती रहीं, चाहे वे अनुवाद की हों या मौलिक लेखन की, परन्तु 'सरस्वती' से हट जाने के बाद भी वे निरन्तर लिखते रहे। उनके मन में एक तड़प थी कि हिन्दी के पाठक को कलात्मक साहित्य तक सीमित न रखकर उसे भारत और विश्व के सभी प्रकार के ज्ञान से परिचित कराया जाये। संस्कृत से किये गए अनुवाद और संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी लेखन तो एक प्रकार से अपनी ही बात को प्रस्तुत करना था परन्तु भारत में दी जाने वाली शिक्षा के प्रति वे सजग थे, उसके आलोचक थे, रीडरों के रूप में उसमें सहभागी थे। उन्होंने

वैज्ञानिक, अर्थशास्त्रीय, ऐतिहासिक, पुरातात्विक आदि अनेक विषयों का ज्ञान अपनी कृतियों के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाया। बेकन, हर्बर्ट स्पेन्सर और स्टुअर्ट मिल जैसे प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वानों के विचारों से भी पाठकों को अवगत कराया। इतना ही नहीं जहाँ उन्हें आवश्यक लगा, अन्य भाषाओं से अंग्रेजी में अनूदित ग्रन्थों का अनुवाद भी हिन्दी में किया। ज्ञानात्मक साहित्य की दृष्टि से उनका प्रयास अपने समय में बेजोड़ था। उनमें एक छटपटाहट थी जो उनकी देशभक्ति का प्रमाण मानी जानी चाहिए, यह देशभक्ति देश को नवीनतम ज्ञान से युक्त करने के प्रयास रूप में व्यक्त हुई है।

निश्चित ही मौलिक हिन्दी प्रबन्ध काव्य या कविताएँ, उपन्यास, कहानी, नाटक या ललित निबन्धों की रचना उन्होंने नहीं की और इसी कारण आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को 1933 में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' की प्रस्तावना लिखते समय यह निश्चय करने में कठिनाई आयी कि साहित्य और कला की स्थायी प्रदर्शनी में उनकी कौन-सी कृतियाँ रखी जाएँ। उनके द्वारा किये गए अनुवाद उन्हें इस योग्य नहीं लगे क्योंकि उनमें द्विवेदी जी के निजत्व का अभाव है। जहाँ तक कविताओं का प्रश्न है द्विवेदी जी उन्हें स्वयं कविता नहीं मानते। उनके निबंधों में वाजपेयी जी को हिन्दी की भाव प्रकाशिका शक्ति अवश्य मिली परन्तु वे उन्हें भी स्थायी साहित्य नहीं मानते। फिर वे व्यंग्य भरे स्वर में लिखते हैं ''क्या आचार्य की शिष्य मण्डली ही उक्त प्रदर्शनी में सजा दी जाये?'' वाजपेयी जी अपने प्रस्तावना के रूप में लिखे गए इस लेख में (जो बाद में उनकी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी' के प्रथम लेख के रूप में प्रकाशित हुआ) कुछ अधिक व्यंग्यपूर्ण हो उठे हैं। द्विवेदी जी की कविताओं के विषय में उनका मत है - ''कविता जिस प्रकार की सौन्दर्य की सामग्री का व्यवहार कर अन्तर का पवित्र रस उच्छ्वसित करती है, उसका स्पर्श करने में ये जैसे लोकलाज से डरते हों। इनकी कविताएँ इसीलिए उपदेश प्रधान हैं, वस्तु की व्यंजना करती हैं परन्तु अन्तर के तारों को झनझनाती नहीं। बाहर की ठक-ठक कर चुप रहती हैं।'' (हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी पृ. 5) उनका यह भी आक्षेप है कि 'कविता और साहित्य के विषय में द्विवेदी जी के विचार जानने की इच्छा बहुतों की होगी परन्तु वे उनके कुछकर निबन्धों को पढ़कर कोई निश्चित धारणा नहीं बना सकेंगे। (पृ. 6) उनकी आलोचनात्मक पद्धति को भी वे 'सूरसती', 'उडुगन', 'जड़िया' और 'गढ़िया'

की श्रेणी की ही मानते हैं। 'सरस्वती' पर उनको एक व्यंग्य इस प्रकार है - ''एक बार उन्होंने सोचा कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को हिन्दी के क्षेत्र में लाना चाहिए। बस 'सरस्वती' के प्राय: प्रत्येक अंक में अंग्रेजी के विद्यार्थी लेखकों की संख्या बढ़ने लगी, हिन्दी पर अंग्रेजी का गहरा रंग चढ़ने लगा। आज उस पर अंग्रेजी के विद्वानों का बहुत कुछ अधिकार हो गया है।'' (पृ. 3) नन्ददुलारे वाजपेयी का यह मूल्यांकन, विशेष रूप से उनके व्यंग्य द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन नहीं करते। इसका एक कारण तो यह है कि प्रस्तावना लिखते समय उस युग और उनके साहित्य के अत्यधिक निकट होने के कारण स्वयं को भी उसमें संलग्न करके देखते थे अत: उचित मूल्यांकन करना संभव न था। दूसरे यह कि वाजपेयी जी की अपनी साहित्य सम्बन्धी जो धारणाएँ थी, उनसे हटकर उन्हें देखना संभव नहीं था। इतना कुछ लिखने के बाद भी उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा है कि उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक-तीन-तीन संस्थाओं के संचालक-का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया। वाजपेयी जी ने उनके द्वारा काशी विश्वविद्यालय को दिये गए दान की भी प्रशंसा की है।

नितान्त व्यक्तिगत पूर्वाग्रह से ग्रसित धारणाओं के साथ उनका एकदम दूसरी दिशा में मूल्यांकन करने वाले दूसरे व्यक्ति हैं। डॉ. रामविलास शर्मा जिन्होंने उनको मार्क्सवाद की तुला पर तोलकर उन्हें साहित्यकार की अपेक्षा अर्थशास्त्री सिद्ध करने का प्रयास किया है - ''द्विवेदी जी सबसे पहले राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री हैं। इसका प्रमाण यह है कि उनकी जो एकमात्र बड़ी पुस्तक है, वह राजनीति और अर्थशास्त्र की पुस्तक 'सम्पत्तिशास्त्र' है। हिन्दी में अब भी उसके टक्कर की कोई पुस्तक नहीं है।'' (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण पृष्ठ 381) द्विवेदी जी के मूल्यांकन की उनकी दूसरी धारणा यह है कि प्रेमचन्द ने जो कुछ लिखा उसकी सामग्री द्विवेदी जी की देन है। उनका तीसरा निष्कर्ष यह है कि छायावाद का उत्तरकाल और विशेष रूप से निराला, द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री का परिणाम है। खैरियत यही है कि उन्होंने 'सम्पत्तिशास्त्र' को मार्क्स की पुस्तक 'कैपिटल' के समकक्ष नहीं कहा। छायावाद के वे दो टुकड़े करते हैं। प्रथम में वे रोमाण्टिक काव्य को रखते हैं और द्वितीय में यथार्थवादी साहित्य को जिसे वे द्विवेदी जी की श्रम-साधना का परिणाम मानते हैं। रामविलास

शर्मा का यह मूल्यांकन उनके साहित्यकार रूप को नकार कर उन्हें एक ऐसे लेखक के रूप में प्रस्तुत करता है जो इतर विषयों से सम्बद्ध है। यह अतिवादी मूल्यांकन स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने साहित्य के अतिरिक्त भी अन्य विषयों पर भी लिखा परन्तु उनके लेखन के केन्द्र में भारत का प्राचीन साहित्य और उनके समय में लिखा गया साहित्य रहा। उचित मूल्यांकन की आवश्यकता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कहना है कि उन्हें कोई नवीन विचार-प्रवर्तक या दर्शन का सूक्ष्म दृष्टि अन्वेषक नहीं मानता। वाजपेयी जी का निष्कर्ष ठीक हो सकता है परन्तु द्विवेदी जी का विचार पक्ष पर्याप्त विस्तृत और प्रभावी है। द्विवेदी जी ईश्वर और धर्म को मानते थे परन्तु इनको लेकर जो अन्धविश्वास और पाखण्ड जारी था, उसके वे कट्टर विरोधी थे। वे भौतिकवादी नहीं थे परन्तु भारतीय भौतिकवादी विचार परम्परा में इन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का जो खण्डन किया गया, उसका उन्होंने समर्थन किया। 'सरस्वती' में 1901 में उनका एक लेख छपा था 'निरीश्वरवाद' जिसमें उन्होंने चार्वाक दर्शन के श्लोकों को हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत किया था। इसी प्रकार 1921 में 'श्रीहर्ष का कलियुग' लेख में उन्होंने देवताओं के ढोंग को विस्तार से प्रस्तुत किया था। कलियुग देवताओं पर व्यंग्य करता है कि ''तुम्हारे ब्रह्मा तो जिसे चाहें ले बैठें। अपनी दुहिता तक को न छोड़ें। और आप लोग रम्भा, मेनका, उर्वशी आदि दिव्य नारियों के साथ मौज उड़ावें। रहा मैं, सो मैं बह्मचर्य का पालन करूँ।'' सन् 1998 में उन्होंने संस्कृत में एक कविता लिखी 'कथमहं नास्तिकः' जिसका सारतत्व यह है कि वे नीति और धर्म को सदाचार मानते थे। उनकी दृष्टि में देवपूजा और कर्मकाण्ड निरर्थक हैं। संसार के सभी धर्मों का सारतत्व दया है। वेदों के विषय में भी उनका स्पष्ट मत है कि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं - ''परन्तु वेदों को विचारपूर्वक पढ़ने से यह बात नहीं पायी जाती कि वेद ईश्वरोक्त हैं। इसीलिए इस समय के अच्छे-अच्छे विद्वान वेदों के कर्त्तत्व के विषय में वाद-विवाद नहीं करते। इसकी जरूरत नहीं समझते क्योंकि वे जानते हैं कि वे मनुष्य-निर्मित हैं।'' (लेख 'वेद' 1907 सरस्वती)

वेदों के अध्ययन के विषय में भी वे किसी प्रकार के प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करते। शहीददुल्ला जैसे बड़े भाषा-विज्ञानी ने जब बी.ए. करने के

बाद संस्कृत में एम.ए. करने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए आवेदन किया, तो उन्हें इस आधार पर प्रवेश नहीं दिया गया कि उसके पाठ्यक्रम में वेद हैं और वेद पढ़ने का अधिकार किसी मुसलमान को नहीं दिया जा सकता। अत: उन्हें विदेश जाकर संस्कृत पढ़नी पड़ी। द्विवेदी जी ने 1913 में 'सरस्वती' में टिप्पणी की ''ये वही महाशय हैं जिन्हें संस्कृत में नामवरी के साथ बी.ए. करने के बाद एम.ए. में संस्कृत पढ़ना चाहा था पर विश्वविद्यालय के धर्मध्वज पण्डितों ने इसलिए पढ़ाना अस्वीकार कर दिया कि क्लास की पाठ्यपुस्तकों में वेद भी है। पर जो पढ़ना चाहता है वह ऐसी रुकावटों से नहीं रुकता।'' द्विवेदी जी को इस बात का खेद भी था कि यूरोप के लोग भारतीय दर्शन और संस्कृत के लिए बहुत कुछ कर रहे हैं परन्तु भारतीय इस ओर से उदासीन हैं। इस विषय पर 1909 में उन्होंने 'सरस्वती' में एक लेख लिखा ''पुराने अंग्रेज अधिकारियों के संस्कृत पढ़ने का फल' जिसमें उन्होंने विलियम जोन्स द्वारा 'मनुस्मृति' और 'शाकुन्तलम्' के अंग्रेजी अनुवाद की प्रशंसा की। वे मैक्समूलर के प्रशंसक थे जिन्होंने अपना नाम मोक्षमूलर रख लिया था परन्तु उन्होंने तत्कालीन ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रोफेसर मैकडोनल का विरोध भी किया क्योंकि वे भारत में भी संस्कृत पढ़ाने के लिए अंग्रेजी शिक्षकों की नियुक्ति चाहते थे। उन्होंने 1908 में 'मुग्धानलाचार्य' शीर्षक से एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने उनकी संस्कृत में रुचि की तो प्रशंसा की परन्तु उनके भेदभावपूर्ण व्यवहार का विरोध किया। उन्होंने मैकडोनल द्वारा 'शाकुन्तलम्' के अंग्रेजी अनुवाद की भी भूलें निकालीं। संस्कृत के ग्रन्थों को भारत से जापान, चीन, तिब्बत, नेपाल आदि देशों में ले जाया गया और वहाँ भारतीय संस्कृति का जो प्रचार-प्रसार हुआ, इस पर भी उनका पूरा ध्यान था। वे उन लोगों के विरोधी थे जो ज्ञान प्राप्त करने के लिए समुद्र पार करने का विरोध करते थे और ऐसे लोगों को जाति बाहर कर देते थे। प्राचीन भारत में समुद्र पार जाकर ज्ञान प्राप्त करने और देने की परम्परा कितनी समृद्ध थी इस पर भी उन्होंने अनेक लेख लिखे जैसे-'प्राचीन हिन्दुओं की विदेश यात्रा', 'सुमात्रा और जावा आदि द्वीपों में प्राचीन हिन्दू सभ्यता', 'कम्बोडिया में हिन्दू राज्य', 'अफगानिस्तान में बौद्ध कालीन चिह्न', 'मध्य एशिया के खण्डहरों की खुदाई का फल', 'द्रविड़ जातीय भारत वासियों की प्राचीन सभ्यता', 'तक्षशिला की कुछ प्राचीन इमारतें' आदि।

वेद, संस्कृत और भारतीयता सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों की भाँति ही आत्मा, ज्ञान और पुनर्जन्म के विषय में भी वे बहुत स्पष्ट थे। 'सरस्वती' के 1901 जनवरी के अंक में उनका 'आत्मा' नामक लेख छपा जिसमें उन्होंने आत्मा को एक अदृश्य द्रव्य के रूप में स्वीकार किया। उनके अनुसार आत्मा और इन्द्रियों के मध्य मन संवाहक तार का काम करता है। उनके मत में आत्मा नित्य और अविनाशी है। वे पुनर्जन्म को स्वीकृति देते हैं - ''आत्मा की स्थिति ही जीवन, और आत्मा का शरीर-त्याग मृत्यु है अत: उपरोक्त उदाहरण के अनुसार उसका नित्यत्व सिद्ध है। यदि मृत देहस्थ आत्मा का पुनर्जन्म न मानकर प्रतिवार प्रति आत्मा की किसी अन्य पदार्थ से उत्पत्ति सिद्ध करते हैं तो वह सब अन्य पदार्थ अवश्यमेव कालान्तर में नष्ट होकर इस विस्तृत विश्व को शून्य मय कर देंगे। अत: आत्मा को नित्य अर्थात् अविनाशी ही मानना चाहिए।'' (उपर्युक्त लेख से) 'सरस्वती' के फरवरी 1901 में 'ज्ञान' शीर्षक से उनका लेख छपा जिसमें उन्होंने आप्तप्रमाण के विषय में स्पष्ट धारणा प्रस्तुत की है - ''तथापि ईश्वर के अतिरिक्त अल्पबुद्धि मनुष्य कदापि सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। ये ऋषि भी मनुष्य ही थे, महाज्ञानी थे, विशेष बुद्धिमान थे, परम प्रतिभावान थे यह हमने माना परन्तु ईश्वरवत सर्वज्ञ थे, यह कहना अवश्य अत्युक्ति कही जायेगी। अतएव सम्भव है कि इनके भी ग्रन्थों में यत्र-कुत्र भ्रम रह गया हो।''

तात्पर्य यह कि द्विवेदी जी की भारतीयता पर सन्देह नहीं किया जा सकता परन्तु वे निष्पक्ष विचार को प्रोत्साहन देने के लिए पाश्चात्य विज्ञान की उपलब्धियों को भी उजागर करने का प्रयास करते थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्व उनके द्वारा व्यक्त किये उपर्युक्त विचारों के आधार पर नहीं आँका जा सकता। उनका महत्त्व सीधे-सीधे हिन्दी भाषा व हिन्दी साहित्य के परिष्कार से जुड़ा हुआ है। वही उनकी साधना का चरम बिन्दु है। उनके जीवन का सबसे बड़े काम था 'सरस्वती' का सम्पादन जिसके लिए वे जिये और शायद उसी के चिन्तन में मर भी गए। 'सरस्वती' का आविर्भाव इण्डियन प्रेस के स्वामी श्री चिन्तामणि घोष की अध्यक्षता में, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के संस्थापक सदस्य श्री श्यामसुन्दर दास के सम्पादकत्व में सन् 1900 में मासिक रूप में हुआ इसका उद्देश्य इस प्रकार था - ''इसके नवजीवन धारण करने का केवल यही मुख्य उद्देश्य है कि हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती

भण्डार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथार्थ पूर्ति हो, तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भावों भरित ग्रंथ राशि का प्रसव करे।'' यह संकुचित अर्थ में साहित्यिक पत्रिका नहीं थी। साहित्यिक अभिरुचि पुष्ट करने के साथ ही आधुनिक और प्राचीन ज्ञान-विज्ञान संबंधी लेख प्रकाशित करना इसका उद्देश्य था। यों तो द्विवेदी जी प्रारम्भ से ही इसमें लेख लिखते रहे परन्तु इसके सम्पादन का काम 1903 में सँभाला। सरकारी नौकरी में उन्हें 150/- वेतन और 50/- एलाउंस के रूप में मिलते थे जबकि 'सरस्वती' की सम्पादकीय नौकरी में उन्हें 20/- वेतन तथा 3/- डाक व्यय के लिए मिलते थे। यह कोई साधारण त्याग नहीं था। सम्पादन काल के बीस वर्षों में भी उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा। उन्निद्रा का रोग हो जाने के कारण बीच में एक वर्ष का अवकाश भी लिया। यही उनकी साहित्य साधना और हिन्दी की सेवा का स्वर्णिम काल है। यों वे 'सरस्वती' से निकलने के बाद भी लेखन में रत रहे। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने अनेक साहित्यिक विवादों को जन्म देकर एक नयी चेतना पैदा की। भाषा का परिष्कार और व्याकरणगत शिथिलता का विरोध किया। खड़ी बोली और नागरी लिपि के लिए संघर्ष किया। हिन्दी के नवोदित कहानीकारों की रचनाएँ छापकर उन्हें तो आगे बढ़ाया ही परन्तु अन्य प्रान्तीय भाषाओं की कहानियों के अनुवाद भी छापे। विविध ज्ञान विषयक सामग्री प्रकाशित कर सामयिकता का निर्वाह भी किया। स्त्री-विषयक और बाल विषयक सामग्री को भी यथोचित स्थान दिया। उनके सम्पादन में ही मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम 'शंकर' शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, सत्यनारायण कविरत्न, प्रेमचन्द, सियाराम शरण गुप्त आदि नवयुवकों ने साहित्य में पदार्पण किया। उनके सम्पादन में प्रकाशित 'सरस्वती' का इतिहास ही तत्कालीन साहित्य का इतिहास कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

भाषा के परिष्कार के क्षेत्र में द्विवेदी जी ने व्याकरण सम्बन्धी अनेक त्रुटियों को दूर किया। चातुर्यता, साम्यता, तारुण्यता, माधुर्यता, आधिक्यता जैसे अशुद्ध प्रयोगों के स्थान पर चातुर्य, साम्य, तारुण्य, माधुर्य, आधिक्य का प्रयोग शुद्ध माना। 'जो' 'जिन', 'जिन्हों', 'जिन्होंने' आदि के रूप स्थिर किये। 'जिन्हों का' के स्थान पर 'जिनका' आना चाहिए आदि। इसी प्रकार अंग्रेजी के प्रभाव से आई अनेक अशुद्धियों की ओर ध्यान खींचा। उनके द्वारा ठीक की गई अशुद्धियों

को इन शीर्षकों में बाँटकर देखा जा सकता है - 1. स्वरगत लेखन त्रुटियाँ, 2. व्यंजनगत लेखन त्रुटियाँ, 3. संज्ञा सम्बन्धी संबोधन संशोधन, 4. सर्वनाम सम्बन्धी, 5. लिंग सम्बन्धी, 6. वचन सम्बन्धी, 7. कारक सम्बन्धी, 8. संधि सम्बन्धी, 9. समास सम्बन्धी, 10. उपसर्ग-प्रत्यय सम्बन्धी, 11. आकांक्षा सम्बन्धी, 12. योग्यता सम्बन्धी, 13. सन्निधि सम्बन्धी, 14. वाच्य सम्बन्धी, 15. प्रत्यक्ष-परोक्ष सम्बन्धी, 16. मुहावरों सम्बन्धी संशोधन, 17. कठिन संस्कृत शब्दों के स्थान पर सरल शब्दों का प्रयोग, 18. अरबी-फारसी के शब्दों के हिन्दी स्थानापन्न शब्द, 19. अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी स्थानापन्न शब्द आदि। यह एक बड़ा व्यापक और परिश्रमयुक्त कार्य था। हिन्दी को व्याकरण सम्मत बनाने का जितना प्रयास महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया उतना किसी भी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया। उनका यह भाषा परिष्कार आन्दोलन चार रूपों में चलता रहा - 1. सरस्वती के सम्पादक के रूप में, 2. अनेक साहित्यकारों की अशुद्धियों और दोषों के आलोचक के रूप में, 3. हिन्दी ग्रंथों की भाषा के संशोधन के रूप में, 4. भाषा-व्याकरण सम्बन्धी लेख तथा भाषण के रूप में। 'सरस्वती' के लेखकों का उन्होंने एक मण्डल बना लिया था जिसमें विविध विषयों के विशेषज्ञ थे। वे सदा नयी प्रतिभाओं की खोज में रहते थे। वे नए होनहार साहित्य प्रेमी युवकों को ही नहीं, ज्ञान के प्रसार में सहायक खोजी लेखकों को प्रोत्साहित करते रहते थे। उनसे लेख लिखवाते किन्तु यदि उनकी भाषा उनके मन की नहीं होती थी तो स्वयं संशोधित कर देते थे। भाषा ही नहीं विषय को भी सुधारते थे।

उनका सामाजिक दृष्टिकोण भी बड़ा खोजपरक और मानवता के प्रसंगों को बढ़ावा देने वाला था। आज आदिवासी विमर्श की बड़ी चर्चा है परन्तु इस दृष्टि से महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आज से सौ वर्ष पूर्व जो कार्य किया, आज हमारे लिए अनुकरणीय है। सत्यशोधक लेखक के उन्होंने तीन लेख 1. इतिहास का अध्ययन (फरवरी 1914), 2. समाजशास्त्र (जुलाई 1915), 3. समाजशास्त्र का अस्तित्व (अगस्त 1915), सरस्वती में प्रकाशित किये जो इतिहास और समाज-रचना पर मंथन करने वाले लेख हैं। आदिवासियों से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण लेख इसी शृंखला में देखे जा सकते हैं। सन् 1915 में द्वारिकानाथ मैत्र का लेख 'क्रम विकास' आदिवासियों पर ही है। दिसम्बर 1915 में सन्तराम का लेख 'किन्नर जाति' प्रकाशित किया। फरवरी 1907 में सीताराम सिंह का लेख 'आसाम' की

नग्न नागा जाति, जुलाई 1909 में शिवप्रसाद शर्मा का लेख (मध्यप्रदेश की गौड़ जाति पर) 'बैगाजाति के अनार्य' शीर्षक से प्रकाशित किये। इसी प्रकार अक्टूबर 1915 में धनीराम बख्शी का कोल जाति पर एक लेख 'हो जातीय, एक नया सम्प्रदाय' लेख प्रकाशित किया। जनवरी 1912 में श्यामसुन्दर वर्मा एक लेख नैनीताल की 'थारू जाति' पर प्रकाशित किया। इतना ही नहीं भारत के बाहर की आदिम जातियों पर भी उन्होंने लेख लिखवाए और छापे। सितम्बर 1911 में 'सरस्वती' में एक लेख 'प्रशान्त महासागर के टापुओं की कुछ असभ्य जातियाँ' शीर्षक से छपा जिसके लेखक का नाम नहीं है। यह लेख नरभक्षियों की जाति का विवरण प्रस्तुत करता है। उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका और अफ्रीका की आदिम जातियों पर भी लेख छापे। पृथ्वीराज गुप्त का एक लेख 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' अमेरिका में आदिवासियों पर प्राप्त होता है। अक्टूबर 2013 में रामनारायण शर्मा द्वारा लिखित लेख 'ब्रिटिश गायना के जंगलों का भ्रमण' उनका एक निजी अनुभव है जो दक्षिणी अमरीका की आदिम जातियों से सम्बन्धित है। 'उत्तरी अमरीका में शीमोहो-कानुमा-मोहिकी नामक जाति' शीर्षक से 'सरस्वती' के 1915 अक्टूबर के अंक में वीरसेन सिंह का लेख प्रकाशित किया था। मई 1911 में एक लेख 'जूलू लैण्ड अफ्रीका की असभ्य जूली जाति' प्रकाशित हुआ था जिसके लेखक का नाम नहीं दिया गया है। द्विवेदी जी का श्रेय इस बात से है कि उन्होंने ऐसे लेखकों को ढूँढ़ निकाला जो आदिवासियों पर लिख सके। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार ''द्विवेदी जी ने इस संबंध में जो निबन्ध प्रकाशित किये, उनमें किसी गम्भीर समाजशास्त्रीय विवेचन का प्रयास नहीं है। किन्तु इन परिचयात्मक निबंधों का अपना महत्व है। ये अधिकतर वन्य जीवन बिताते हैं, सभ्यता में पिछड़े हुए हैं, फिर भी इनमें अनेक गुण ऐसे हैं जिन्हें अधिक सभ्य कहलाने वाले अपनाए तो उन्हें लाभ होगा।'' (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृष्ठ 175)

यहाँ इसी क्रम में सितम्बर 1914 के 'सरस्वती' के अंक में पटना के हीरा डोम की प्रकाशित कविता 'अछूत की शिकायत' की चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा। यह कविता भोजपुरी में है। इसकी चार पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं -

पदरी सहेब के कचहरी में जाइबिजां,
बेधरम होके रंगरेज बन जाइबि।

हाय राम! धरम न छोड़त बनत बाजे
बेधरम होके कैसे मुहवाँ दखाइबि।।

इस कविता में हीरा डोम ने उन पादरियों की आलोचना की है जो अछूतों की दशा सुधारने का वादा करते थे। दीनबन्धु भगवान से कहा गया है कि शायद तुम भी मुझे डोम जानकर छूने से डरते हो। द्विज वर्ण के सभी लोग अपने-अपने काम में लगे हैं परन्तु डोम को पीने के लिए साफ पानी भी नहीं मिलता। जिस हाड़-माँस का शरीर ब्राह्मण का बना है, उसी का अछूत शरीर भी बना है, फिर क्या कारण है कि ब्राह्मण को पूजा जाता है और अछूत के हाथ पैर तोड़ दिये जाते हैं।'' उस समय की परिस्थितियों में इस प्रकार की कविता छापना निश्चित ही बड़ी हिम्मत का काम था। यों उनके द्वारा 'सरस्वती' में प्रकाशित अन्य अनेक कविताओं में तत्कालीन सामाजिक पक्ष उभरकर आया है। उस समय की मानसिकता पर व्यंग्य ऐसी कविताओं की विशेषता है। जुलाई 1901 में रघुनाथ प्रसाद की कविता 'लखनऊ वर्णन' की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं -

लेडी इंग्लिश और पारसी, गहरी धूम मचावें।
कर में कर दै दम्पत्ति बिचरैं, मिसैं जहाँ तहँ डोलें
ठसकनवाबी लम्बे पट्टे, चूड़ीदार टुटंगा
कान फुरहरी, हाथ रुमलिया, जूता रंग बिरंगा।
बने लिफाफा ऊपर चितवैं, फूँकन तैं उड़ि जावैं
घर में बेगम नंगी बैठी, आप नवाब कहावैं।।

सामाजिकता का यह स्वर 1903 के जुलाई अंक में प्रकाशित 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' कविता की इन पंक्तियों में दी गई धिक्कार में भी देखा जा सकता है -

न काशी और चन्देरी हमारी, न ढाका नागपुर नगरी बिचारी,
गई है नष्ट हो, जो देश भाई, दया उनकी तुम्हें कुछ भी न आई।
अकेला एक लुधियाना हमारा, चला सकता अभी है काम सारा।
फिरैं तिस पर जो और के द्वार; हमें फिर क्यों नहीं सौ बार धिक्कार।।

मई 1906 के अंक में नाथूराम शंकर की कविता 'हमारा अध:पतन' की यह पंक्तियाँ भी भले ही अलंकार रहित और अभिधात्मक हों परन्तु सामाजिक सजगता उनमें है -

सब तीत स्नेह की निचोड़ी, छलियों ने छाछ भी न छोड़ी।
क्यों जी बेजोड़ ब्याज खाना, दीनों को रात दिन सताना।
समझे हैं जो सुशील इनको, कहते हैं वे कुशील किनको?

'सरस्वती' में प्रकाशित उनके स्वयं के निबन्ध यह भी सिद्ध करते हैं कि वे अपने समय के साहित्यिक वातावरण पर भी पूरी दृष्टि रखते थे। उसके प्रति न केवल सजग थे वरन् आवश्यकतानुसार आलोचक भी थे। जनवरी 1908 में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ 'पुस्तक प्रकाशन' जिसमें भारतीय पुस्तक प्रकाशन की तुलना यूरोप और अमेरिका के प्रकाशन व्यवसाय से करते हुए यहाँ के लेखक की आर्थिक स्थिति को स्पष्ट किया। उस समय के लगभग सभी हिन्दी प्रकाशकों और प्रकाशन में सहायक राजे-महाराजों का विवरण इसमें मिल जायेगा। 'सरस्वती' की लोक प्रतिष्ठा और स्तरीयता के कारण इसमें प्रकाशित सामग्री हिन्दी की ही नहीं अन्य भाषाओं की पत्रिकाओं में चोरी करके प्रकाशित कर दी जाती थी। द्विवेदी जी इस ओर से सजग थे। 'हिन्दी साहित्य में डाकेजनी' (सितम्बर 1908); 'वत्सरिकविज्ञप्ति' (दिसम्बर 1908); 'सरस्वती के लेखों की नकल' (अगस्त 1911); 'लेखों की चोरी' (सितम्बर 1913) उनके लेख इस चोरी को केन्द्र में रखकर ही लिखे गए हैं।

और अन्त में केवल इतना ही कि उनकी सामाजिक चेतना चाहे जितनी भी सजग और चौकन्नी क्यों न रही हो वे मूल रूप में साहित्यकार ही थे। संस्कृत और हिन्दी में प्राप्त उनकी रचनाएँ भले ही मौलिक कृतियाँ न हों परन्तु उनमें एक ऐसे साहित्यकार की आत्मा है जो साहित्य को समाज के सन्दर्भ में देखती, परखती, शुद्ध करती और साहित्य रचना करने की प्रेरणा देती है। उनकी मूल छटपटाहट साहित्यिक थी, इसीलिए उन्होंने 'सरस्वती' को राजनीति से अलग रखा। उन्होंने साहित्यकार ही नहीं गणेशशंकर विद्यार्थी और बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे सम्पादक भी पैदा किया। उनकी मुख्य चिंता साहित्य और साहित्यिक संस्थाएँ थीं। उनकी सामाजिकता इसी से जुड़ी हुई थी। उन्होंने कभी भी किसी व्यक्ति विशेष के प्रचार के लिए 'सरस्वती' का उपयोग नहीं किया और साथ ही न कभी अपने लिए उसका उपयोग किया। यही कारण है कि 'सरस्वती' का प्रत्येक अंक एक सिद्ध अंक होता था। यह ठीक है कि उनमें विरोध सहन करने की क्षमता नहीं थी परन्तु उनका विरोध कभी भी व्यक्ति के प्रति न होकर साहित्यिक

प्रकृति का होता था, तार्किक होता था। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट पर 'सरस्वती' में उन्होंने जो कुछ लिखा उससे केदारनाथ पाठक अत्यन्त क्षुब्ध थे। वे उनसे मिलने कानपुर गए। उन्होंने 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में अपनी इस भेंट का जो वर्णन किया है उसे प्रस्तुत करके इस निबन्ध का अन्त करना चाहेंगे। उनका यह विवरण पाठकों को बहुत कुछ समझाने के लिए पर्याप्त है -

''पूज्यवर द्विवेदी जी से मेरा पहला उग्र प्रश्न यही हुआ कि सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा - क्या 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति का अवलम्ब लेना होगा? पर वाहरे सहृदयता! उसी समय श्रद्धेय द्विवेदी जी ने मुस्कुराते हुए सज्जनोचित शब्दों में कहा- 'देवता ! ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ।' बस घर में जाकर एक हाथ में गिलास-जिस पर एक सुन्दर तश्तरी में मिठाइयाँ रखी हुई थीं तथा दूसरे हाथ में एक लोटा पानी लिए हुए बाहर आये। लाकर मेरे सामने रख दिया, और उसी कमरे के कोने से एक मोटी लाठी भी लाकर मेरे सामने रख दी। मुस्कुराते हुए बोले- 'सुदूर प्रवास से थके माँदे आ रहे हो, पहले हाथ मुँह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ, तब - यह लाठी और मेरा मस्तक है।' मैं अपने उग्र प्रश्न और उद्दंड व्यवहार के प्रति ऐसा नम्रतापूर्ण और भद्रोचित सद्व्यवहार देखकर पानी-पानी हो गया। चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। क्रोध का स्थान करुणा ने ले लिया। हृदय में श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ पड़ा। उसी दिन से विद्वद्वर द्विवेदी जी पर दिन-दिन मेरी असीम श्रद्धा बढ़ती गई।''

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि

त्रिभुवन राय

द्विवेदी जी मूलत: व्यावहारिक आलोचक थे। 'सरस्वती' के संपादन का दायित्व स्वीकार करने के पहले ही उनकी कुछ आलोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। उनकी आत्म स्वीकृति है कि झाँसी के किसी अध्यापक के स्कूल के कोर्स के तृतीय रीडर के दोषों को दिखाने पर उन्होंने उसकी समालोचना पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित की थी, जिससे प्रभावित होकर इस रीडर के सत्वाधिकारी प्रयाग के इंडियन प्रेस ने उन्हें 'सरस्वती' के संपादन का कार्य दे डालने की इच्छा प्रकट की थी। (मेरी जीवन रेखा) बाद में 'सरस्वती' संपादक के रूप में उन्होंने वैचारिक नवता एवं ज्ञान-विज्ञान की नवीन उपलब्धियों के प्रचार-प्रसार के साथ साहित्य के विकास की दिशा को प्रशस्त करके युगीन नवजागरण के लिए जो पुष्ट आधार तैयार किया, उसमें उनकी आलोचनाओं की कारगर भूमिका थी।

साहित्य की श्रीवृद्धि के साथ स्वतंत्र चिंतन एवं तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास हेतु आलोचना की जरूरत को द्विवेदी जी भलीभाँति समझते थे। साथ ही वह यह भी मानते थे कि बेमतलब की अनर्गल आलोचना से न साहित्य का हित सधता है और न ही समाज का भला होता है। इसके विपरीत उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि सार्थक और साधिकार लिखी गयी आलोचना के द्वारा ही साहित्य एवं समाज की विकासमान जीवन दिशा के अपेक्षित मार्ग को अन्वेषित एवं आलोकित किया जा सकता है। इस ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए श्रीधर पाठक को लिखे गये अपने एक पत्र में वह साफ शब्दों में कहते हैं, 'जिस विषय पर समालोचक लिखे उस पर उसका पूर्ण अधिकार होने की स्थिति में ही साहित्यिक आलोचना उपयोगी हो सकती है।' (18.11.1900)। वह मानते थे,

'आलोचना से बड़े लाभ हैं। जिस साहित्य में आलोचना नहीं वह विटपहीन महीरूह के समान है। इसे देखकर आनंद नहीं होता। वह नीरस मालूम होता है।' (कालिदास के ग्रंथों की आलोचनाएँ) 'इसके आगे वह कालिदास के रघुवंश' और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशीयम' जैसी कृतियों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इस तरह की काव्यात्मक रचनाओं और उनके पात्रों के जीवन से जो शिक्षा मिलती है उसका असर 'अन्य रीति से दी गयी शिक्षा की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक होती है।' कारण कि प्रत्यक्ष शिक्षा में रस नहीं होता जबकि इस तरह की शिक्षा में अपूर्व रसास्वादन के साथ चिरस्थायिनी शिक्षा भी प्राप्त होती है। जो समालोचक 'ऐसे रहस्य का उद्‌घाटन करके कवि के आन्तरिक अभिप्राय को व्यक्त करता है वही सच्ची समालोचक है।' साहित्य की दुनिया में ऐसे आलोचक की जरूरत इसलिए भी होती है कि 'कवि या ग्रंथकार जिस मतलब से रचना करता है, उससे सर्वसाधारण को परिचित कराने वाले आलोचक ही होते हैं।' ऐसे समालोचकों की समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नति होती है और कवियों के गूढ़ाशय मामूली अक्लमंदों की भी समझ में आ जाते हैं। 'किन्तु इस कार्य को संपादित करने के लिए समालोचक में आवश्यक सहृदयता के साथ आलोच्य के प्रति 'अत्यंत सहानुभूति' का होना आवश्यक है।' 'लेखक कवि या ग्रंथकार के हृदय में घुसकर समालोचक को उसके हर एक परदे का पता लगाना चाहिए। ...किसी वस्तु या विषय के सब अंशों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। वह तब तक संयत नहीं जब तक कवि और समालोचक के हृदयों में कुछ देर के लिए एकता न स्थापित हो जाये।' कहना न होगा कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनाकार और समालोचक के बीच उसी समानधर्मिता की जरूरत पर बल देते हैं। सदियों पूर्व अपने काव्य के संदर्भ में जिसकी माँग भवभूति कर चुके थे। लगता है, जैसे यहाँ द्विवेदी जी भवभूति का समर्थन करते हुए कह रहे हैं, जब तक समालोचक कृतिकार के स्तर पर उठकर उसकी कृति का अवगाहन नहीं करता तब तक न तो वह उसके मर्म को साक्षात्कृत कर सकता है, न ही उसका सम्यक उद्‌घाटन एवं विवेचन कर सकता है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि समालोचक रचनाकार के स्तर की योग्यता हासिल करके ही आलोचना कर्म में प्रवृत्त हो। इस संदर्भ में द्विवेदी जी का कथन है, 'योग्य समालोचक के लिए यह कोई नहीं कह सकता कि जिसकी

पुस्तक की तुम समालोचना करना चाहते हो, उसके बराबर विद्वत्ता प्राप्त कर लो तब समालोचना के लिए कलम उठाओ।' होमर ने ग्रीक भाषा में 'इलियड' काव्य लिखा है। वाल्मीकि और कालिदास ने संस्कृत में अपने-अपने काव्य लिखे हैं। फिरदोसी ने फारसी में 'शाहनामा' लिखा है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि : कौन ऐसा समालोचक इस समय है जो इन भाषाओं में पूर्वोक्त विद्वानों के सदृश योग्यता रखने का दावा कर सकता है। (प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना) तभी भी इनकी समालोचना होती है और मर्मग्राही सहृदय समालोचक समय-समय पर इनके भीतर विचार के नये-नये रत्नों से पाठकों को परिचित एवं प्रभावित कराते रहे हैं।

द्विवेदी जी को यह स्वीकार करने में कोई झिझक नहीं कि 'समालोचना करने की नयी प्रणाली अंग्रेजी की बदौलत हम लोगों ने सीखी है।' वह यह भी मानते हैं कि अंग्रेजी साहित्य का एक अंश समालोचना भी है और वहाँ उसे आदर की दृष्टि से देखा जाता है। हिन्दी की अपेक्षा बंगला, मराठी और गुजराती जैसी उन्नत भाषाओं के विद्वान भी समालोचना को बुरा नहीं मानते। पर हिन्दी के रूढ़िवादी संकीर्ण हृदय लोग समालोचना को लेकर बखेड़ा खड़ा किये बिना नहीं रहते जबकि समालोचना भाषा और साहित्य की उन्नति को सुनिश्चित करने का कारगर उपाय है। अतएव द्विवेदी जी जनता, समाज साहित्य और देशहित में आलोचना हो निरन्तर बढ़ावा देने के प्रयत्न में संलग्नता का आह्वान करते हैं। हाँ 'आलोचना करते समय आलोचक को आलोच्य के देशकाल का भी ध्यान रखना चाहिए।' इस बात पर भी वह बल देते हैं, अन्यथा समालोचित पर अन्याय होने का बड़ा डर रहता है।

द्विवेदी जी की दृष्टि में 'समालोचक की उपमा न्यायाधीश से दी जा सकती है।' जैसे न्यायाधीश राग द्वेष और पूर्व संस्कारों से दूर रहकर न्याय का काम करता है। उसके फैसले सुनकर कोई प्रसन्न होगा या अप्रसन्न, उसकी निंदा होगी या प्रशंसा, इसकी वह कुछ परवाह नहीं करता। 'उसी प्रकार समालोचक भी' राग और द्वेष, द्रोह और दुराग्रह, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि की प्रेरणा से की गई टीकाओं की ओर दृक्पात नहीं करते। उन्हें घृणापूर्ण उपेक्षा की दृष्टि से देखकर केवल हँस दिया करते हैं। समालोचक को बड़े-बड़े कवियों, इतिहास लेखक और वक्ताओं की कृतियों पर फैसला सुनाने का अधिकार होता है।

सभ्यतापूर्ण और युक्तिसंगत शब्दों में उसके फैसले की आलोचना करने का सबको मजाज है। यदि असभ्यतापूर्ण और उपहासजनक शब्दों में कोई किसी जज के फैसले की आलोचना करता है तो उसे अदालत में दंड मिलता है। दूसरे का उपहास करने ही के उद्देश्य से असभ्यतापूर्ण शब्दों में समालोचना करने वाले को भी हिन्दी को छोड़कर अन्य भाषाओं के साहित्य सेवियों की अदालत में सजा मिलती है। कहना न होगा कि यहाँ तत्कालीन हिंदी आलोचना के माहौल में प्राप्त द्विवेदी जी का अपना अनुभव बोल रहा है।

द्विवेदी जी का दो टूक कथन है कि 'खंडन-मंडन और समालोचना की रीति परंपरा से चली आयी है। शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट तक ने अपने पूर्वाचार्यों के मत की समालोचना की है और कहीं-कहीं बहुत कड़े शब्दों में की है।' अत: समालोचक द्विवेदी जी के मतानुसार ग्रंथ और ग्रंथकार की विशेषताओं के उद्घाटन के साथ उसके दोषों को भी पूरी निर्भीकता के साथ उजागर करना चाहिए। इस दृष्टि से स्वयं द्विवेदी जी हर्ष एवं भारवि के साथ अपने सर्वाधिक प्रिय कवि कालिदास के दोषों की भी पूरे तीखेपन के साथ चर्चा करते है। समालोचक के लिए अपेक्षित निर्भीकता एवं साहस के संबंध में द्विवेदी जी अपना दृष्टिकोण 'वेद क्या भगवद्वाणी है' लेख में व्यक्त करते हैं। वेद के अपौरुषेयता के संबंध में पंडित रामावतार शर्मा और श्री उमेश चन्द्र विद्यारत्न के स्वतंत्र दृष्टिकोण की सराहना करते हुए लिखते हैं, 'इस बदले हुए जमाने में भी पंडित रामावतार शर्मा के सदृश कुछ स्वतंत्र स्वभाव के पंडित दीख पड़ते हैं। स्वतंत्र स्वभाव से हमारा मतलब ऐसे स्वभाव वाले सज्जनों से है जो मन की बात समाज की समझ के प्रतिकूल होने पर भी नि:शंक कह डालने का साहस कर सकें। कितने पंडित वेदों को अपौरुषेय नहीं समझते। पर खुलकर वैसा कहने का साहस नहीं कर सकते। द्विवेदी जी के विचार में, 'ऐसा आचरण विद्वानों को शोभा नहीं देता। मुँह में एक, पेट में एक, यह सिद्धान्त पंडितों का न होना चाहिए। अप्रिय सत्य का अपलाप करना पंडितों का काम नहीं।'' प्रकट है, साहसपूर्ण निर्भीकता द्विवेदी जी आलोचना कर्म के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी मानते हैं। परमपरा अथवा सामाजिक रूढ़ियों के भयवश सत्य से आँखें चुराने वाला विद्वान एवं आलोचक न समय के साथ चल पाता है नहीं स्वतंत्र चिंतन को बढ़ावा दे पाने में समर्थ होता है। यही कारण है कि हिन्दी नवरत्न की तीखी आलोचना करते हुए भी पंडित प्रवर द्विवेदी इस बात के लिए मिश्रबंधुओं की प्रशंसा

किये बिना नहीं रहते। वह लिखते हैं, 'जिस महात्मा के संबंध में लोगों का यह विश्वास है कि वह मुर्दों को जिन्दा कर देता था-विधवाओं को सधवाकर देता और पापियों को पुण्यात्मा बना देता था। उसी की परम पुनीत मानी गई रामायण के गुणों का वर्णन करके उसके दोषों का भी नि:संकोच होकर उद्‌घाटन करना लेखकों की न्यायशीलता, मानसिकता दृढ़ता और सत्यपरता का परमीज्जल उदाहरण है। जो मनुष्य समाज के भय की परवा न करके अपने मन की बात कह डालने से नहीं हिचकता उसके मानसिक बल और वीरत्व की जितनी प्रशंसा की जाये कम है। जिस समाज में विचार स्वातंत्र्य नहीं वह चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता और जिस साहित्य में स्वतंत्र विचारपूर्ण पुस्तकें नहीं वह कभी उन्नत नहीं हो सकता। हिंदी के सौभाग्य से इन पुस्तक के लेखकों में विचार स्वातंत्र्य है। यह लेखकों के लिए कम गौरव की बात नहीं है।' जाहिर है, वैचारिक स्वातंत्र्य को द्विवेदी जी आलोचना के लिए आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यह इसलिए भी इससे जहाँ समाज को अर्थहीन रूढ़ियों से छुटकारा मिलता है, वहीं उसके विकास को गति प्राप्त होती है। ऐसा न होने पर समाज के जड़ बने रहने का खतरा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। मनुष्यता के विकास की दृष्टि से यह स्थिति बाधक एवं अवरोधकारी होती है।

'सरस्वती' के संपादक के रूप में द्विवेदी जी ने शिक्षक, अनुवादक, निबंध लेखक आलोचक एवं कठोर साहित्यशास्त्री जैसी अनेक भूमिकाओं का एक साथ निर्वहन किया। उनकी सफलता का राज उनकी अनेक आयामी भूमिकाओं में तो है ही, उनके मार्गदर्शक, संपादन कौशल एवं सिद्धान्तनिष्ठ कठोर आलोचना कर्म में विशेष रूप से निहित है। साहित्य के कठोर नियंत्रक आचार्य द्विवेदी के समालोचक के संबंध में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का कथन है, 'द्विवेदी जी का एक बड़ा काम उनकी समालोचनाएँ है। उनके समय में 'सरस्वती' का पुस्तक परिचय महत्त्वपूर्ण था। द्विवेदी जी की सम्मति एक कठोर निरीक्षक की सम्मति थी। सर्वसाधारण में यह विश्वास रहता है कि जो विद्वान हैं वे खूब सोच-विचार कर गुण-दोषों की अच्छी तरह परीक्षा कर किसी रचना पर अपनी सम्मति दिया करते हैं।' अतएव वह सहज ही उनका विश्वास करते, देर सबेर जो उनके आचरण को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। द्विवेदी जी अपनी समीक्षाओं में रचना के सत्-असत् पक्षों पर विचार के साथ उन सिद्धान्तों की चर्चा भी करते चलते हैं, जो सत्साहित्य के निर्माण की आधारभूमि प्रस्तुत करते हैं। इस प्रक्रिया

में जहाँ वह कवियों एवं लेखकों को उनकी भाषिक दुर्बलताओं के प्रति सचेत करते हैं। वहीं समय संदर्भ में विषय और शेली के प्रति उन्हें जागरूकता बरतने का आह्वान भी करते हैं। समान धर्मालोचक बंधुओं से वह यह कहे बिना नहीं रहते कि 'किसी पुस्तक में क्या लिखा है, किस ढंग से लिखा गया है,यह विषय उपयोगी है या नहीं। इससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, यह विचारणीय विषय है।' (कवि कर्त्तव्य लेख) समय, समाज और देशहित के प्रति आचार्य की जागरूक संलग्नता उन्हें रचना में जहाँ भी इनके पक्ष की बातें दिखायी देती वहाँ वह रेखांकित करने और सराहने से अपने को नहीं रोक पाते। तभी तो 'भारत भारती' के प्रकाशित होने पर वह गद्‌गद्‌ भाव से लिखते हैं, 'यह काव्य वर्तमान हिंदी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्तमान और भावी कविता के लिए यह आदर्श का काम देगा। यह सोते हुओं को जगाने वाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्यमियों को उद्योगशील बनाने वाला है, आत्म विस्मृतों को पूर्व स्मृति दिलाने वाला है, निरुत्साहित्यों को उत्साहित करने वाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है, यह पूर्व पुरुषों के विषय में भक्ति भाव का उन्मेष कर सकता है, यह सुख, समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिंदी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। इससे हम लोगों को मृतप्राय नसों में शक्ति का संचार हो सकता है। उनमें चिर सजीवता आ सकती है, क्योंकि हम क्या थे, और अब क्या है, इसका मूर्तिमान चित्र इसमें देखने को मिल सकता है।' 'भारत-भारती' के सर्वप्रथम प्रकाशन की एक शताब्दी की यात्रा के बाद आज का आलोचक द्विवेदी जी के उक्त कथन को अतिशयोक्ति मूलक कह सकता है। वह अनेक बिन्दुओं पर प्रश्न उठाते हुए उसकी श्रेष्ठता को भी अमान्य कर सकता है। किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में द्विवेदी जी के उद्देश्य के संदर्भ में उनके उपरोक्त कथन में व्यक्त भावनाओं का खारिज करना कठिन होगा। ध्यान देने की बात है कि बालमुकुन्द गुप्त भी उस समय साहित्यिक रचनाओं की श्रेष्ठता के प्रतिमान के रूप में 'देश और समाज की भलाई में उसकी भूमिका को ही व्यवहृत कर रहे थे। बंगला नाटक 'अश्रुमती' के हिन्दी अनुवाद की आलोचना करते हुए प्रश्नात्मकता के धरातल पर वह लगभग वही बात कहते हैं, भारत-भारती के संदर्भ में तथा अन्यत्र भी जो बात द्विवेदी जी

ने कही है। वह कहते हैं, 'हमारी समझ में आया कि इसके बनाने वाले ने क्यों इस पुस्तक को बनाया है? बनाने में उसका उद्देश्य क्या था? देश की भलाई, समाज को बनाया है? बनाने में उसका उद्देश्य क्या था? देश की भलाई, समाज की भलाई, साहित्य की भलाई तीनों में कौन-सी बात इसको बनाने में सोची गयी?''

हिन्दी समीक्षा के यशस्वी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बाद में साहित्य के प्रतिमान के रूप में जिस लोक मंगल के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, यह नहीं भूलना चाहिए कि उसकी जमीन तैयार करने में द्विवेदी जी की कम भूमिका नहीं थी। विचारपूर्वक देखें तो शुक्ल जी के इस सिद्धान्त के मूल में जहाँ एक ओर तुलसी का साहित्यादर्श काम कर रहा था वहीं दूसरी ओर आचार्य द्विवेदी की, 'समाज देश और धर्महित की चेतना भी कम क्रियाशील नहीं थी।'

साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपना कार्य मुख्य रूप से संस्कृत साहित्य को लेकर किया है। साहित्य समालोचक के रूप में उन्होंने संस्कृत के तीन महाकवियों, श्री हर्ष, विल्हण और कालिदास के कृतित्व की विस्तार से आलोचना की है। इनके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य के अपने आलोचनात्मक अध्ययन के क्रम में उन्होंने आदि कवि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, भवभूति, भारवि माघ और जगद्धर भट्ट जैसे कवियों को भी अपने अध्ययन एवं विवेचन का विषय बनाने हुए उन पर सारगर्भित टिप्पणियाँ की हैं। संस्कृत साहित्य पर उनकी पहली आलोचना पुस्तक 'नैषध चरित चर्चा' है जिसका लेखन काल 1819 ई. और प्रथम प्रकाशन काल 1900 ई. है। विल्हण कृत 'विक्रमांक देव चरित' पर उनकी दूसरी आलोचना पुस्तक 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' का सर्वप्रथम प्रकाशन 1907 में हुआ था। यद्यपि इसका लेखन कार्य 1902-03 में ही पूरा हो गया था। संस्कृत कवियों में उनके सर्वाधिक प्रिय और आदर्श कवि कालिदास हैं। इसलिए उन पर जमकर काम करते हुए उन्होंने दो पुस्तकें लिखीं-(1)कालिदास और उनकी कविता (2) कालिदास की निरंकुशता। इन दोनों पुस्तकों का अधिकांश 1910-11 ई. में लिखा गया और 1911 की 'सरस्वती' के विभिन्न अंकों में क्रमशः प्रकाशित भी हुआ। पुस्तक रूप में इनमें पहले कालिदास की निरंकुशता 1911 ई. में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई। 1920 ई. में राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर जबलपुर से 'कालिदास और उनकी कविता' का प्रकाशन हुआ। इनके अतिरिक्त लाला सीताराम कृत कालिदास के ग्रंथों के हिंदी

अनुवाद के रूप में प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी कालिदास' की दुर्बलताओं को लेकर भी द्विवेदी जी ने तीखी आलोचना लिखी है।

आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में संस्कृत साहित्य की द्विवेदी जी की सबसे महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृति 'कालिदास और उनकी कविता' का उल्लेख किये बिना ही उनके संस्कृत साहित्य की आलोचना को 'मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं कहकर एक तरह से खारिज करने का प्रयत्न किया है।' किन्तु तटस्थ दृष्टि से द्विवेदी जी की संस्कृत आलोचनाओं विशेष रूप से 'कालिदास और उनकी कविता' का अवगाहन करने वाले किसी भी सुधी पाठक का शुक्ल जी के निर्णय को ज्यों का त्यों स्वीकार करना कठिन है। 'नैषध चरित चर्चा' और 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' में भी वह इनके सट्पक्ष के साथ असद् पक्ष पर भी जिस तटस्थता और विवेक दृष्टि से विचार करते हैं, उसकी भी अनदेखी नहीं की जा सकती। संस्कृत कवियों में द्विवेदी जी वाल्मीकि और व्यास के बाद कालिदास को सबसे बड़ा कवि मानते हैं। किन्तु इसके बाद भी उन्होंने उनके दोषों की आलोचना की और डटकर की। यह जानते हुए भी कि कालिदास के दोषों पर बात करना रूढ़िवादियों एवं परंपरावादियों के लिए असहनीय एवम कष्टकर होगी। 'कालिदास की निरंकुशता' पुस्तक उन्होंने पूरी निर्भीकता और साहस के साथ लिखी, जिस पर उस समय बवाल भी कम नहीं हुआ।

यह ठीक है कि उच्चकोटि की साहित्यिक आलोचना के लिए एक समीक्षक से आचार्य शुक्ल जी जो अपेक्षाएँ हैं, वह द्विवेदी जी संपूर्णतया पूरी नहीं करते, तथापि उनके विस्तृत अध्ययन, कृति के मर्म की गहराई में पैठने वाली उनकी क्षमता से इन्कार नहीं किया जा सकता यह सच है कि द्विवेदी जी ने अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं की आलोचनाओं से पर्याप्त लाभ उठाया है। उन्होंने अपनी आलोचनाओं में ही नहीं इतर लेखन में भी इन भाषाओं में उपलब्ध मूल्यवान सामग्री का नि:संकोच उपयोग किया है। लेकिन इसके पीछे उनकी दृष्टि थी हिन्दी को व्यापक और समृद्ध करने की उसके लेखकों, कवियों एवं साहित्यकर्मियों को प्रेरित करने एवं आगे बढ़ाने की।

द्विवेदी जी जिस तरह से पुराने साहित्य को आधुनिक दृष्टि से देखते और

परखते हैं, वह भी उनके सजग आलोचक का ही परिचायक है। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को द्विवेदी जी संस्कृत के तीन कालजयी कवि मानते हैं, इनकी रचनाओं में उनके अपने समय, समाज और सभ्यता के चित्र तो मिलते ही हैं, उनमें उन्हें मानवता के वे तत्व भी प्राप्त होते हैं, जो आज भी समाज का पथ-प्रशस्त करने में समर्थ हैं। भारतीय साहित्य के आधार पर द्विवेदी जी हमारी सभ्यता के विकास की तीन अवस्थाएँ निर्धारित करते हैं। (1) नैतिक अवस्था (2) नैतिकता और भौतिकता के द्वन्द्व की अवस्था (3) जीवन और सौन्दर्य को ही सब कुछ समझने वाली अवस्था, जिसमें विलासिता के साथ चिन्तन एवं दर्शन की विभिन्न उपलब्धियाँ समाज को संपन्न करती हैं। सभ्यता की इन तीन स्थितियों का काव्यात्मक प्रतिनिधित्व वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के साहित्य में प्राप्त होता है। चौथी अवस्था में इन तीनों का सम्यक समावेश होता, इसके पहले ही हमारे ऊपर असभ्य लोगों का आक्रमण शुरू हो गया था। यह तो शंकराचार्य थे, जिन्होंने दर्शन और धर्म के दृढ़ आधार पर समाज और सभ्यता को विशृंखलित होने से बचाया। भवभूति के नाटकों में भी उस समय विषय वासना से अलग रखकर पात्रों को आत्मतत्त्व के विचारों में निमग्न दिखाकर सामाजिक जीवन को संयमशील और निर्मल बनाने का संदेश दिया गया। इस संदर्भ में द्विवेदी जी लिखते हैं, 'उस समय संस्कारों की अतीव आवश्यकता थी किन्तु यह काम अच्छी तरह शुरू भी नहीं हुआ था कि विघ्न पड़ गया। अतएव भारत उसी विषयासक्त समाज के बचे-खुचे निकम्मे लोगों को लेकर ही पुनः अपना सामाजिक जीवन कायम रखने को मजबूर हुआ।' इस विवेचन क्रम में आलोचक द्विवेदी की दृष्टि के अपने वर्तमान संदर्भ एवं देश की पराधीनता से उपजी स्थितियों के विरुद्ध होने वाले संघर्ष पर टिकी होने के कारण यह सवाल उनके भीतर उठे बिना नहीं रहता कि 'भारत ने अपने काम को जिस जगह पर छोड़ दिया था, उस जगह से क्या फिर भी वह आगे बढ़ा सकेगा? हमें ऐसी आशा नहीं।' पर द्विवेदी जी की निराशा के विपरीत भारत ने उस काम को आगे बढ़ाया ही नहीं है, मंगलयान तक को भी सफलता से साधा है।

कहना न होगा कि द्विवेदी जी की निराशा की तह में भी आशा और विश्वास का यही भाव छिपा हुआ था। इस प्रकार शंकराचार्य और उनकी दिखलाई हुई राह को प्रशस्त करने वाले महानुभावों की कृपा के फलस्वरूप सभ्यता का जो

बीज बना हुआ था वह चुनौतियों के बीच भी अंकुरित पल्लवित और पुष्पित हो रहा है। इस संदर्भ में ध्यान देने की बात है कि देश की सभ्यता की विविध स्थितियों से जोड़कर द्विवेदी जी ने संस्कृत साहित्य का जिस तरह से आकलन प्रस्तुत किया है वह अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

'कालिदास की विद्वत्ता' शीर्षक लेख में द्विवेदी जी ने उनके भाषाधिकार, कल्पनाशक्ति और उनकी स्वभावानुसारिणी यथार्थ चित्रात्मकता का उद्‌घाटन सटीक उदाहरणों के माध्यम से जिस तरह से किया है, वह उनकी अध्ययनशीलता और आलोच्य के मर्म की तह तक पैठने वाली प्रतिभा क्षमता का ही द्योतक है। महाकवि कालिदास के वैशिष्ट्य को उद्‌घाटित करते हुए द्विवेदी जी संक्षेप में किन्तु प्रभावी रूप में लिखते हैं, 'कालिदास की तर्कशक्ति बहुत अच्छी थी। शृंगार और करुण रस के वर्णन में वे सिद्धहस्त थे। कालिदास में प्रधान गुण यह था कि प्रत्येक काव्योपयोगी सामग्री को काव्य के प्रत्येक अंश को बड़े ही कौशल से सुन्दर बना देते थे। अपने वर्णनीय विषय की मूर्ति पाठकों के सामने खड़ी कर देने की शक्ति जैसी कालिदास में थी वैसी और किसी कवि में नहीं पायी जाती।' कालिदास के किसी भी सजग अध्येता का यहाँ द्विवेदी जी से असहमत होना कठिन है। अतएव संस्कृत साहित्य की उनकी समालोचनाएँ न उपेक्षणीय है, न ही खारिज करने के लायक। हर्ष, विल्हण और भारवि जैसे कवियों के संबंध में उनकी प्रतिकूल टिप्पणियाँ भी निराधार नहीं कही जा सकतीं। अपनी आलोचनाओं में उन्होंने शास्त्रीय खंडन-मंडन, काव्यात्मक, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक आदि अनेक पद्धतियों का आवश्यकतानुसार उपयोग किया है। तुलनात्मक आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण वहाँ प्राप्त होता है जहाँ वह कालिदास और भवभूति की तुलना करते हैं। भवभूति की विशिष्टताओं को नजरअंदाज किये बिना वह यहाँ कालिदास के सम्मुख उनकी सीमाओं को जिस तरह से उजागर करते हैं वह ध्यान देने योग्य है- 'कालिदास ने जिस बात को बड़ी खूबी के साथ थोड़े में कह दिया है उसी को भवभूति ने बेहद बढ़ाया है। मनोभावों का बढ़ाकर वर्णन करना कहीं अच्छा लगता है, कहीं नहीं अच्छा लगता। ...शब्द चित्रण में भवभूति बढ़े-चढ़े थे, भावोद्बोधन में कालिदास।' (द्रष्टव्य, रचनावली, खंड, पृ. 246) इसी तरह कालिदास के वैशिष्ट्य को रेखांकित करने के लिए वह अश्वघोष और विश्व प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर तक से तुलना करने में पीछे नहीं रहते। दूसरी ओर

नैषध की क्लिष्टता के प्रसंग में द्विवेदी जी को भारवि की नारिकेल वाली कठोरता का ध्यान भी स्वत: आ जाता है।

पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी के किसी कवि अथवा कृति पर पुस्तकाकार रूप में कोई व्यवस्थित आलोचना नहीं लिखी है। साहित्य संबंधी व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में हिन्दी की उनकी दो विस्तृत समीक्षाएँ बहुचर्चित एवं विचारणीय रही हैं। इनमें उनकी पहली समीक्षा 'हिन्दी नवरत्न शीर्षक से सरस्वती के जनवरी और फरवरी 1912 के अंकों में प्रकाशित हुई थी। दूसरी निबन्धात्मक 'समीक्षा' आजकल के हिन्दी कवि और कविता शीर्षक से छायावादी कवियों पर लिखी गयी थी, जो सरस्वती के मई 1927 के अंक में प्रकाशित हुई। 'साहित्यालाप' में यह 'आजकल के छायावादी कवि और कविता' शीर्षक से तथा 'संचयन' में 'आजकल की कविता' शीर्षक से संकलित हुई है। सरस्वती में लेखक का छद्मनाम 'श्रीयुत सुकवि किंकर' दिया गया है।'

मिश्रबंधुओं (गणेश बिहारी मिश्र 'श्याम बिहारी मिश्र और पं. शुकदेव बिहारी मिश्र') का 'हिन्दी नवरत्न' 1910 ई. में प्रकाशित हुआ था। उसके संदर्भ में बाद में उन लेखक 'महोदयों का एक पत्र अनेक समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ, जिसमें यह सूचना दी गयी थी कि आप लोग हिन्दी साहित्य का कोई एक हजार पृष्ठों का इतिहास लिख रहे हैं जो कि समाप्त प्राय है। लेखकों की इस सूचना को देखकर द्विवेदी जी ने इस पर कुल 27 पृष्ठों की अपनी विस्तृत समीक्षा इस सूचना के साथ लिखी कि 'अब यदि इस लेख में कुछ सार हो तो उसे ग्रहण करके लेखक महोदय हिन्दी साहित्य के इतिहास को निर्दोष बनाने की चेष्टा करें। और यदि न हो तो जाने दें।''

प्रकट है, नवरत्न के दोषों ने ही आलोचक द्विवेदी को प्रस्तुत लेख लिखने के लिए उत्तेजित एवं विवश किया था। अतएव नवरत्न के चयन, उनकी विषयवस्तु और उसमें प्रयुक्त भाषा में लक्षित होने वाली दुर्बलताओं पर द्विवेदी जी ने सूक्ष्म दृष्टि से पड़ताल करते हुए पूरे तीखेपन के साथ उन्हें विभिन्न कोणों से उजागर करने का प्रयत्न किया है। नवरत्न के प्रथम संस्करण में मिश्र बंधुओं ने कुल नौ कवियों-तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, केशव, चन्द (चन्दबरदाई) और भारतेन्दु हरिश्चंद्र को स्थान दिया था। पुन: इन कवियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया था। प्रथम श्रेणी में उन्होंने तुलसीदास और सूरदास

के साथ देव को रखा, तृतीय श्रेणी में मतिराम के साथ चन्द और भारतेन्दु को सम्मिलित किया। द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत उन्होंने बिहारी, भूषण और केशवदास को स्थान दिया। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि पहली बार उन्होंने इन नौ रत्नों में कबीर का चयन नहीं किया था किन्तु काफी ऊहापोह के बाद उन्हें कबीर को लेना भी ठीक जँचा था। फिर भी पूर्व चयनित कवियों में से किसी को भी हटाना उचित न समझकर उन्होंने भूषण और मतिराम को त्रिपाठी बन्धुनाम देकर एक कर दिया। इस प्रकार परवर्ती संस्करणों में कुल दस कवियों को लेकर भी उन्होंने मूल शीर्षक ज्यों का त्यों रहने दिया। मिश्रबन्धुओं ने इन कवियों के चयन का कोई तर्कसंगत सुनिश्चित आधार सामने न रखकर अपनी वैयक्तिक रुचि को ही निर्णायक पैमाने के रूप में इस्तेमाल किया। इस पर द्विवेदी जी मिश्रबन्धुओं की आलोचना करते हुए यह सवाल उठाते हैं कि कवि विशेष को रत्न श्रेणी में रखा जरूर गया लेकिन इस श्रेणी का लक्ष्य नहीं बताया गया। ऐसा क्यों? तर्क करते हुए वह आगे कहते हैं, 'यह कवि साधारण श्रेणी का है, यह नीच श्रेणी का, इसकी कविता उससे उत्तम है, उसकी उससे, यह अमुक श्रेणी का है, यह अमुक की। यह तो लेखकों का कथन मात्र हुआ, यह कोई लक्षण नहीं। वे अपनी रुचि के अनुसार जिसको जैसा चाहे समझ सकते हैं। यदि किसी को रामायण से आल्हा अच्छा जँचे तो वह उसे रत्न समझ सकता है। पर यदि वह चाहता है कि और लोग भी उससे इस विषय में सहमत हों तो उसे अपने मत की पुष्टि में कुछ कहना भी चाहिए। पुनः रत्न श्रेणी में वृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी पर प्रश्न उठाते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं- 'पहली त्रयी के तीनों कवियों की योग्यता उन्होंने एक सी ठहराई है, किसी को किसी से रत्ती भर भी न्यूनाधिक नहीं समझा। दूसरी और तीसरी त्रयी के कवियों की योग्यता या महत्ता उसी क्रम में उन्होंने न्यूनाधिक निश्चित की है जिस क्रम से उनके नाम उन्होंने दिए हैं। इस श्रेणी और त्रयी विभाग ने इस विषय को और अधिक जटिल कर दिया है। अब, यदि कोई विद्वान देव की पुस्तकों को विचारपूर्वक पढ़कर यह निश्चय करें कि उनका दर्जा बाबू हरिश्चंद्र से भी नीचे है तो उसके और प्रस्तुत लेखकों के निश्चय की जाँच किस तरह की जाये और दोनों पक्षों में से बात किसकी मानी जाये?''

अपने विचारक्रम में द्विवेदी जी मिश्रबन्धुओं को इस बात के लिए भी आरोपित करते हैं कि उन्होंने आचार्य और महाकवि की पदवियों का भी स्पष्टीकरण

नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने इन पदवियों का बाँट-चूँट बड़ी ही उदारता से किया है। उन्हें इस बात पर आपत्ति है कि 'जिन सूर और तुलसी के ग्रंथों की पूजा झोपड़ियों से लेकर राज प्रासादों तक में होती है, जिनके कविता कुसुमों को छोटे से लेकर बड़े तक अपने सिर पर धारण करते हैं, उनकी उत्तम भावपूर्ण उक्तियाँ पापी को पुण्यात्मा और अधर्मियों को धार्मिक बनाने का सामर्थ्य रखती हैं जिनके सदुपदेश और सरस पद्म सुनकर दुराचारी भी सदाचारी हो जाते हैं और पाषाण हृदय भी पिघल उठते हैं, उन्हीं से देव कवि को रत्ती भर कम न समझना युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।' इसके आगे वह अपना सुनिश्चित मत प्रकट करते हुए कहते हैं, 'जिसने उच्च भावों का उद्‌बोधन नहीं किया, जिसने समाज देश या धर्म को अपनी कविता द्वारा विशेष लाभ नहीं पहुँचाया, जिसने मानव चरित्र को उन्नत करने योग्य सामग्री से अपने शब्दों को अलंकृत नहीं किया। वह भी यदि महाकवि या कवि रत्न माना जा सकेगा तो प्रत्येक देश क्या प्रत्येक प्रान्त में भी सैकड़ों महाकवि और कवि रत्न निकल आवेंगे।'

द्विवेदी का निश्चित मत है कि रीतिकालीन 'मतिराम, देव और भूषण चाहे जितने अच्छे कवि रहे हों, पर उनके ग्रंथ उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि सूर और तुलसी के। फिर वे सूर और तुलसी की श्रेणी की सीमा के भीतर कैसे आ सकते हैं? उनका सुविचारित कथन है कि 'सूर और तुलसी के ग्रंथों में कुछ विशेषता अवश्य है, जिसके कारण उनका व्यापक प्रचार और इतना अधिक आदर है। और देव तथा मतिराम आदि के ग्रंथों में तदपेक्षा कुछ हीनता अवश्य है, जिससे उनका इतना प्रचार और आदर नहीं। अतएव, ये सब एक ही श्रेणी के कवि नहीं। सूर और तुलसी में अवश्य समता है। मतिराम, भूषण, देव, केशव, और बिहारी में समता है, पर विशेष नहीं। चन्द अपने ढंग के एक ही हैं और बाबू हरिश्चन्द्र तो सबसे निराले हैं लेखकों ने अपने नवरत्न कवियों के जो तीन त्रयी भेद किये हैं वे स्वयं इस बात के प्रमाण हैं कि ये सब एक ही कक्षा के कवि नहीं।''

अतएव द्विवेदी जी की दृष्टि में 'नवरत्न के कवियों का चयन और उनका त्रिधा वर्गीकरण न तर्क संगत है, न उपयुक्त। पुनः चुने गये कवियों के लिए 'उत्तम' और 'परमोत्तम' जैसे विशेषणों का बेहद और बेहिसाब प्रयोग पाठकों को और भी भ्रमित करता है। विभिन्न कवियों के संबंध में मिश्रबंधुओं की अमर्यादित अत्युक्तियों को भी द्विवेदी जी किसी इतिहासकार के लिए शोभनीय नहीं मानते।

तुलसीदास के रामचरितमानस, देव के छंदों की उत्तमता आदि के संबंध में नवरत्न के लेखकों की अर्गला रहित बातों का विरोध करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं, 'संसार अनन्त काल अनन्त भाषाएँ अनन्त। (पू.वि.) मनुष्य की उम्र थोड़ी। इस दशा में सारे संसार की भाषाओं के सारे साहित्य का कितना ज्ञान मनुष्य को हो सकता है, यह पाठक ही समझ देखें। किसी एक भाषा के साहित्य का सर्वांगीण परिचय होना दु:साध्य है, फिर सारी भाषाओं का लेखक क्या इस बात का दावा कर सकते हैं कि अंग्रेजी फारसी और संस्कृत भाषाओं के सारे काव्य उन्होंने देख डाले हैं? यदि नहीं तो उनको ऐसी भुवन व्यापिनी अत्युक्ति न कहनी चाहिए।''

'नवरत्न' के लेखकों में द्विवेदी जी एक दोष वदतो व्याघात का भी पाते हैं, स्वयं अपने ही एक कथन का किसी अन्य कवि के संदर्भ में खंडन करते उन्हें देर नहीं लगती। एक तो 'रसराज' जैसे मतिराम के सामान्य ग्रंथ पर मुग्ध होकर 'नवरत्न' के लेखकों ने उन्हें महाकवि एवं कविरत्न के आसन पर प्रतिष्ठित किया। फिर नायिका भेद के ग्रंथों में उसे बहुत ऊँचे पद का अधिकारी बतलाया। द्विवेदी जी का इस संदर्भ में कथन है कि यदि विलासिता की हद को स्पर्श करने वाले ऐसे ग्रंथ को ऊँचा पद देना था तो फिर तुलसी की कृष्ण गीतावली की आलोचना करते हुए उन्होंने यह क्यों कहा कि उन्होंने (तुलसी ने) नायक-नायिकाओं के घृणित प्रेम को छोड़कर ऊँचे दर्जे के प्रेम का वर्णन किया है। वह पुन: कहते हैं कि 'यदि नायक-नायिकाओं का प्रेम घृणित प्रेम है तो मतिराम के 'केलिकै राति अघाते नहीं दिनहू में लला प्रतिघात लगाई।'' इत्यादि पद्य भी घृणित प्रेमपूर्ण है या नहीं? यदि है तो फिर ये कैसे महाकवि और कैसे कवि रत्न।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को मतिराम के नीचे स्थान देने पर द्विवेदी जी गहरे आश्चर्य एवं उद्विग्नता के साथ कहते हैं, 'जिन हरिश्चन्द्र ने भिन्न-भिन्न विषयों के कितने ही गद्य पद्यात्मक काव्य, नाटक और इतिहास आदि लिखे और जिनकी बदौलत हिन्दी भाषा ने एक नया रूप पाया वे भी रत्न। और पुराने पंथ के पथिक, नायिका, भेद आदि पर बहुत ही कम उपयोगी ग्रंथ लिखने वाले मतिराम और देव भी रत्न। रत्न शब्द की इससे अधिक अवहेलना और क्या हो सकती है? लेखकों के अनुसार प्रतिनिधि कवि होकर भी बेचारे हरिश्चन्द्र नवरत्न की लघुत्रयी ही में नहीं पटके गये, किन्तु मतिराम महाराज के आसन से नीचे उतार दिये गये।'

नवरत्न के लेखकों द्वारा कवियों के चयन एवं स्थान निर्धारण में भाव

तत्व की नितांत उपेक्षा को भी द्विवेदी जी ने बहुत चिन्त्य माना है। महाकवि चन्द बरदाई के संदर्भ में वह इस तथ्य को रेखांकित करते हुए लिखते हैं 'चन्द के समय का कविरत्न मतिराम के समय में कविरत्न नहीं माना जा सकता और मतिराम के समय का हरिश्चंद्र के समय में नहीं। कारण कि 'समय के अनुसार भाषाओं में परिवर्तन होता है और समय के अनुसार मनुष्यों की रुचि भी बदलती है।' अतएव चिन्तन, उपयोग और उच्च विचारों की दृष्टि से न्यूनाधिक महत्त्व के ग्रंथ लिखने वाले भिन्न समयों में होने वाले कवि कुसुम एक ही माला में नहीं गूँथे जा सकते। हाँ सूर और तुलसी आदि के काव्यों के समान सर्वोपकारी, उच्च विचार पूर्ण और चिरकाल तक पुराने न होने वाले ग्रंथों के प्रणेता कवियों ही की आप समय का ख्याल न करके कोई एक श्रेणी नियुक्त कर सकते हैं। स्पष्ट है कि सूर और तुलसी जैसे कालजयी कवियों को ही द्विवेदी जी सार्वकालिक महत्त्व का कवि मानते हैं। इस दृष्टि से उनके साथ रीतिकालीन कवियों को नवरत्न के आसन पर बिठाना उन्हें किसी भी रूप में उचित नहीं लगता।

मिश्रबन्धुओं की आलोचना दृष्टि के निर्माण में यद्यपि अंग्रेजी आलोचना से प्राप्त संस्कार भी काम कर रहे थे, तथापि उनकी रुचि का निर्माण मुख्यतया रीतिकालीन काव्य संस्कारों के सान्निध्य में हुआ था। इसलिए कविता को जाँचने-परखने के लिए चाहे-अनचाहे वे रीतिकालीन कविता में निहित काव्यकला के तत्त्वों का ही उपयोग करते दीख पड़ते हैं। यही कारण है कि मिश्रबन्धु न तो कबीर को उचित महत्त्व दे पाते हैं और न ही जायसी के साथ न्याय कर पाते हैं। तब तो वे हद ही करत देते हैं जब जायसी को तोपनिधि की श्रेणी का कवि बतलाते हुए लिखते हैं, 'जायसी की कविता कई बार ध्यान से पढ़ने पर उसका चमत्कार कुछ फीका जँचा और जायसी का स्थान लोक कवि की श्रेणी में समझा पड़ा।' (नवरत्न की भूमिका) उपयुक्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि के अभाव के साथ समकालीन सरोकारों से असम्बद्धता के कारण वह तुलसी और सुर की अनेक बिंदुओं पर सराहना करते हुए भी उनके साथ सम्यक न्याय नहीं कर पाते। मिश्र बन्धुओं के विपरीत आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि जननिष्ठ, समाज संपृक्त होने के साथ देश एवं धर्महित को लेकर आलोचना कर्म में प्रवृत्त थी। अतएव उनकी मूल्य संपृक्त आलोचना दृष्टि के वैशिष्ट्य को समझा जा सकता है। द्विवेदी जी के यहाँ पर आईने की तरह साफ है कि वही साहित्य महत्त्वपूर्ण एवं

श्रेष्ठ है, जो उच्च भावों को उद्‌बोधित करता है, जिसमें जनता, समाज एवं राष्ट्र की कल्याण कामना निहित होती है। इस प्रकार मनुष्य एवं समाज का उन्नयनकारी साहित्य ही उनकी दृष्टि में सच्चा एवं मूल्यवान साहित्य है। हिन्दी नवरत्न की समीक्षा में उनकी यह मूल्य दृष्टि आद्योपान्त अनुस्यूत मिलती है। मिश्रबन्धुओं ने उनकी इस समीक्षा से लाभ उठाया अथवा नहीं, यह तो हम नहीं जानते पर हिन्दी साहित्य के परवर्ती इतिहासकारों के लिए यह अपनी सीमाओं में मार्गदर्शक एवं विचारणीय रही है, इसमें सन्देह नहीं।

आजकल के हिन्दी 'कवि और कविता' में द्विवेदी जी ने छायावाद की मुख्यतया अतिशय लाक्षणिकताजनित दुरूहता एवं कृत्रिम रहस्यात्मकता की आलोचना की है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुकरण पर लिखी जाने वाली कविताओं के छायावादी अभिधान के संबंध में वह लिखते हैं, 'छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।' इस प्रकार रहस्यमयी कविता को लक्षणा और व्यंजनागम्य अर्थों से परे समझने की सलाह देते हुए वह इसे सहोक्तिअलंकार की कक्षा से भी परे बतलाते हैं। इस तरह की कविता के रहस्य को जानने के लिए वह बंगला भाषा में लिखे गये इस तरह के काव्यों के अध्ययन की भी सलाह देते हैं। उनकी दृष्टि में छायावादी कविता के नाम पर विश्वविधाता के रचना चातुर्य का वर्णन किसी माली या कुंभकार का आश्रय लेकर करना सबके बूते की बात नहीं। इसके लिए गहरी साधना की जरूरत होती है। वह कहते हैं, 'रवीन्द्रनाथ ने जो काम कर दिखाया है, वह क्या सभी ऐरे-गैरे दिखा सकते हैं? जब ये लोग अपने लेख का भाव कभी-कभी स्वयं ही नहीं समझ सकते तब दूसरे उसे कैसे समझ सकेंगे? द्विवेदी जी के मत में कविता का सबसे बड़ा गुण है उसकी प्रासादिकता। वही जब नहीं तब कविता सुनकर श्रोता रीझ किस तरह सकेंगे और उसका असर उन पर होगा क्या खाक।'

प्रकट है, द्विवेदी जी गुह्यातिगुह्य रहस्यमयी कविता रचना संभव तो नहीं मानते, पर उसको साधने के लिए अनथक साधना को जरूरी समझते हैं। अनुकरण के आधार पर उसकी रचना वह समय, श्रम और शक्ति तीनों का अपव्यय मानते हैं। पुनः प्रसाद गुण पूर्ण कविता के अपने आदर्श पर अडिग भाव से टिके रहने के कारण छायावाद के नाम पर प्रकाशित होने वाली ढेर सारी कविताओं को यदि वह

अस्पृश्य समझकर दूर से ही छोड़ देते हैं तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। उनका स्पष्ट मानना है कि सत्कवि के लिए आडम्बर की जरूरत नहीं। यदि उसमें कुछ सार है तो पाठक और श्रोता उसके पास दौड़े आयेंगे।

छायावादी कवियों की आत्मनिष्ठता की आलोचना के संदर्भ में वह पहले स्वयं उनकी ओर से पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, 'कहा जा सकता है कि छायावादी कवि दूसरे को प्रसन्न करने के लिए कविता रचना नहीं करते। वे अपनी ही मन:संतुष्टि के लिए कविता लिखते हैं, इस पर प्रतिप्रश्न करते हुए वह यह कहे बिना नहीं रहते कि, 'यदि वे अपनी कविता की रचना अपनी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिए करते हैं तो संसार को क्या लाभ।'' द्विवेदी जी जैसे समाजचेता समीक्षक के लिए इस तरह का सवाल उठाना अस्वाभाविक नहीं। आलोचक द्विवेदी की एक बहुत बड़ी सीमा उनकी सबको सरलता से समझ में आने वाली प्रसाद गुण पूर्ण कविता की अवधारणा है। इसी के कारण वह अर्थगंभीर्य पूरित नई रचनाओं के साथ भी न्याय नहीं कर पाते। इतना ही नहीं उक्त अवधारणा पर जरूरत से ज्यादा बल देने के कारण वह यहाँ तक कह जाते हैं कि 'आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते हैं उनकी कविता से तो उन लोगों की पद्यरचना अच्छी होती है जो देशप्रेम पर अपनी लेखनी चलाते या 'चलो वीर पटुआखाली' की तरह की पंक्तियों की सृष्टि करते हैं। पुन: छायावादी कविता के बरक्स इस तरह की कविता करने वाले सत्कवियों के उदाहरण देकर वह उनकी जिस तरह से सराहना करते हैं, उसे भी द्विवेदी जी की अपनी ही सीमा कही जायेगी। छायावादी कविता का उनके द्वारा दिया गया उदाहरण और उस पर की गयी उनकी टिप्पणी से कम से कम आज की परिवर्तित रुचि के पाठक का सहमत होना कठिन है। वस्तुत: द्विवेदी जी अपने लिए जो लक्ष्य निर्धारित करके चल रहे थे, उससे वह टस-से-मस होने के लिए कतई तैयार नहीं थे। अत: छायावादी कविता और उसके कवियों के साथ न वह समानधर्मिता साधने के लिए तैयार थे और न ही सहृदयता के साथ उन पर विचार करने के लिए प्रस्तुत दीख पड़ते हैं। समय के साथ इतिहास ने भी छायावादी कविता की प्रतिष्ठा में अपनी भूमिका का निर्वाह किया और द्विवेदी जी जैसे आलोचकों के आग्रहों को नकार दिया, यह सत्य है। तब भी आचार्य द्विवेदी ने जिन बिन्दुओं पर छायावाद की कमजोरियों को अपनी आलोचना का विषय

बनाया था उन्हें सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता।'

द्विवेदी जी की साहित्य-साधना एवं पत्रकारिता का उद्देश्य जनसमाज की सेवा था। जैसा कि पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने कहा है, 'उन्होंने जो कुछ लिखा है जनसमाज के लिए लिखा है। लोगों में शिक्षा का प्रचार हो, उनके ज्ञान की वृद्धि हो, सत्साहित्य की प्रवृत्ति हो, वे अपने-अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को पहचानें, इसी उद्देश्य से वे लिखते थे। इसलिए उनके लेख समाज-सुधार एवं जनरुचि को परिष्कृत करने तथा सत्साहित्य को प्रेरणा देने वाले हैं। उनके समीक्षक की भूमिका को भी इसी संदर्भ में देखना और मूल्यांकित करना उपयुक्त होगा। इस दृष्टि में अपनी सीमाओं में भी उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि और रामचन्द्र शुक्ल जैसे उच्चकोटि के गंभीर आलोचक के पथ को ही प्रशस्त नहीं किया, वरन् परवर्ती सृजन और आलोचना कर्म की व्यवस्थित पृष्ठभूमि तैयार की, इसमें दो मत नहीं। आचार्य शुक्ल ने स्वयं द्विवेदी जी की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है, 'यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य प्रस्तुत नहीं किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी, उन्होंने अपना सुधार किया। ''

नि:संदेह द्विवेदी जी जैसा युग निर्माता और कठोर साहित्य नियंत्रक समालोचक हिन्दी में कोई दूसरा नहीं हुआ। किन्तु उनकी सबसे बड़ी सीमा थी अपनी पसन्द और नापसन्द के साथ किसी तरह का समझौता न कर पाना। इसके कारण वह अपनी आलोचनाओं में कहीं-कहीं आलोच्य को वह सहानुभूति नहीं दे पाये, जिसके वे हकदार थे। आचार्य द्विवेदी अपनी कमजोरियों से अपरिचित थे, ऐसा नहीं। तभी तो अपने एक पत्र (7.2.1900) में वह श्रीधर पाठक से अनुरोध के स्वर में कहते हैं, 'यदि आप कृपा कर मेरी समालोचनाओं को दोषमुक्त करने के लिए सहमत हो जाएँगे तो मुझे अत्यंत प्रसन्नता होगी।' द्विवेदी जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्राय: अपने युग एवं उसकी साहित्यिक प्रवृत्तियों के साथ एकमेव हो गया था। उनकी आलोचना इसका अपवाद नहीं थी। पंडित

प्रवर द्विवेदी लक्ष्य था वृहत्तर हिंदी समाज को नये विचारों एवं नयी रचनाशीलता से संपन्न करके उसे उन्नतिशील बनाना और समय के साथ चलने के लिए उसे प्रेरित करना। एक निष्ठावान शिक्षक आचार्य के रूप में इस दिशा में उन्हें सफलता भी कम नहीं मिली।

पत्रकारिता और साहित्य लेखन के साथ आलोचना कर्म में द्विवेदी जी का एक वैशिष्ट्य यह भी लक्षित होता है कि वह प्राय: समग्र भारतीय साहित्य को धहाते चलते हैं और जहाँ कुछ भी उपयोगी और ग्रहणीय दीखता, उसे वह नि:संकोच हिंदी में ले आने का प्रयत्न करते और हिंदी के माध्यम से, इस प्रकार अन्य भाषा भाषियों को भी इससे परोक्ष रूप से परिचित कराने का उपक्रम कर रहे थे। साहित्य के माध्यम से इस तरह भारतीय दृष्टि की खोज और सहज भाव से उसका प्रचार जैसा कि डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है, आचार्य द्विवेदी का एक उल्लेखनीय प्रदेय स्वीकार किया जा सकता है।

सर्जना और आलोचना के उभय क्षेत्रों में हिन्दी विकास यात्रा की पृष्ठभूमि में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की साधना एवं श्रम निष्ठा निस्संदेह अविस्मरणीय है। अपने बहुआयामी लेखन एवं समीक्षा कर्म के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान और विश्व साहित्य की नवीन उपलब्धियों के आलोक में उन्होंने स्वतंत्र चिंतन की दिशा को प्रशस्त करने के साथ नवजागरण की चेतना को जिस तरह से पोषित एवं प्रतिष्ठित करने में अपना योगदान दिया, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं। निस्संदेह सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में उनके लेखन में अनेक स्खलन एवं दुहराव दीख पड़ता है, किन्तु इसे उनके शिक्षक आचार्य की उद्देश्यगत सीमा के अन्तर्गत देखना ही उपयुक्त होगा।

संदर्भ-

1. आचार्य द्विवेदी : साहित्य और पत्रकारिता के सरोकार, पृ. 31
2. श्रीधर पाठक के नाम द्विवेदी जी के पत्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली : खंड 14, पृ. 141
3. वहीं, खंड 8, पृ. 253
4. वहीं, पृ. 253
5. वहीं, पृ. 252-253
6. वहीं, पृ. 337-338
7. वहीं, पृ. 353
8. वहीं, पृ. 337

महावीरप्रसाद द्विवेदी का जीवनी साहित्य

डॉ. उदय प्रताप सिंह

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को नयी चाल में ढालने का बहुआयामी प्रयास किया था। इसी युग में हिन्दी गद्य को पहली बार प्रतिष्ठा मिली। उनके जीवन काल में गद्य की नवीन विधाओं का विकास नहीं हो सका था। भाषा-परिष्कार, पद-विन्यास, रूप-रचनाओं की एकरूपता पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। अतः कम गद्य लेखक थे जिन्हें प्रतिष्ठा मिली। कई गद्य विधाएँ अपरिचित, अप्रचलित और अविकसित ही रह गई थीं। द्विवेदी युगीन गद्य में उक्त अभावों को पूर्ण करने के प्रयास किये गये। आचार्य द्विवेदी दो दशकों तक 'सरस्वती' के माध्यम से गद्य का परिष्कार करते हैं, भाषा का उचित प्रयोग सिखाते हैं, शब्द-चयन, शुद्ध-अशुद्ध, उपयुक्त-अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग पर रचनाकारों से पत्र व्यवहार करते हैं और हिन्दी का नया स्वरूप गढ़ते हैं। वे सुधारवादी प्रवृत्ति के साहित्यकार थे। तत्कालीन समय में 'सरस्वती' पत्रिका भाषा-सुधार और परिष्कार की माध्यम बन गई थी। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' द्वारा 1903 से 1920 तक गद्य को नवीन, परिष्कृत व मानक रूप प्रदान किया। अनुवादक, निबंध लेखक, आलोचक, जीवनी लेखक और संपादक के रूप में उन्होंने हिन्दी की महती सेवा करते हुए आचार्य की प्रतिष्ठा अर्जित की थी। उनका व्यक्तित्व एक विशाल वट वृक्ष की भाँति था।

निबंध, आलोचना, उपन्यास, कहानी और नाटक हिन्दी की प्रमुख गद्य विधाएँ हैं। वर्तमान समय में जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र, संस्मरण, गद्यकाव्य, डायरी, इंटरव्यू, एकालाप इत्यादि गद्य विधाएँ विकसित हो चुकी हैं जिनमें जीवन की जटिल बुनावट समग्रता के साथ ध्वनित होने लगी हैं। उसमें जीवनी साहित्य

प्रमुख है। महावीरप्रसाद द्विवेदी जीवनी साहित्य के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। जीवनी साहित्य के दो स्वरूप हैं - आत्मकथा और परकथा। विषय की दृष्टि से उसका विभाजन निम्नवत किया जा सकता है-(1) आत्मचरित्र (2) संतचरित्र (3) ऐतिहासिक चरित्र (4) राजनैतिक चरित्र (5) विदेशी चरित्र (6) स्फुट चरित्र। स्वयं द्वारा लिखे अपने जीवन प्रसंगों को आत्मकथा और दूसरे द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन से संबंधित घटनाओं का विवरण जीवनी कही जाती है। परिमाण की दृष्टि से हिन्दी का जीवनी साहित्य समृद्ध है। एक शती पूर्व से ही इस विधा में कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ रची जाती रही हैं।

पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी युग प्रवर्त्तक आचार्य थे। उन्होंने हिन्दी के चतुर्दिक विकास के लिए कई नवीन गद्य विधाओं में रचना कर उसे समृद्ध करने, विश्व की उन्नत भाषाओं के सामानान्तर खड़ा करने का अथक प्रयास किया था। उनके द्वारा रचित सम्पूर्ण साहित्य को 'महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली' के नाम से पंद्रह खण्डों में 'किताब घर'-दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया है। रचनावली के चौथे व पाँचवें खण्ड में देश-विदेश के लगभग एक सौ चौंतीस विद्वानों, संस्कृतज्ञों, समाज सुधारकों, वैज्ञानिकों, राजनयिकों और सेनानायकों की संक्षिप्त पर सारगर्भित, वस्तुनिष्ठ जीवनियों में इतनी विविधता, वस्तुपरकता और व्यापकता है कि ज्ञान के विविध रंग स्वत: दिखने लगते हैं। खण्ड चार में चौंतीस बड़े विदेशी नागरिकों की जीवनी लिखी गई है जो स्वयं में पूरे जीवन का कार्य है। जाहिर है कि विदेशी व्यक्तियों की जीवनियाँ अंग्रेजी से अनुवादित और 'सरस्वती' में प्रकाशित हैं। प्रस्तुत खण्ड में विदेश के जो महनीय व्यक्तित्व सम्मिलित हैं उनका नामोल्लेख ही पर्याप्त होगा। मारकुइस ईटो (जापान), जनरल कुरोपाटिकिन (रूस), प्रसिद्ध पहलवान सैंडों (जर्मनी), जान स्टुअर्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, कर्नल आलकट, अलबरूनी, जनरल बुक, एडवर्ड हेनरीपामर, बुकर टी, वाशिंगटन 1, बुकर टी, वाशिंगटन 2, आचार्य सुमंगल सिंह, सिंहल द्वीप, बैंजामिन फ्रैंकलिन, एल. जी. टैलीटोरी, वाल्टहिट मैन, लुई पास्चुर, विक्टर ल्युगो ये कुछ प्रसिद्ध नाम हैं जो सुदूर स्थित यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका इत्यादि देशों के निवासी हैं। इनमें विद्वान, पहलवान, दार्शनिक, लेखक, राजनीतिज्ञ और कुशल शासक-प्रशासक हैं। यह कल्पना करना ही कितना असहज कर जाता है कि तार बाबू और 'सरस्वती' पत्रिका का संपादक रहते हुए उन्होंने इतना कुछ रच लिया। आधुनिक हिन्दी के उन्नायक

आचार्य द्विवेदी अंग्रेजी साहित्य के भी अधीत विद्वान् थे। इन विश्वविभूतियों का हिन्दी में अनुवाद करना एक व्यक्ति नहीं संस्था का कार्य है। इन प्रेरक व्यक्तियों के माध्यम से उन्होंने भारत की सोयी जनता को जगाने का प्रयत्न किया था। उन विदेशी विद्वानों, चिंतकों, वैज्ञानिकों को जानने समझने के लिए आचार्य द्विवेदी ने कितना अध्ययन किया होगा। कठोर श्रम, आत्यंतिक निष्ठा, समुचित प्रयास ही उन्हें आचार्य कहने के लिए बाध्य कर देता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के इन महारथियों से तत्कालीन जनता निश्चित रूप से बहुत कुछ ग्रहण कर सकी होगी। जीवनी साहित्य के माध्यम से बोझिल जनमानस को जगाना द्विवेदी जी की दूरगामी सोच का परिचायक है।

हिन्दी गद्य को समृद्ध करने में जीवनी लेखन का महत्त्वपूर्ण अवदान माना जाता है। स्वदेसी-परदेसी मनीषियों के गुण, ऊर्जा, कार्यशैली, व्यवहार, चरित्र, त्याग, तपस्या और जिजीविषा को लोकमानस में उतार देना प्रवर्त्तक व्यक्तित्व का ही स्वप्न हो सकता है। द्विवेदी जी इन जीवन चरित्रों को 'सरस्वती' के तत्कालीन अंकों में प्रकाशित कर चुके थे। उन्होंने भारत के शूरवीरों, दार्शनिकों, विद्वानों, संस्कृतज्ञों, पहलवानों, आध्यात्मिक गुरुओं, लोकप्रिय राजनेताओं तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के महनीय लोगों का एक लम्बा दस्तावेज तैयार किया था। सबके विषय में यहाँ विचार करना संभव नहीं; पर कतिपय लोगों का उल्लेख कर द्विवेदी जी के श्रम, निष्ठा और विद्वता को स्मरण किया जा सकता है। उनका जीवनी साहित्य एक सौ देसी व्यक्तित्वों का समुच्चय है। उनके पात्रों के जीवन सम्बंधी गतिविधियों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वे अपने क्षेत्र, विषय और ध्येय के महानतम व्यक्तित्व थे। यद्यपि बहुत से लोगों पर द्विवेदी जी ने संक्षेप में विचार किया है; पर उनके गुण, उनकी प्रेरक शक्ति, उनकी ऊर्जा, उनका मानुषभाव, उनकी उदारता व निश्छलता, सघन रूप में वस्तुपरकता के साथ प्रतिध्वनित हुई है। उनके द्वारा लिखी जीवनी के कुछ प्रमुख नाम यहाँ देखे जा सकते हैं- वामन शिवराम आप्टे, भवभूति, विष्णु शास्त्री चिपलूनकर, ताराबाई, महात्मा रामकृष्ण परमहंस, सौभाग्यवती रखमाबाई, कुमारी कारनेलिया सोहराबजी, महोपाध्याय पं. दुर्गा प्रसाद, रानी दुर्गावती, राजा कमलानंद सिंह, बंगकवि माइकल मधुसूदन दत्त, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, लाल बरमदेव सिंह, राजा रामपाल सिंह, सुखदेव मिश्र, कविवर लछीराम, सवाई जयसिंह, पं. मथुराप्रसाद मिश्र, पं. प्रतापनारायण मिश्र,

धनुर्विद्या विशारद राना सुलताना सिंह, भिनगा नरेश राजर्षि उदयप्रताप सिंह-सी.एस. आई, पंडित कुंदनलाल गायनाचार्य, विष्णु दिगम्बर पलुसकर, महाराजा द्रावनकोर, बालब्रह्मचारी शंकरानंद शास्त्री, बौद्धाचार्य शीलभद्र, पं. सरयूप्रसाद मिश्र, महोपाध्याय सामंत श्रीचन्द्रशेखर सिंह, भागवत, कविवर नवीन चन्द्र सेन, राजा सर टी माधवराव, पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र, सेंट निहाल सिंह, बाबू शिशिर कुमार घोष, डॉ. आनंद के. कुमारस्वामी, श्री विजयधर्म सूरि, राव बहादुर गणेश, व्यंकट जोशी, सेन बहादुर, श्रीसीताराम शरण, भगवान प्रसाद, कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर, हरिविजय सूरि, बीकानेर के महाराजा गंगा सिंह, कुमारी गोदावरी बाई, व्याकरणाचार्य पं. धनराज प्रज्ञाचक्षु, आचार्य दिङ्नाथ, सर सुन्दर लाल, पं. भीमसेन शर्मा, बाबू अरविन्द घोष, लाला लक्ष्मणदास, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, काशिनाथ त्रयम्बक तैलंग, बाबू चिंतामणि घोष, प्रियंवदा, इतिहासवेत्ता विश्वनाथ काशिनाथ राजवाड़े बी.ए. प्रभृत विविध क्षेत्रों के विशेषज्ञों की जीवनियाँ लिखकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को समृद्ध करने और हिन्दी भाषियों के ज्ञानवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

वस्तुत: हिन्दी में जीवनी लेखन की विधिवत शुरुआत पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ही की थी। कालान्तर में अन्य लेखकों ने श्रीशंकराचार्य, कबीरदास, रैदास, मीराबाई, स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविन्द घोष, महात्मा गाँधी, बालगंगाधर तिलक, जवाहरलाल नेहरू, पं. दीनदयाल उपाध्याय, अटलबिहारी वाजपेयी, भगवान अवधूतराम, पं. गोपीनाथ कविराज, शरतचंद्र इत्यादि से सम्बन्धित जीवनियाँ लिखीं। इनमें महत्त्वपूर्ण हैं रोम्या रोलाँ द्वारा लिखित-महात्मा गाँधी और विवेकानंद की जीवनी, कृष्ण बिहारी और युगेश्वर द्वारा लिखित रामकृष्ण परमहंस की जीवनी, शिवप्रसाद सिंह लिखित 'उत्तर योगी-श्री अरविंद घोष' की जीवनी, भगवती प्रसाद सिंह लिखित- 'पं. गोपीनाथ कविराज की लोकयात्रा' और हनुमान प्रसाद पोद्दार पर 'कल्याण पथ निर्माता एवं राही', अशोक कुमार सिंह लिखित- भगवान् अवधूतराम पर 'फकीर की लकीर' इत्यादि जीवनियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। जीवनी साहित्य में विष्णु प्रभाकर का अन्यतम स्थान है। 'आवारा मसीहा' लिखकर उन्होंने विशेष ख्याति अर्जित किया। पं. बलदेव उपाध्याय ने 'शंकराचार्य' की जीवनी लिखी तो अमृतलाल नागर ने 'चैतन्य महाप्रभु' की। सम्पूर्णानंद ने महाराज छत्रसाल, महादजी सिंधिया, सम्राट

हर्षवर्धन, सम्राट अशोक, धर्मवीर गाँधी, और मन्मथनाथ गुप्त लिखित 'चंद्रशेखर आजाद' की महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ हैं।

जीवनी साहित्य को व्यापक फलक पर प्रतिष्ठित करने का कार्य आचार्य द्विवेदी ने ही किया। जिन महापुरुषों, युगपुरुषों, राजाओं की जीवनी उन्होंने लिखी है उनमें व्यक्ति की कुल-परंपरा, गुण-दुर्गुण, विद्वता, उदारता, सक्रियता और प्रगतिशील सोच का भरपूर निदर्शन हुआ है। पं. प्रतापनारायण मिश्र की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उनके भाषा सम्बन्धी दोषों को उजागर किया। ''प्रतापनारायण की हिन्दी खूब मुहावरेदार होती थी। वह अपने लेखों में कहावतें बहुत लिखते थे; पर शब्द-शुद्धि की तरफ उनका खयाल कम था। म्लेक्ष, रिशि, रिशीश्वर, रितु, ग्रिहस्त, लेखणी, औगुण, मात्रभाषा आदि व्याकरण विरुद्ध शब्द जगह-जगह पर देख पड़ते हैं। ... 'ब्राह्मण' में हमें कितने ही संस्कृत के वाक्य व्याकरण विरुद्ध मिलते हैं।'' इसी प्रकार वाराणसी में आधुनिक शिक्षा की अलख जगाते हुए 1909 ई. में 'क्षत्रिय कॉलेज' की स्थापना करने वाले महाराजा उदय प्रताप सिंह की आधुनिक सोच की सराहना करते हैं। उन्हें दानवीर, विद्यावीर तक कहते हैं। राजाओं के जीवन शैली पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं-''जहाँ राजवर्ग की यह दशा है वहाँ के कतिपय शिक्षित, प्रजापालक, जन साधारण के उपकारकर्ता और मातृभाषा प्रेमी राजाओं की स्तुति करने, उनके उदार चरित्र प्रकाशित करने, उनके गुण गाने की इच्छा होना सर्वथा स्वाभाविक है- स्वाभाविक ही नहीं बहुत जरूरी है। इसी से हम भिनगा नरेश का संक्षिप्त चरित्र लिखने बैठे हैं।'' (सरस्वती 1907 ई.)

जीवनी साहित्य में एक दो विदेशी चरित्र का दृष्टांत द्विवेदी जी के वैश्विक सोच का परिचय करा जाता है। ईटो चार बार मिकड़ो के प्रधानमंत्री रह चुके थे। मारकुइस ईटो ने जापान को अल्पकाल में ही उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। वे प्रबंध कला में अत्यंत कुशल थे। अपनी प्रबंध कुशलता द्वारा ही उन्होंने दुनिया के सबसे बड़े देश रूस को पराजय का मुँह देखने के लिए बाध्य कर दिया। इतना बड़ा व्यक्तित्व अपने जीवन की शुरुआत कैसे करता है-इसका यथार्थ व विस्मयकारी वर्णन आचार्य द्विवेदी ने उनकी जीवनी लिखते हुए किया है - ''मारकुइस ईटो खलासी बनकर पहले इंग्लैंड पहुँचे। जहाज के खलासियों को कितना सख्त काम करना पड़ता है यह बात छिपी नहीं है। परंतु उस अधम और परिश्रम के काम को ईटो ने बड़ी मुस्तैदी से किया। जिस समय वह लंदन पहुँचे उनकी जेब में चार-

पाँच रुपये थे। वहाँ उन्होंने पश्चिमी देशों की सभ्यता, उनकी राज्य प्रणाली, उनकी युद्ध विद्या और उनके कला कौशल को यहाँ तक सीख लिया कि वहाँ से लौटकर उन सब बातों की प्रतिच्छाया जापान में उन्होंने प्रकट कर दी। उनके बराबर स्वदेश भक्त, दृढ़ प्रतिज्ञ, सत्य प्रिय और नीति-निपुण पुरुष जापान में दूसरा नहीं।''

बेंजमिन फ्रैंकलिन अमेरिका का निवासी था। उसका जन्म बोस्टन नगर में 1706 ई. में हुआ था। कठोर परिश्रम और बुद्धिचातुर्य से उसने बड़ी योग्यता प्राप्त कर लिया था। विषम परिस्थितियों में भी नयी चमक पैदा कर उन्नति के शिखर पर आसीन हो जाना कोई बेंजमिन से सीखे। महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - ''सोलह वर्ष की उम्र में बेंजमिन के हाथ एक पुस्तक लगी, जिसका आशय यह था कि अन्न और वनस्पतियों का आहार मनुष्य के लिए सस्ता और हितकारी है। अपने भाई से उसने कहा कि जितना व्यय मेरे भोजन में पड़ता है उसका आधा ही खर्च किया जाए, शेष रखा रहे। काम पड़ने पर माँग लिया करूँगा। उसकी आधी कमाई बचने लगी जिससे नई पुस्तकें लेने में उसे सुगमता हुई। उसी पुस्तक से उसका जीवन सुधर गया, आग से होने वाली हानि का उसने बीमा करने की सफल तकनीक बनाई।'' कुछ समय बाद फ्रैंकलिन का मन पदार्थ विज्ञान की ओर झुका। उसने अध्ययन से यह सिद्ध कर दिया कि कृत्रिम बिजली दो पदार्थों के रगड़ से उत्पन्न होती है। आकाशी और कृत्रिम बिजली में कुछ भेद नहीं है, अकृत्रिम बिजली को आकाश से उतार सकते हैं। उसने नई युक्ति निकाली और ऊँचे-ऊँचे मकानों पर कच्चे लोहे की छड़ें लगाईं, जिसका एक सिरा धरती में गड़ा रहे और दूसरा सिरा मकान के ऊपर निकला रहे। बिजली उसी छड़ के ऊपर गिरकर धरती में समा जायेगी और मकान को कुछ हानि न पहुँचेगी।'' अपनी उद्यमशीलता और अध्ययन के बल पर बेंजमिन को अमेरिका और इंग्लैंड दोनों देशों में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इस प्रकार की प्रेरक जीवनियाँ लिखकर आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी पाठकों को सोचने-समझने के लिये एक विस्तृत भावभूमि तैयार किया। पराधीन भारत में पराक्रम को जगाने और स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जर्मन पहलवान सैण्डो की जीवनी लिखकर नागरिकों को ऊर्जा व पौरुष से परिचित कराया।

जीवनी साहित्य ज्ञान का भण्डार होता है, व्यक्ति की जीवन शैली का

दर्पण होता है। कुशल कार्य पद्धति, समाज के विकास में व्यक्ति के योगदान तथा कुल परंपरा का ऐतिहासिक ज्ञान भी जीवनी कराती है। जीवन में सफलता के लिए बुद्धि-कौशल, प्रत्युत्पन्नमति और व्यक्तित्व के महत्व को जीवनी अंकित करती है। द्विवेदी जी की अधिकतर जीवनियाँ संस्कृत और अंग्रेजी की अनुवाद हैं, पर उनमें विषय की गंभीर स्थापना, भावों का सघन विन्यास, भाषा की सरलता और विषय प्रतिपादन की अद्वितीय क्षमता है। घर बैठे पाठक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी, देशवासी, भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज, बहुरंगी संस्कृति, वेश-भूषा, खान-पान एवं चरित्र-स्वभाव से परिचित हो जाता है। आचार्य द्विवेदी लिखित जीवनियों में व्यक्ति के स्वभाव व प्रभाव, उसके आचार-विचार और उसकी प्रकृति का एक परिपक्व परिचय मिलता है। विश्व के श्रेष्ठ व्यक्तित्वों को जानने के लिए बहुत प्रयत्न करने पर भी इतनी जानकारी कठिन होती है-इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक कार्य किया है। हिन्दी क्षेत्र से उन व्यक्तित्वों की जानकारी करने वाले द्विवेदी जी शायद पहले व्यक्ति थे। वहाँ का समाज, सामाजिक जीवन, राजसत्ता, भाषा, रीति-रिवाज को सरल किंतु स्पष्ट हिन्दी में प्रस्तुत कर उन्होंने बड़े महत्व का कार्य किया है। जीवन चरित्रों के लेखन में उनकी भारतीय कसौटी सदैव तत्पर रहती है। अधिकतर भारतीय जीवन मूल्यों के धारक ही उनकी लेखनी के पात्र बन सके हैं। इस प्रकार जीवनी लिखकर द्विवेदी जी भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों हमें सम्पन्न कर जाते हैं।

आचार्य द्विवेदी जीवन चरित्र का वर्णन करते हुए सत्य और तथ्य का पर्याप्त ध्यान रखते थे। एक आचार्य के रूप में उन्होंने केवल हिन्दी भाषा का ही परिष्कार नहीं किया, हिन्दी गद्य में अनेक विधाओं का मार्ग भी प्रशस्त किया। जीवनी उसी की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

महाजनो येन गतः सः पन्थाः

डॉ. विनय षडंगी राजाराम

'महान व्यक्तियों के आचरण ही मार्ग निर्धारित करते हैं।' हिन्दी साहित्य के ऐसे ही मार्ग-निर्धारित आचार्य थे महावीर प्रसाद द्विवेदी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को ब्रज,, अवधी, बुंदेली-बघेली जैसी लोक भाषाओं के उपवनों की परिधि से इतर एक राष्ट्रीय राजोद्यान का स्वरूप प्रदान किया। साहित्य की विभिन्न विधाओं, विषयों एवं भिन्न-भिन्न शैलियों को अपनाते हुए भी नवीन सृजन के नए-नए आयामों की ओर तत्कालीन साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित किया। नई कलम, नए पौधे, नवीन साहित्यिक रूपाकारों को विकसित करने की जमीन तैयार की। भारतेंदु युगीन, शैशव कालीन हिन्दी को द्विवेदी जी ने भरपूर विकास का पोषण दिया। भाषागत अवांछित रूढ़ियों को तोड़कर, व्याकरण के अनगढ़पन को सुघड़ता में बदलते हुए विषयों के संकुचित दायरों से भिन्न पर्याप्त विस्तार का मार्ग प्रशस्त करते हुए आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी को एक सुव्यवस्थित साहित्यिक भाषा का स्वरूप प्रदान करने में अपना संपूर्ण जीवन होम कर दिया।

महावीरप्रसाद जी का जन्म सन 1864 ई. में उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में हनुमान-भक्त एक संभ्रांत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पिता रामसहाय द्विवेदी ने पुत्र का नाम महावीर सहाय रखा था, किन्तु विद्यालय की कार्यालयीन त्रुटिवश 'महावीर सहाय' 'महावीरप्रसाद' बन गया और यही नाम स्थायी हो गया। बालक महावीर की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के विद्यालय में ही हुई थी किन्तु बाद में वे पिता के साथ बंबई चले गए। जहाँ उन्होंने आगे की पढ़ाई के साथ संस्कृत, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी भाषाओं का भी अध्ययन किया।

आगे चलकर कई भाषाओं का यह ज्ञान साहित्य-विस्तार क्षेत्र में आपके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

बंबई में ही महावीर जी ने रेल-सेवा में नौकरी प्रारंभ की, वहाँ भी डाक-तार की सांकेतिक भाषा सीखी। रेल-सेवा के साथ-साथ आपकी साहित्य सेवा प्रारंभ हो चुकी थी। दोनों में तालमेल बिठाना, फिर अधिकारियों के साथ भी सामंजस्य स्थापित करना कठिन हो गया तब आपने नौकरी से त्यागपत्र देकर साहित्य-सेवा को ही प्रमुख रूप से अपना उद्देश्य बना लिया।

1857 की क्रांति के बाद का वह समय अगली लड़ाई के लिए तत्पर भारतीय जन-मानस के विकास का समय था। साहित्य में इसके बीज भारतेन्दु युगीन लेखकों द्वारा रोपे जा चुके थे। किन्तु, अंग्रेजी हुकूमत ने 'फूट डालो और राज करो' वाली नीति के तहत हिन्दी और उर्दू को सीधे धर्म से जोड़ना प्रारंभ कर दिया था। हिन्दुस्तान की धरती पर हिन्दी के साथ विकसित हुई 'उर्दू' का राजनीतिक दबाव सीधे 'हिन्दी' के वर्चस्व को प्रभावित कर रहा था। यह दबाव चहुँओर से हिन्दी की स्वायत्तता पर, उसकी शुद्धता और उसके विकास पर भी परिलक्षित हो रहा था। हिन्दी पर उर्दू के साथ-साथ अंग्रेजी का भी दबाव बढ़ रहा था। तत्कालीन कुछ लेखक हिन्दी को प्राचीन मृतभाषा की संज्ञा दे रहे थे तो कुछ इसे हिन्दुस्तानी नाम देकर उर्दू-फारसी शब्दों की प्रधानता पर बल दे रहे थे। ऐसी परिस्थिति में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के सर्वतोन्मुखी विकास का बीड़ा उठाया।

'क्या हिन्दी नाम की कोई भाषा ही नहीं है।' शीर्षक से द्विवेदी जी का एक अति महत्त्वपूर्ण, संवेदनशील निबंध है, जिसका उल्लेख रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में भी किया है। उस निबंध का एक छोटा-सा अंश यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा ''...अगर आपकी इस 'भाखा' नामक भाषा को मरे तीन सौ वर्ष हुए तो कृपा करके यह बताइए कि श्रीमान ही के सधर्मी काजिम अली आदि कवियों ने किस भाषा में कविता की है। 1700 ई. से लेकर ऐसे अनेक मुसलमान कवि हो चुके हैं जिन्होंने 'भाखा' में बड़े-बड़े ग्रंथ बनाए हैं। हिन्दू कवियों की आप खबर न रखते तो कोई विशेष आक्षेप की बात न थी।' हिन्दी को नकारने की तत्कालीन गहरी साजिश का जिन खुले शब्दों में द्विवेदी जी ने यहाँ उल्लेख किया है उसी साफगोई और हिन्दी के प्रति कठोर पक्षधरता के

कारण ही हिन्दी आज साहित्यिक भाषा बन कर अपने पैरों पर खड़ी है। इसी निबंध में आगे और अधिक स्पष्ट शब्दों में उन्होंने उर्दू की 'पूछ-परख' और हिन्दी के 'बहिष्कार' की चर्चा की है, जो कमोबेश स्वतंत्रता के पश्चात् की भारतीय 'भाषा-नीति' का एक पूर्वानुमान भी था।

द्विवेदी जी लिखते हैं-श्रीयुत असगर अली खाँ के इस कथन से कि 'उर्दू और हिन्दुस्तानी इज द लिंगुआ फ्रेंका ऑफ द कंट्री' एक भेद की बात खुल गई। वह यह कि आप लोगों की राय में यह हिन्दुस्तानी और कुछ नहीं, उर्दू का ही दूसरा नाम है। अतएव समझना चाहिए कि जब हिन्दुस्तानी भाषा के प्रयोग पर जोर दिया जाता है तब 'हिन्दुस्तानी' नाम की आड़ में उर्दू ही का पक्ष लिया जाता है और बेचारी हिन्दी के बहिष्कार की चेष्टा की जाती है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की उपस्थिति को सिरे से नकार दिए जाने की दुरभिसंधि के उस काल में हिन्दी को एक समर्थ-साहित्यिक भाषा के रूप में स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा में व्याकरणिक शुद्धता, संस्कृत तथा सांस्कृतिक विरासत की निरंतरता भगिनी भाषाओं के साथ सामंजस्य की स्वीकार्यता के साथ हिन्दी के सर्वांगीण विकास के लिए जो अनुशासनात्मक मानदंड स्थापित किए वह सब तत्कालीन समय की माँग के अनुरूप था। द्विवेदी जी जिस तरह का अनुशासन साहित्य के क्षेत्र में चाहते थे, वे स्वयं अपने निजी जीवन में भी पूरी तरह से वैसे ही थे। पं. श्रीराम शर्मा ने महावीर जी के जीवन पर केंद्रित एक महत्त्वपूर्ण संस्मरणात्मक लेख लिखा है जो निश्चित ही उनके जीवन तथा उनकी कार्य शैली को समझने के लिए एक 'कुंजी' के समान है।

श्रीराम शर्मा के अनुसार द्विवेदी जी के जीवन का मूलमंत्र था। 'योगः कर्मेषु कौशलम्' अर्थात् प्रयत्न ही कार्य की कुशलता का मानदण्ड होता है। श्रीराम शर्मा के अनुसार ''द्विवेदी जी की सफलता की कुंजी है- घोर परिश्रम, दृढ़ संकल्प, ईमानदारी कर्तव्य परायणता और मनुष्यत्व।'' वे लिखते हैं-''आचार्य द्विवेदी का स्वभाव इतना सरल और सरस है कि उनके लिए यह कहा जा सकता है कि वे करुणा के साक्षात अवतार हैं- करुणा के परमाणुओं से बने हैं। उनके सामने 'मो सम कौन कुटिल खलकामी? पढ़िए और देखिए कि उनकी आँखों से टपाटप आँसुओं की झड़ी लग जाती है।''

घोर परिश्रम के साथ 'कठोरता' और सहृदयता से परिपूर्ण 'करुणा' ये दोनों पक्ष मिल कर ही द्विवेदी जी को हिन्दी साहित्य का युग-पुरुष बनाते हैं।

समय और कर्म की कठोर पाबंदी ने हिन्दी साहित्य को एक सशक्त दिशा दी और उनके कोमल, सहृदय व्यक्तित्व ने हिन्दी के विकास के उस कठिन समय में अनेक महान लेखकों को स्थापित किया। देखने में ये दोनों गुण यद्यपि विपरीत प्रतीत होते हैं किन्तु दोनों का तालमेल, अनगढ़ लोहा और अग्नि के समन्वय से विकसित, परिमार्जित 'इस्पात' के साकार होने जैसा है। अग्नि में तपकर लोहा नया रूप लेता है, स्थायी बनता है, अशुद्धियों से विलग होकर चमक से भर उठता है, ठीक वैसे ही महावीर जी के कठोर साहित्य-संशोधन से गुजर कर तत्कालीन लेखकों की रचनाएँ हिन्दी साहित्य की ऐसी स्थायी निधि बनी हैं जो चिरकाल तक चमकते अशोक स्तंभ सदृश हैं।

हिन्दी के विकास के लिए महावीर जी की कार्यशाला बनी थी 'सरस्वती' पत्रिका। (पू.वि.) जनवरी 1900 में इलाहाबाद से 32 पृष्ठों की 'क्राउन' आकार की साहित्यिक मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का शुभारंभ जगन्नाथ दास, श्याम सुन्दरदास, राधाकृष्ण दास, कार्तिक प्रसाद तथा किशोरी लाल के संयुक्त संपादन में प्रारंभ हुआ था। 1902 में इसके संपादक थे श्यामसुन्दर दास। इसके पश्चात् 1903 से इस पत्रिका के संपादन का दायित्व पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने सँभाला जो 1920 तक निरंतर चला। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को साहित्य का ऐसा मानदंड बना दिया था कि इसमें छपने वाला 'स्थापित लेखक' बनकर प्रसिद्ध हो जाता था।

'हिन्दी गद्य का विकास' नामक एक महत्त्वपूर्ण निबंध में डॉ. ब्रह्मदत्त शर्मा लिखते हैं- 'सरस्वती पत्रिका के उदय के साथ पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का आगमन होता है, जिन्होंने व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखला कर हिन्दी गद्यकारों को सतर्क किया और भाषा संस्कार का प्रशंसनीय कार्य किया। इस समय के हिन्दी गद्य में विषय की अनेक रूपता के साथ शैली की अनेक रूपता के दर्शन होने लगते हैं। वाक्य विन्यास शुद्ध, संयत तथा व्यवस्थित और विराम चिह्नों का प्रयोग शुद्ध रूप में होने लगता है।'

डॉ. हरदेव बाहरी ने 'सरस्वती' पत्रिका के रूप गुण का बखान करते हुए साहित्य समृद्धि में द्विवेदी जी के योगदान को बहुत सटीक शब्दों में रेखांकित

किया है। उनके ही शब्दों में - 'सरस्वती हिन्दी की पहली रूपगुण संपन्न प्रतिनिधि पत्रिका रही है। व्याकरण और भाषा की समस्याओं पर इसमें टिप्पणियाँ छपती रही हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसमें प्रकाशित संपूर्ण साहित्य विधा को व्याकरण और भाषा की दृष्टि से संतुलित किया और काव्य तथा गद्य में इतिवृत्तात्मकता को प्रश्रय दिया। उनके द्वारा कई साहित्यकारों को प्रोत्साहन मिला। इस पत्रिका के माध्यम से अबके कई प्रसिद्ध कवि और लेखक सामने आए।'

इसमें कोई दो राय नहीं है कि मैथिली शरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', सियाराम शरण गुप्त, गणेशशंकर विद्यार्थी, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, वृन्दावनलाल वर्मा, सुमित्रानंदन पंत जैसे अपने समय के ही नहीं कालजयी हिन्दी लेखकों की संपूर्ण पीढ़ी 'सरस्वती के माध्यम से पुष्पित-पल्लवित हुई है। तथाकथित पहली हिन्दी कहानी के रूप में मान्य 'दुलाई वाली' 'सरस्वती' में ही पहली बार प्रकाशित हुई थी। यह कहानी 1907 में सरस्वती भाग-8 संख्या 5 में प्रकाशित हुई थी। जिसकी लेखिका राजेन्द्रबाला घोष' 'बंग महिला' के रूप में ख्यात हुईं।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से तत्कालीन हिन्दी नव-लेखन को बढ़ावा दिया। लेखन में व्याकरण तथा भाषा परिमार्जन को पर्याप्त महत्त्व दिया। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने के लिए साहित्यकारों ने इन पर विशेष बल दिया। परिणामत: हिन्दी का कलेवर सुदृढ़ हुआ। हिन्दी साहित्य में गुणवत्ता का विकास हो इसके लिए अन्य भाषाओं के अनुवाद-साहित्य को भी सरस्वती के माध्यम से खूब बढ़ावा मिला। विविध लोक धर्मी निबंधों का प्रकाशन कर द्विवेदी जी ने निबंध साहित्य के शिल्प का परिमार्जन किया। हम जानते हैं कि हिन्दी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निबंध इसी युग की देन हैं। स्वयं द्विवेदी जी न केवल एक अच्छे निबंधकार थे अपितु साहित्य साधक के रूप में भी वे विभिन्न विधाओं में निरंतर साधनारत रहे।

द्विवेदी जी का रचना संसार बहुत विस्तृत है। संस्कृत तथा अंग्रेजी से पद्य-गद्य में अनूदित उनकी कृतियाँ अनुवाद साहित्य के आधार स्तंभ कहे जा सकते हैं। गद्य में आपकी 14 अनुदित तथा 50 मौलिक रचनाएँ हैं। अनूदित महत्त्वपूर्ण पद्य रचनाएँ आठ हैं और मौलिक कृतियाँ नौ हैं। स्वयं द्विवेदी जी

अपनी पद्य-रचनाओं को बहुत महत्त्व नहीं देते हैं किन्तु संस्कृत से अनूदित उनकी पद्य रचनाएँ उत्तमकोटि की हैं।

पद्यानुवाद के अंतर्गत भर्तृहरि के वैराग्य शतक का 'विनय विनोद' नाम से दोहों में अनुवाद, जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' का 'विहार वाटिका' नाम से भावानुवाद, भर्तृहरि के 'शृंगार शतक' का 'स्नेह माला' नाम से दोहानुवाद, पंडित राज जगन्नाथ कृत 'गंगालहरी' का 'गंगालहरी' नाम से सवैयों में अनुवाद, कालिदास रचित 'कुमार संभवम्' के पाँच सर्गों का सारांश 'कुमार संभव सार' तथा 'ऋतुसंहार' का छायानुवाद 'ऋतुतरंगिणी' संस्कृत से हिन्दी में अनूदित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मौलिक पद्य रचनाओं के अंतर्गत 'काव्य-मंजूषा', 'द्विवेदी काव्य-माला' और 'कविता-कलाप' उल्लेख योग्य हैं।

गद्य-ग्रंथों में जगन्नाथ रचित 'भामिनी विलास' का इसी नाम से अनुवाद महत्त्वपूर्ण है। जगन्नाथ जी के 'यमुना स्तोत्र' का भी आपने 'अमृतलहरी' नाम से गद्यानुवाद किया है।

अंग्रेजी से हिन्दी में आपने बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद बेकन विचार रत्नावली नाम से किया है। हर्बर्ट स्पेंसर के 'एज्युकेशन' का 'शिक्षा' नाम से हिन्दी अनुवाद और 'जॉन स्टुअर्ट मिल के ऑन लिबर्टी' का अनुवाद 'स्वाधीनता' महत्त्वपूर्ण रचनाएँ है। संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के लेखकों की महत्त्वपूर्ण रचनाओं के अनुवादों के अतिरिक्त विभिन्न गद्य-विधाओं में आपकी कुल 50 पुस्तकें प्रकाशित हैं, जिनमें आलोचना, विज्ञान, पत्रकारिता, नारी-संवाद, भाषा-शास्त्र, पुरातत्त्व विज्ञान, औद्योगिकी जैसे अनेक नवीन विषयों को द्विवेदी जी की वैचारिक लेखनी ने समृद्ध किया है। इनके अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा ने 1923 में आपके अभिनंदन समारोह के अवसर पर आपके महत्त्वपूर्ण भाषणों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया था जो हिन्दी साहित्य की विकास-यात्रा को समझने के लिए मील के पत्थर सदृश हैं।

अनुवादक-संपादक, निबंधकार, आलोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को साहित्यिक समृद्धि का वट-वृक्ष बनाने में अपना संपूर्ण जीवन न्योच्छावर कर दिया था। हिन्दी को परिष्कृत-परिमार्जित करते हुए, पुरातन जड़ों को सँभाल कर नवीन किसलयों-कोपलों को विकसित करते रहने की द्विवेदी जी की दृष्टि जीवन पर्यन्त अपने उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न रही। अपने कृतित्वों के

साथ-साथ व्यक्तित्व में भी वे 'युग-प्रवर्तक' महिमावान थे। उस युग के सभी समर्थ साहित्यकार द्विवेदी जी की कृपा की कामना करते थे। मैथिलीशरण गुप्त तो उन्हें अपना गुरु ही मानते थे। गुप्त जी रचित कालजयी कृति भारत-भारती के प्रकाशन पर द्विवेदी जी ने उसे 'युगान्तर रचना' की संज्ञा दी थी। यही शब्द स्वयं उनके लिए समालोचक श्री रामेन्द्र तिवारी ने प्रयुक्त करते हुए लिखा है- 'आपने अनंत आकाश और अनंत पृथ्वी के सभी उपकरणों को काव्य-विषय घोषित करके उसी युगान्तर की सूचना दी थी। आप नवयुग के विधायक आचार्य थे।'

युगीन परिस्थितियों और समय की आवश्यकताओं के अनुरूप ही द्विवेदी जी ने साहित्य में नैतिक मूल्यों और सुधारवादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया था। सच तो यह है कि द्विवेदी जी की 'परिमार्जन पद्धित' का ही परिणाम है कि आज हम हिन्दी को एक साहित्यिक भाषा के रूप में पाकर गर्व कर रहे हैं। कुछ विद्वान द्विवेदी जी की कठोरता' को 'छायावाद' के जन्म का कारण भी मानते है, जो मैं समझती हूँ प्रकारान्तर से 'द्विवेदी युग' का सकारात्मक प्रतिफलन है।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में नवयुग के दिशा-निर्देशों के साथ जो मार्गदर्शन दिया था विभिन्न विधाओं शैलियों और अभिव्यक्तियों के अनेक मार्गों उपमार्गो से सुसज्जित होकर वहीं आज वैश्विक होती हिन्दी का प्रशस्त राजमार्ग बन संपूर्ण साहित्य जगत को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। इस राजमार्ग की सार-सँभाल और पुनः-पुनः नवीनीकरण करते रहने का दायित्व निश्चित ही आज हम सबका है, आगे भी रहेगा।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का भाषा-चिन्तन

मुक्तेश्वर नाथ तिवारी

महावीरप्रसाद द्विवेदी (1864-1938) हिंदी भाषा और साहित्य में एक साधक कृति व्यक्तित्व हैं जिनकी रचनाधर्मिता के सब मूल्य 19वीं और 20वीं शताब्दी को आच्छन्न करनेवाले हैं। भारतेन्दु-युग में आँखें खोलनेवाले द्विवेदी जी बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हिंदी भाषा और साहित्य में एक ऐसा नाम बनकर उदित हुए जिसमें नेतृत्व-क्षमता कूट-कूट कर भरी हुई थी। जैसे भारतेन्दु साहित्य के मील के पत्थर हुए और भारतेन्दु-युग एक साहित्यिक कालखण्ड बनकर हमारे सामने आया, ठीक उसी प्रकार, भारतेन्दु के नेतृत्वक्षम व्यक्तित्व के तिरोधान (सन् 1885) के बाद द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की ओर हमारा ध्यान जाता है। सन् 1903 के पूर्व, 'सरस्वती' पत्रिका में अंशदान के पूर्व तक द्विवेदी जी की पहचान प्रखर नहीं थी। रेल्वे की नौकरी को तिलांजलि देकर उन्होंने साहित्य सेवा का व्रत लिया और प्रयाग की साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' का जो संपादन स्वीकारा, तब से इनके व्यक्तित्व का लोहा हिंदी जगत मानने को मजबूर हो गया। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व गंभीर था। साहित्य में पदार्पण की पहचान इनके साहित्यिक अग्रलेखों के कारण बननी शुरू हुई। हिंदी पट्टी के तीसरे नवजागरण का समय कह सकते हैं जब द्विवेदी जी स्थितप्रज्ञ साहित्य-साधक की तरह उदित हुए थे। भारतेन्दु का राजभक्ति और देशभक्ति के बीच के द्वन्द्व से साबका पड़ा था, द्विवेदी जी के सामने यह द्वैत नहीं था। वे सरकारी नौकरी छोड़ भी आए थे और 'सरस्वती' में अंशदान करने के पूर्व एक विराट स्वाध्याय भी कर आए थे। मध्यवर्गीय चेतना से आप्लावित और कुछ कर गुजरने का दमखम उनमें था। वे नवजागृति का तीसरा चरण ज्ञानार्जन और ज्ञानप्रसार को

लक्ष्य करके चला रहे थे। इसकी स्थानीयता में विवेच्य थी संस्कृति। बाह्य और अवांतर ज्ञान न थे। ज्ञानचक्षु खुले और कण्ठ उद्ग्रीव थे। केवल तभी द्विवेदी जी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, मराठी, बांग्ला और अंग्रेजी जैसी पाँच-छः भाषाओं में निष्णात थे। वह बहुज्ञता के अग्रणी थे और हिंदी को सब प्रकार के ज्ञानानुशासन की भाषा के रूप में प्रोन्नत देखना चाहते थे। रामविलास शर्मा ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को 'ज्ञान के साहित्य' के प्रसारक के रूप में ठीक ही पहचाना था। आचार्य द्विवेदी ने बीसवीं शताब्दी के शुरू में ही यह ताड़ लिया था कि केवल साहित्य सेवा से हिंदी की श्रीवृद्धि नहीं हो सकती, हिंदी को ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनना होगा। हिंदी साहित्य में आचार्य द्विवेदी की जो स्मृति और मूर्ति बनती है, वह एक नीतिप्रवण आत्मानुशासित आचार्य की बनती है। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने प्लेटो की तुलना आचार्य द्विवेदी से की है। आचार्य द्विवेदी की ख्याति का एक क्षेत्र आलोचना से आता है। आलोचना वह जो संस्कृत से प्राणवायु लेकर हिंदी में खड़ी होती है। 'हिंदी कालिदास की आलोचना' एक विशिष्ट पुस्तक है, आचार्य के जीवन में भी और संपूर्ण हिंदी काव्यालोक में भी। यह इतनी विशिष्ट एक-दो बातों के लिए है। प्रथम तो यह पंडित सीताराम, बी.ए. की कालिदास की कविता-पुस्तक के हिंदी में हुए अनुवाद की आलोचना है, दूसरी यही कि पुस्तकवाद हिंदी में यह पहली आलोचना पुस्तक भी है। ध्यातव्य यह भी है कि हिंदी आलोचना का जो ठाठ गद्य पहली बार उठ खड़ा हुआ वह संस्कृत के रायभाग को मूर्धन्य घोषित करता खड़ा हुआ। क्रमिक रूप से आचार्य द्विवेदी की तीन पुस्तकें अलग से गणनीय हैं जो संस्कृत को पीठिका घोषित करती आई- ...'विक्रमांक देवचरित चर्चा', 'नैषध चरित चर्चा' और 'कालिदास की निरंकुशता।' इन पुस्तकों में संस्कृत कवियों की व्यावहारिक समीक्षा आई। काव्य शरीर धरकर हिंदी में उठ खड़ी होनेवाली आलोचना रीतिकाल के आचार्यों द्वारा प्रवर्तित हुई थी, द्विवेदी जी ने उसे गद्यशरीर प्रदान किया। रीतिकालीन हिंदी आलोचना और द्विवेदी जी द्वारा की हुई आलोचना, दोनों संस्कृत रिक्थ को बड़ा बनाती हैं, लेकिन अलंकारातिशयता, रीत्यात्मकता और नायिका-भेद को अप्रासंगिक और अनाधुनिक करार दिया आचार्य द्विवेदी ने। नैतिकता, शुभता और उपयोगिता के निकष पर आचार्य का लेखन-कर्म टिका हुआ है। बीसवीं शताब्दी के जरूरी मूल्यों में नीतिशास्त्र नया आया था जिसमें नैतिकता, शुभता और उपयोगिता के गुण साहित्य-

रूपों में तलाशे जाने लगे। अपने लेखन और संपादन में लगभग एक समर्पित प्रहरी की तरह अटल रहते हुए आचार्य द्विवेदी ने इन गुणों की रक्षा की। नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व को 'सुधारक और प्रवर्तक व्यक्तित्व' कहा था। कवियों और गद्यकारों पर व्यापक प्रभाव डालने वाले आचार्य के सुधारात्मक निर्देश पाठकों को भी संस्कारित करने का बीड़ा उठाते हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के महत्तर अवदानों में भाषा-सुधार को परिगणित किया जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस अवदान पर विचार करते हुए लिखा है, 'व्याकरण की शुद्धता और भाषा सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। (हिन्दी साहित्य का इतिहास/पृ. 334/1)' आगे यह भी लिखा 'गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायेगी, तब तक बना रहेगा।' भारतेन्दु के अवसान के बाद हिंदी भाषा को लेकर सृजनकर्त्ताओं में बड़ी गंभीरता परिलक्षित नहीं होती थी। तब फैशन में उर्दू-फारसी और अंग्रेजी के प्रति झुकाव था। आचार्य शुक्ल ने हिंदी जाति की एक बड़ी त्रुटि और गलतफहमी की ओर संकेत करते हुए लिखा था, 'बहुत-से लोगों ने हिंदी में आने के पहले काम शुरू कर दिया। उनकी भाषा में जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दरगुजर कर दिए जाते थे। (वही/पृ. 333)।' संस्कृत शब्दों की जानकारी होने मात्र को हिंदी लेखन की आवश्यक शर्त मानी जाती थी। उन दिनों आप्टे का 'अंग्रेजी संस्कृत कोश' अपने पास रखना अनिवार्य हो गया था। तब के अनुवादक आचार्य शुक्ल के शब्दों में, 'हिंदी और संस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिंदी भाषा नहीं लिखते थे। (वही/पृ. 334)।' यही नहीं, संस्कृत शब्दों के लिए बंगला भाषा पर उस दौर के लेखकों और अनुवादकों की निर्भरता देखी जाती थी। इस प्रकार अराजक और अगंभीर परिस्थितियों में आचार्य शुक्ल द्वारा नामित गद्यप्रसार द्वितीय उत्थान में जिसके केन्द्र आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ही थे, भाषा-सुधार का महत्तम पड़ाव बना। इस कालखण्ड में हिंदी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति, की वृद्धि हुई। 'अभिव्यंजन प्रणाली' का प्रसार हुआ। भारतेंदु-युग में तो नहीं, किंतु इस युग में 'शैली की अनेकरूपता' के भी दर्शन हुए। सबसे बढ़कर, शुक्ल जी के कथनानुसार, 'वाक्यविन्यास में अधिक सफाई और व्यवस्था आई। विराम चिह्नों का आवश्यक प्रयोग होने लगा। (वही/पृ. 334)।'

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस प्रकार खड़ीबोली के गद्य-पद्य का संस्कार

किया, इसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे व्यक्ति नहीं, एक संस्था बन चुके थे। 'सरस्वती' के संपादन कर्म ने ही उन्हें ऐसी ऊँचाई प्रदान की। आचार्य शुक्ल ने द्विवेदी जी का पुण्य स्मरण करते हुए लिखा है, 'सरस्वती' के संपादनकाल में उनकी प्रेरणा से बहुत-से नए लोग खड़ीबोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा आदि दुरुस्त करके वे 'सरस्वती' में दे दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे-धीरे बहुत-से कवियों की भाषा साफ हो गई। उन्हीं नमूनों पर और लोगों ने भी अपना सुधार किया। (वहीं/पृ. 414)।' पूरे हिंदी जगत में द्विवेदी जी के महान अस्तित्व की पहचान उनके इसी प्रदेय के कारण होती आई है। एक झटके में द्विवेदी जी को महिमा-मंडित करना हो तो उनके उक्त भाषा-सुधार के उद्योग को याद कर लिया जाता है। शुक्ल जी ने एक और मार्के की बात अपने इतिहास में लिखी है कि द्विवेदी जी गद्य और पद्य की भाषा में अंतर नहीं करते थे। आचार्य द्विवेदी की इस मान्यता के स्रोत पर भी शुक्ल जी ने विचार किया है। एक तो बंबई (मुंबई) में कुछ वर्ष रहकर आने पर उनपर मराठी काव्य में प्रयुक्त संस्कृत वृत्तों का प्रभाव पड़ा था, दूसरे विलियम वड्र्सवर्थ की एक इस मान्यता का अधिकतम प्रभाव था कि गद्य और पद्य का पदविन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए (पृ.-415)।' ध्यातव्य है कि आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल हिंदुस्तानी को नहीं, हिंदी को जीवंत भाषा मानते थे जिसकी जड़ें अत्यन्त दीर्घकालिक रोपी हुई हैं। सन् 1913 में आचार्य द्विवेदी ने हिंदुस्तानी और हिंदी के पार्थक्य को स्पष्ट करते हुए लिखा, 'गवर्नमेंट यदि 'हिंदुस्तानी' नाम ही रखना चाहती है तो बोल-चाल की भाषा के संबंध में वह उसका व्यवहार करे। साहित्य की भाषा न अब 'हिंदुस्तानी है और न आगे होने के लक्षण ही दिखाई देते हैं। (महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, खण्ड-1/संपादक भारत यायावर/पृ. 167)।'' द्विवेदी जी ने उर्दूपरस्त अवाम और सरकार की मंशा को भाँप लिया था। उन्होंने लिखा, 'हिंदुस्तानी नाम की आड़ में उर्दू ही का पक्ष लिया जाता है और बेचारी हिंदी के बहिष्कार की चेष्टा की जाती है। (वही/पृ. 166)।' हिंदुस्तानी का आशय और उसकी व्याप्ति पर द्विवेदी जी दुविधारहित होकर घोषणा करते हैं कि भारत के कुछ लोग सरलता से हिंदुस्तानी बोलने में सहूलियत पाते थे, 'जो लोग हिंदी या उर्दू अच्छी तरह नहीं बोल सकते- उदाहरणार्थ मदरासी, महाराष्ट्री और सबसे अधिक हमारे साहब लोग-उन्हीं की भ्रष्ट भाषा यदि

हिंदुस्तानी कही जा सके तो कही जा सकती है। यही लोग टूटी-फूटी हिंदी बोलकर किसी तरह अपना काम चलाते हैं। इसी अर्थ में 'हिंदुस्तानी आख्या चरितार्थ हो सकती है। इसी अर्थ में वह सारे हिंदुस्तान की भाषा हो सकती है।(वही/पृ. 207)।'' हिंदुस्तानी भाषा का प्रस्ताव 1921 की मर्दुमशुमारी से उपजा था। जिसको नोटिस में लेते हुए आचार्य द्विवेदी ने एक लेख 1923 ई. में लिखा था और हिंदी तथा उर्दूप्रेमियों, दोनों को सावधान किया था, 'ऊपर ही ऊपर देखने में तो 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के पिष्टपोषकों की दृष्टि से एक-सा हानिकारक है क्योंकि इस नये नाम ने उन दोनों भाषाओं के नाम को उड़ा दिया है। (वही)।' हिंदी-उर्दू के ऐक्य के द्विवेदी जी प्रशंसक थे जिससे ज्ञात होता है कि गंगा-जमुनी संस्कृति पर विश्वास करते थे। उन्होंने भाषा को धर्म से जोड़कर कभी नहीं देखा। हिंदू-उर्दू सीखते रहे हैं तथा मुसलमान हिंदी। उनके शब्द हैं, 'बहुत पुराने जमाने से हिंदू-उर्दू-फारसी सीखते आये हैं। उनकी लिखी हुई सैकड़ों पुस्तकें मौजूद हैं। अब तक भी कितने ही स्कूलों और कॉलेजों में उर्दू-फारसी पढ़ाने वाले अध्यापक तक हिंदू हैं। (वही/पृ. 195)।' द्विवेदी जी में जो नवजागृति आई थी उसमें विवेक का रंग था। उन्होंने न मुसलमानों को पराई नजर से देखा, न उनकी अपनायी हुई उर्दू भाषा को। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में अंग्रेजों की कूट-नीति को उन्होंने समझ लिया था तथा हिंदी-उर्दू के ऐक्य पर तथा तत्कालीन सामाजिक संस्कृति पर वे नवजाग्रत स्वर में बोल रहे थे। उनके बोलों में सहिष्णुता तथा सहअस्तित्व जैसे अमोघ गुण थे, 'जिन मुसलमान भाइयों के साथ हम आज कोई 800 वर्षों से रहते हैं और जिनका और हमारा चोली-दामन का साथ है, उनकी भाषा से घृणा करना मनुष्यत्व-सूचक नहीं। आप लोग हिंदी न पढ़ें, हम आपकी भाषा और आपकी लिपि का ज्ञान प्राप्त करने में जरा भी अनुदारता से काम न लेंगे। (वही/पृ. 198)।'

भाषा तात्त्विक दृष्टि से उर्दू और हिंदी दोनों भाषाओं में द्विवेदी जी कोई अन्तर नहीं देखते थे क्योंकि दोनों में क्रियापदों का एकत्व है। लिपि बदलने से अथवा संस्कृत या फारसी-अरबी से शब्द लेने के कारण हिंदी उर्दू का विभेद खड़ा करना उन्हें असह्य था। मोटे तौर पर हिंदी-उर्दू दोनों का व्याकरण भी एक देखकर द्विवेदी जी की टिप्पणी किसी गंभीर भाषा वैज्ञानिक की जुबानी है। वे लिखते हैं, 'किसी भाषा की असलियत उसके व्याकरण से पहचानी जाती है।

हिंदी का जो व्याकरण है, उर्दू का भी प्राय: वही है। संस्कृत और प्राकृत के जैसे असंख्य रूप, रूपान्तर और अपभ्रंश हिंदी में हैं वैसे ही उर्दू में भी हैं। फिर उर्दू में भिन्न-भाषात्व का आरोप कैसे किया जा सकता है। (वही/पृ. 255)' पक्ष-समर्थन की इतनी बातों के बाद उर्दू की यह आचार्य द्विवेदी ने एक मूल बड़ी व्यावहारिक बात लिखी है, जो मेरे देखने में कहीं और नहीं आई। आगे हम वह वक्त उद्धरित कर रहे हैं जिसे पढ़ने पर पता चलेगा कि भाषा-साहित्य आदि के चिन्तन-क्रम में शैक्षिक मूल्य उनके यहाँ बराबर निकष का काम करते रहे। वह उदाहरण है, उर्दू की लिपि सचमुच ही इतनी दोषपूर्ण है कि उसके कारण मुसलमानों में शिक्षा की यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकती। और जब तक उसका त्याग न होगा तब तक न शिक्षा ही का यथेष्ट प्रचार होगा और न अखबार और किताबें ही सस्ते दामों पर बिकेंगी (वही/पृ. 249)।'

भाषा और व्याकरण यह आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में निरन्तर अग्रलेख लिखे। उन अग्रलेखों में मौलिक विचारणा सुरक्षित है। उनमें स्वप्न हैं जो आगे फलित होने की मंशा से देखे गए हैं। यद्यपि उन्होंने हिंदी भाषा पर व्याकरण की कोई पुस्तक नहीं लिखी और इस कारण वे हिंदी के वैयाकरण नहीं माने जाते, लेकिन हिंदी भाषा और व्याकरण को जितना पुख्ता खड़ा उन्होंने किया, उतना किसी ने नहीं किया। भाषा और व्याकरण से संबद्ध कुछ लेखों की उपस्थिति को छोड़ते हुए उनकी महार्ध सेवा संशोधन के लिए उठी हुई कलम की ताकत में छिपी हुई है। वे संपादकाचार्य हैं, और शायद कवि, निबंधकार और आलोचक से बढ़कर उनकी पहचान का महत्त्व इसी में छिपा है। बीसवीं सदी की कलम को उन्हीं की तरह ठीक और दुरुस्त करने में उन्हीं के समान दो और संपादकाचार्य हैं जो यदि तत्पर नहीं होते तो हिंदी व्याकरण और भाषा की 'अनिस्थरता' तो नहीं जाती। वे दो पुण्य स्मृत्य संपादक हैं शिवपूजन सहाय और बाबू विष्णुराव पराड़कर। कोई इनकी भाषा देखे। आज की भाषा से-मानक हिंदी भाषा से मिलान करके देख ले, कोई अन्तर नहीं मिलेगा। पुरातनता नहीं मिलेगी। 'पूर्वीपन' या 'पश्चिमपन' नहीं मिलेगा। उन्होंने भाषा-व्यवहार का पहला निदर्शन स्वयं अपने लेखन में किया तथा इसके अनन्तर दूसरों की भाषा का संशोधन भी बताया। प्रतिनिधि कवियों को और प्रतिनिधि गद्यकारों को उन्होंने खड़ा किया जो 'द्विवेदी-मण्डल' के साहित्यकार कहलाये और जिनकी संख्या दो दर्जन के आसपास होगी। आचार्य

शुक्ल ने आधुनिक काल के तृतीय उत्थान के लिए एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी अपने 'इतिहास' में की है, 'हिंदी भी एक भाषा है, जो आते-आते आती है (पृ. 435)।' भाषा-लाघव को प्राप्त करने की प्रयत्नशीलता पर आचार्य की टिप्पणी सटीक है। यह प्रयत्नशीलता द्विवेदी-युग में चरम पर थी जिसका अच्छा परिणाम आया। वैसे खड़ीबोली जिस नवीनता-समर्थित भावराशि का प्रवर्तन करना चाहती थी उसकी भी विधिवत शुरुआत द्विवेदी जी की प्रेरणा से ही हुई।

कहने का आशय यह है कि भाषा को भावानुसारी और युग-जीवन के अनुरूप ढालने का बड़ा स्तुत्य प्रयास व्यक्तिगत रूप से द्विवेदी जी ने किया और उन्हीं के द्वारा सांस्थानिक उपक्रम 'सरस्वती' कार्यालय से संपन्न हुआ। आचार्य द्विवेदी ने हिंदी को 'जीवित भाषा' मानकर इसके लिए कठिन उद्योग किए। आचार्य मानते थे कि हिंदी में चाहे साहित्य-विषयक न्यूनता हो, परन्तु यह 'देशव्यापक भाषा होने के सर्वथा योग्य है।' 'सरस्वती' पत्रिका में नवम्बर, 1903 में लिखा, 'हमारा देश हिंदुस्तान है, अतएव हमारी स्वाभाविक भाषा हिंदी है। हिंदी और हिंदुस्तान का संबंध अविच्छिन्न है (महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली/ खण्ड-1 पृ. 140)।' द्विवेदी जी के अग्रलेखों में हिंदी को दूसरी विश्वभाषाओं और हिंदुस्तान को दूसरी वैश्विक व्यवस्थाओं से परखने का उपक्रम झलकता है। आचार्य द्विवेदी प्रचलित विदेशी शब्दों के विरोधी न थे, बल्कि विदेशी भाषाओं और अंग्रेजी आदि के प्रति भी कोई बैर-भाव नहीं था। उनकी मुक्त और व्यापक भाषा-दृष्टि थी। हिंदी भाषा की ग्राहिका शक्ति पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा, 'जिस तरह शरीर के पोषण और उपचय के लिए बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। (वहीं पृ. 81)।'

आचार्य द्विवेदी नैतिक प्रतिज्ञाओं को भाषा-चिंतन में बनाये रखते हैं। उनके भाषा-विमर्श में 19वीं और 20वीं शताब्दियों की नैतिक प्रतिज्ञायें मिलती हैं। आत्मावलंबन पर उनका विशेष बल है। हिंदी भाषा के संदर्भ में कहा जायेगा कि यदि हममें अपनी भाषा के प्रति अनुराग नहीं है, यदि हम इसका उन्नयन करने में संकोची व्यवहार दर्शाते हैं, तो सरकार के प्रयत्न बहुत लाभदायक नहीं। तत्कालीन कचहरियों के वकीलों पर तंज कसते हुए द्विवेदी जी उनके हिंदी-प्रेम को जाग्रत करना चाहते हैं, 'ये लोग 30 रुपये का मोटर-ड्राइवर और 15 रुपये का कोचमैन

खुशी से रक्खेंगे, पर अपने देश, अपनी भाषा और अपने भाइयों के सुभीते के लिए 10 रुपये पर एक हिंदीदा मुहर्रिर न रक्खेंगे (वहीं/पृ. 200)! भाषा-चिन्तन में द्विवेदी जी की राष्ट्रीय भावना भी जुड़ गई है। वे साहस, उत्तेजना और स्वार्थत्याग को उच्च गुण घोषित करते हुए अंग्रेजों से सीख लेने का आत्मबोध देशवासियों में भरते हुए लिखते हैं, ''हमें अपने शासक अंग्रेजों की ओर दृकपात करना चाहिए। देश का काम उपस्थित होते ही वे किस साहस से, किस उत्तेजना से, किस स्वार्थत्याग से उठ खड़े होते हैं और तन, मन, धन सभी अर्पण करके कार्यसिद्धि होने तक सारा दुराग्रह और सारा पक्षपात भूल जाते हैं। यदि भाषा के संबंध में भी हम लोगों ने यह गुण उनसे न सीखा तो हमने कुछ भी न किया (वही/पृ. 139)।'' नैतिकता मिलाकर आलोचना की रीति अद्‌भुत थी। भाषा एवं साहित्य में, लिपि-विकास में एकता के मूल्य का प्रवर्तन करना वे नहीं भूलते, 'सारे मुल्क में उर्दू-लिपि का प्रचलित होना असंभव है। देवनागरी का संभव है। उसका प्रचार अन्य प्रान्तवालों ने शुरू भी कर दिया है। ऐक्य से अनेक लाभ और अनेक से अनेक्य हानियाँ हैं (वही/पृ. 256)।' उपलंभ और चेतावनी के स्वर भी कभी-कभी देखने को मिलते हैं, 'हिंदी और हिंदुस्तान का संबंध अविच्छिन्न है। देखें, हमारे देशबंधु इस संबंध को दृढ़ करने के लिए कब कमर कसते हैं (वही/पृ. 146)।' द्विवेदी जी देश और जाति के इतिहास को साहित्य की एक शाखा मानते हैं तथा राष्ट्र-प्रेम का, राष्ट्रीयता की पहचान का महत्त्वपूर्ण कारक घोषित करते हैं, 'स्वतंत्रता चाहे चली जाये, पर इतिहास न जाना चाहिए। ...क्योंकि जिस जाति का इतिहास नष्ट नहीं हुआ और जिसमें अपने पुण्य पुरुषों का आदर बना हुआ है, वही अपनी मातृभूमि के अध:पात से विदीर्णहृदय होकर, अनुकूल अवसर आने पर, फिर भी अपना मस्तक उन्नत कर सकती है। (वही/पृ. 72)।' कोई भी देख सकता है कि आचार्य द्विवेदी के मन्तव्यों में नैतिक बल और शैक्षिक बल एक साथ सक्रिय हैं। वे सलाहकारी टिप्पणियाँ लिखते हैं तथा भाषा और साहित्य के प्रश्न भी जातीय गौरव देशोद्धार, इतिहास-भूगोल आदि के परिवृत्त में रखकर ही उठाते हैं। उनकी साहित्यिक अभिरुचि एकदम भिन्न है, यह भी एक कारण हो सकता है। जिससे वे अपने चारों ओर नीतिमत्ता की बाड़ लगा लेते हैं। ध्यान दीजिए कि द्विवेदी जी के प्रिय कवि 'शिवाबावनी' के रचयिता भूषण हैं, केशवदास या मतिराम नहीं। यानी शृंगार और नायिका भेद मूलक साहित्य को अपनी

दृष्टिभंगी से वे खारिज कर रहे हैं। यह नया आस्वाद उनका अपना बनाया हुआ है। सुखद आश्चर्य है कि वे इसे युग-जीवन की प्रवृत्ति बनाने में भी सफल हो जाते हैं। साहित्य में चयन-वर्जन शीर्ष पर पहुँच जाता है। वे साहित्यिक रचनाओं के चयन पर भाषा-रूप और साहित्यिक उपयोगिता दोनों को निकष बनाते हैं। भाषा की त्रुटि का तो वे स्वयं परिहार करते हैं किंतु साहित्य-प्रकार की गुणवत्ता कम दीखने पर उसे अस्वीकृत करते हैं, प्रकाशन योग्य नहीं समझते। उन्होंने मातृभाषा के स्वराज्य पर बलात्मक लेखन करते हुए नीतिमत्ता की मानो पराकाष्ठा छू ली। उदाहरण देखिए, 'यदि हमें अपने धर्म-कर्म, सदाचार, इतिहास, वेद, शास्त्र, पुराण, विज्ञान, समाजनीति, राजनीति आदि सभी विषयों का ज्ञान अपनी ही भाषा के द्वारा होने लगे, अन्य भाषाओं का मुँह न ताकना पड़े, तो समझना चाहिए कि हमें स्वभाषा का स्वराज्य प्राप्त हो गया (वहीं/पृ. 67)।' मातृभाषा के व्यापक, औदात्य समन्वित उद्देश्यों में ज्ञानानुशासन की मूलभूत अधिरचनाओं को यहाँ द्विवेदी जी ने गिन लिया है। यहाँ मातृभाषा से आशय हिंदी है। यहाँ देखते यह भी बनता है कि चाहे मातृभाषा का सवाल हो या देशा व्यापक भाषा का, द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका के प्लेटफॉर्म से अपने युग-जीवन की आवाजें सुनकर, संज्ञान लेकर अपनी प्रतिक्रियाएँ दी हैं। इन प्रतिक्रियाओं का स्वर संवादात्मक है, प्रेरक है और तर्क समन्वित है। द्विवेदी जी की नैतिकताओं में आधुनिकता सम्मिलित थी। वे उदार थे। उन्होंने बहुत से हिंदी विरोधियों और समर्थकों को नोटिस में लेकर अपना पक्ष रखा है। रोमन लिपि के समर्थन करनेवाले पादरी जे. नोल्स, लंदन के 'राजपूत हेराल्ड' के संपादक ठाकुर जस्सराजसिंह जी सिसोदिया एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के संपादक सर चार्ल्स लायल, जस्टिस टी.सी. पिगट, डॉ. सुंदरलाल, सर सय्यद अहमद, लाहौर कॉलेज के प्रिंसिपल मौलवी मुहम्मद हुसैन, गंगाप्रसाद वर्मा, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, जस्टिस अर्सिकन पेरी आदि अनेक भाषा-समीक्षकों का संज्ञान लिया है। उन्होंने ग्रियर्सन की प्रशंसा की है। ग्रियर्सन के 'भाषा सर्वेक्षण' को उन्होंने बड़ा कार्य बताया है (13 जिल्द)। ग्रियर्सन की भाषा-दृष्टि पर उन्होंने हामी भरते हुए लिखा, 'आप सरल भाषा के पक्षपाती हैं और हिंदी में अकारण संस्कृत शब्द और उर्दू में अकारण अरबी-फारसी के शब्द मिलाने के विरोधी हैं (पृ.-214)।' ग्रियर्सन की संकीर्णता पर उन्होंने चोट करते हुए लिखा, 'उन्हें यह दिखाना चाहिए कि यही (हिंदी) भाषा

ऐसी है जिसके बोलने वाले सबसे अधिक हैं और जिसे भिन्न भाषा-भाषी प्रान्तों के निवासी भी किसी हद तक समझ सकते हैं (पृ.-212)।'

आचार्य द्विवेदी भाषा और व्याकरण यह सैद्धान्तिक बातें करते हैं। वे भाषाओं में भिन्नता प्राकृतिक भिन्नता के ही कारण मानते हैं। व्याकरण के बारे में उनका मत यह है कि यह 'प्रयुक्त शब्दों और वाक्यों का अनुशासन मात्र हैं।' भाषा का स्वभाव वे 'अनस्थिर' मानते थे। बोलने की भाषा को सर्जनात्मकता के लिए व्याकरण की शृंखला में बँधने की आवश्यकता नहीं। व्याकरण द्विवेदी जी के अनुसार एक 'बेड़ी' है। व्याकरण के कारण भाषा स्थिर होती है, अन्यथा 'अनस्थिर' होती है। भाषा के लिए लिपि एक 'आकस्मिक बात' है क्योंकि 'जितनी भाषायें, जितनी बोलियाँ दुनिया में हैं, उनकी अधिक संख्या अब तक लिपिबद्ध नहीं हुई है(वही/पृ.-297)।' भाषा परिवर्तनशील होती है, प्राकृतिक उद्देश्य यह नहीं कि जो भाषा बोली जाये वह लिखी भी जाये। लिपि भाषा को स्थायीत्व मात्र प्रदान करती है, संरक्षण करती है। विकासशील भाषा को दुनिया की दूसरी भाषाओं से शब्द लेने ही चाहिए। इस दृष्टि से अंग्रेजी और हिंदी दोनों अग्रसर हैं। उपर्युक्त कुछ तथ्य जो द्विवेदी जी के लेखन में बिखरे हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि आधुनिक भाषाविज्ञान की भी बारीक समझ द्विवेदी जी को थी।

आचार्य द्विवेदी के भाषा-चिन्तन में भाषा के कवियों और गद्यकारों के बहुतेरे उल्लेख ससंदर्भ आते हैं। जिससे प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी का साहित्येतिहास, ज्ञान बड़ा पुख्ता था। उन्होंने हिंदी भाषा के पीछे पड़े हुए जनबल को पहचान लिया था। हिंदी की वकालत उन्होंने तर्क की तुला पर की और उसके जनचरित्र का बोध भारतवासियों को कराया।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविता और काव्य-चिन्तन

डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम आते ही एक सामान्य पाठक के सामने उनकी भाषा परिष्कारक की मूर्ति खड़ी नजर आती है। यह सच है कि उन्होंने अल्पवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा को परिमार्जित कर एक व्यवस्थित रूप दिया। हिन्दी गद्य और पद्य को अनुशासन में लाने का कार्य किया। हिन्दी की जग्रीप अस्मिता की पहचान करायी। खड़ी बोली को जीवन-संग्राम की भाषा बनाया। भाषा संबंधी नया प्रक्षेमान प्रस्तुत किया और हिन्दी में नवीन विचारधारा, नवजागरण और स्वाधीन चिंतन का आलोक-पर्व उपस्थित किया लेकिन इससे एक युगनायक की सम्पूर्ण तस्वीर नहीं बनती। उसकी पूर्णता के लिए उनके सम्पूर्ण अवदान को उसमें सम्मिलित करना होगा। उनकी काव्य-प्रतिभा और काव्य-दृष्टि को भी महत्ता के साथ शामिल करना होगा।

कवि के रूप में आचार्य द्विवेदी को वह समादर नहीं मिला जो उनके कवि-व्यक्तित्व के लिए अपेक्षित है। उनकी काव्य-कृतियाँ- 'काव्य-मंजूषा', 'कविता-कलाप', 'हिन्दी काव्यमाला' 'काव्य-सुमन' 'कान्य कुब्ज', 'अबला विलाप' भाषा-भाव शैली की दृष्टि से कमजोर नहीं हैं लेकिन विद्वत् समाज में उनकी चर्चा का न होना या बहुत कम होना अखरता है। कहना न होगा कि द्विवेदी जी के मन में कविता के प्रति बचपन से ही अनुराग था और पिंगल शासन के अध्ययन तथा अभ्यास के तक वे अपने को महाकवि भी मानने लगे थे- 'बचपन से मेरा अनुराग तुलसीदास की 'रामायण' और ब्रजवासी दास के 'ब्रजविलास' पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कण्ठस्थ कर लिए थे। होशंगाबाद में

रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'कविवचन सधा' और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वही मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा।' (2 मई 1933 को नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा 'अभिनन्दन ग्रंथ प्रदानोत्सव' के अवसर पर दिया गया वक्तव्य)।

आरम्भ में द्विवेदी जी की काव्य-भाषा ब्रजभाषा थी। मराठी और संस्कृत साहित्य के प्रभाव से उनका पदविन्यास भी कुछ-कुछ उन भाषाओं जैसा ही था। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित 'नागरी तेरी यह दशा' कविता ब्रजभाषा में ही रचित है। संस्कृत छन्द विधान में 'अयोध्या का विलाप' शीर्षक उनकी कविता भी ब्रजभाषा में ही लिखी गई है-

प्राकार जासु नभ मण्डल में समाने।
प्राचीर जासु लखि लोकप हू सकाने।।
जाकी समस्त सुनि संपति की कहानी।
नीचे नवाय घिर देवपरी लजानी।।

ब्रजभाषा में श्रृंगार और भक्ति काव्य-रचना की एक समृद्ध परम्परा रही है लेकिन द्विवेदी जी ने जीवन-यथार्थ की कविता की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। वैसे श्रृंगार खासकर नायिका-भेद वर्णन से उन्हें काफी चिढ़ थी जिसका इजहार उन्होंने अपने 'नायिका-भेद' शीर्षक लेख में किया है। नायिका-भेद वर्णन को तो वे वाक् शक्ति का दुरुपयोग ही मानते थे- 'इस विस्तृत विश्व में ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, वन, निर्झर, नदी, तड़ाग आदि निर्माण किये हैं कि यदि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनंत काल तक उन सबका वर्णन करते रहें तो भी उनका अंत न हो। फिर हम नहीं जानते और विषयों को छोड़कर नायिका-भेद सदृश अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए? इस प्रकार की कविता करना वाणी की विगर्हणा है।' (साहित्य सिद्धान्त विमर्श-संपादक-रीतारानी पालीवाल, पृ.112-13)। यहाँ यह ध्यातव्य है कि द्विवेदी जी न केवल शिष्ट और मर्यादित साहित्य की वकालत कर रहे हैं बल्कि कवियों को कविता का विषय भी सुझा रहे हैं। कहना न होगा कि वे केवल साहित्य सृष्टा ही नहीं बल्कि साहित्यकार निर्माता भी थे। उन्होंने रचनाकारों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार की जिनका अनुदान हिन्दी साहित्य के लिए मील का पत्थर है। मैथिलीशरण गुप्त,

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि न जाने कितने ही रचनाकार उनके मार्गदर्शन से कृतार्थ हुए। गुप्त जी ने उनकी कृतज्ञता भी ज्ञापित की है-'करते तुलसीदास जी कैसे मानस नाद/ महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।' (साकेत)। इतना ही नहीं काव्य में उपेक्षिता उर्मिला को गुप्त जी ने जो प्रतिष्ठा दी उसकी प्रेरणा भूमि आचार्य द्विवेदी ही थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति का महिमा-वितान, गौरवमय अतीत का पुनराख्यान, विश्वबन्धुत्व, और मानवतावाद की पताका फहराकर द्विवेदी जी के आदर्शों-सिद्धान्तों, मान्यताओं और मूल्यों को ही स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

द्विवेदी जी गगन बिहारी उन्मुक्त उड़ान भरने वाली कविता लिखने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था कि अपने आस-पास और देखे-सुने को कविता की वर्ण्य विषय बनाया जाना चाहिए। अपने 'कवि और कविता' निबंध में उन्होंने लिखा है 'कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बड़े-बड़े काम हुए हैं। ...कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जहर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत।... संसार में जो बात जैसी दीख पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ग्यारहवाँ संस्कारण, पृ. 467)। द्विवेदी जी ने काव्यारम्भ से ही यथार्थ चित्र खींचने में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया है। 'भारत दुर्भिक्ष' एवं 'त्राहि नाथ त्राहि' कविताओं में जीवन का यथार्थ प्रकट हुआ है। एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है जिसमें भूख का दारुण दृश्य उपस्थित है-

गलि गलि कंगाल पेट पर हाथ दोऊ धरि धम्है
अन्न-अन्न पानी-पानी कहि इगेर प्रचंड मचावैं।
बालक, युवा, जरठ, नारी, तर, भूख-भूखकहि गावैं
अविरल अश्रुधार आँखिन ते वा प्लट कहावैं

संवेदना कविता की पूँजी है। इसीलिए कवि को अत्यधिक संवेदनशील जीव माना गया है। जिसमें जितनी संवेदना की गहराई और उदारता होगी उसकी कविता उतनी ही जन के निकट होगी। महावीरप्रसाद द्विवेदी एक भावुक एवं सहृदय रचनाकार हैं। इसीलिए उनकी संवेदना के विस्तार में वह हर प्राणी वर्ण्य विषय है जो दुखी, पीड़ित, उपेक्षित, तिरस्कृत, अपमानित, विवश, अक्षम, लाचार

है। यही भावना समाज सुधार की प्रेरणा देती है। मनुष्यता के विकास का मार्ग प्रशस्त्र करती है। दुर्भिक्ष के कारण आम आदमी की पीड़ा ने द्विवेदी जी को बहुत पीड़ित किया था। इसीलिए वे काफी व्यथित मन से दुर्भिक्ष पीड़ित जन का करुण क्रन्दन इस रूप में प्रकट करते हैं-

लोचन चले गये भीतर कह, कंठक सम कच छाए
कर में खप्पर लिये अनेकन जीरण पर लपटाए।
मांस विहीन हाड़ की ढेरी, भीषण भेष बनाए
मनहुँ प्रबला दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाए।

अंग्रेजी साम्राज्य ने देश को हर तरह से विनष्ट किया था। उनके काल में अनेक तरह की विपदाओं का सामना लोगों को करना पड़ा था। अकाल और महामारी में जनता पस्त और बेहाल थी। भुखमरी तथा चिकित्सकीय सुविधाओं के अभाव के कारण लाखों लोगों को मरते हुए देखकर द्विवेदी जी बहुत दुखी और खिन्न थे। उनका ही क्यों अभाव और कुव्यवस्था से किसी का भी हृदय फट सकता है-

हे रघुराम! लाज भारत की आज रहै किहि भाँति
अति विकराल काल की भीषण भेरी सुनी न जाती।
नाती पूत मीत ममता प्रघ्नि भए सुजाति कुजाति
हाहाकार सुनत लोगन के काकी फटै न छाती।

भारत की दुर्दशा और दु:ख दारिद्रय से मुक्ति हेतु महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जन-जागरण और देश भक्ति संबंधी कई कवितायें लिखी हैं। स्वाधीनता आन्दोलन में स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की प्रतिज्ञा सबसे पहले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने की। उनका यह प्रतिज्ञा-पल 23 मार्च सन् 1874 ई. की 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित है। महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीनों ने भी स्वभाषा, स्वराज्य और स्वदेशी पर जोरदार ढंग से लिखा है। स्वदेशी के उपयोग और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की अपील करते हुए महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'सरस्वती' पत्रिका में लिखा है-

स्वदेशी वस्त्र को स्वीकार कीजै
विनय इतनी हमारी मान लीजै

समझ करके विदेशी वस्त्र त्यागो
न जाओ पास उससे दूर भागो।

कविता को ब्रजभाषा की काव्य रूढ़ियों, नायक-नायिका भेद, भोंडी रसिकता, लम्पटता, श्रृंगारिकता, ऊहात्मकंता आदि से मुक्ति दिलाने के प्रयास में रत महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं भी ब्रजभाषा में काव्य-रचना करना छोड़ खड़ीबोली को काव्य-सृजन की भाषा बना लिया था। उन्होंने भाषा की सहजता, सरलता को संप्रेषण के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार किया लेकिन संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट शब्दों में निहित चाहता की उपेक्षा भी नहीं की/ ऐसा माना जाता है कि खड़ीबोली हिन्दी में लिखी 'प्लेगस्तवराज' द्विवेदी जी की पहली रचना है। यह गद्य में लिखी हुई हिन्दी की भी पहली कविता मानी गई है। यह गद्य कविता उनके कविता-संग्रह 'काव्य-मंजूषा' में संग्रहित है। इस कविता को 19 मार्च 1900 ई. के 'भारत मित्र' में प्रकाशित करने के उपरांत संपादक बालमुकुन्द गुप्त ने इसकी प्रशंसा में लिखा था- 'जितने लेख आपने भारत-मित्र' में लिखे, उस सब में यही हमें पसंद आया और इसी की बाहर से भी प्रशंसा हुई।' संपादक और पाठक को पसंद आने वाली द्विवेदी जी की कविता 'प्लेगस्तवराज' की कुछ पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं-

'हे प्रलयंकर प्लेग! आपके दया तो छू ही नहीं गई
निर्दयता में आप नाना साहेब के भी नाना हैं'
जरा जरा से बच्चों को आप बिना माँ-बाप कर डालते हैं
जिनका हिरागमन तक नहीं हुआ, ऐसी अल्पवयस्का
बालाओं को आप विधवा कर डालते हैं।'

यहाँ यह ध्यातव्य है कि, उपर्युक्त कविता को 'भारत-मित्र' के संपादक बालमुकुंद गुप्त ने लिख कहकर संबोधित किया था। कविता का आवरण गद्यात्मक है भी। तो क्या इसे कविता नहीं माना जाना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के पास मिलेगा। जुलाई 1901 की 'सरस्वती' में उनका एक लेख 'कवि-कर्त्तव्य' नाम से प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने यह माना है कि कविता गद्य और पद्य दोनों में हो सकती है। कविता का लक्षण जहाँ कहीं पाया जाए, चाहे, पद्य में चाहे गद्य में, वहीं कविता है उनका यह भी कहना था कि 'अर्थ-सौरस्य ही कविता का प्राण है।' यदि यह है तो छन्द-अलंकार के बिना भी

कविता की सार्थकता है। दिसम्बर 1903 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कविता' शीर्षक लेख में भी उन्होंने कविता की परिभाषा में लगभग यही बात कही है- 'अन्त:करण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। जब मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं, वही कविता है। चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक।' रसवादी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की काव्य-भाषा के अत्यधिक गद्यवत हो जाने में इतिवृत्तात्मकता और मन को बाँधने की क्षमता का अभाव दिखाई दिया। ' उनकी (महावीरप्रसाद द्विवेदी) अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक' हुई। उनमें वह लाक्षणिकता, वह चित्रव्ययी भावना और वक्रता बहुत कम आ पाई जो इस संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है। 'यथा', 'सर्वथा', 'तथैव' ऐसे शब्दों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी अधिक गद्य का स्वरूप दे दिया।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ग्यारहवाँ संस्करण, पृ. 563)। यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य शुक्ल भले ही द्विवेदी जी की कविता में रसमयता और अभिव्यंजना की वक्रतों आदि का अभाव देखते हों लेकिन आचार्य द्विवेदी की अपनी एक काव्य-दृष्टि थी और जिसे वे कविता में चरितार्थ होते देखना चाहते थे। इसका उदाहरण उनकी वह कविता है जिसमें उन्होंने अपने समय की कविता से खिन्न होकर अपनी मनोव्यथा प्रकट की थी-

सुरम्यरूपे, रसराशि-रंजिते
विचित्र-वर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानंद विधायिनी महा
कवीन्द्रकांते, कविते! अहो कहाँ?
मांगल्य-मूलमय वारिद-वारि-वृष्टि।।

महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को अपने समय के रचनाकारों से भी शिकायत थी। भाषा और भाव दोनों के संबंध में वे चाहते थे कि कविगण सहजता अपनायें। कृत्रिमता कविता को पाठक से दूर करती है। उनका मानना था कि 'कविता के लिए कविता करना एक तमाशा है।' (जनवरी, 1911 ई. की 'सरस्वती' में प्रकाशित उनके लेख 'कर्म कर्त्तव्य' से उद्धृत)। वे 'कविता कविता के लिए नहीं बल्कि कविता जीवन के लिए' सिद्धान्त के मानने वाले थे। उनकी राय में एक श्रेष्ठ कवि में रचनाधर्मिता सहज होती है न कि अभ्यासजन्य। जोड़-तोड़कर

कविता बनाने को वे कवि-कर्म नहीं मानते थे। अपने समय के रचनाकारों की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा-

भला बुरा छपवाये सिद्ध
धन में एही नाम ही प्रसिद्ध
नाटक, उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते हैं।
जिनके नाव कूद का सार
बंगला भाषा का भण्डार
वे ही महामहिम विद्वज्जन ग्रंथकार कहलाते हैं।
इधर-उधर से जोड़-बटोर
लिखते हैं जो तोड़ मरोड़
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आचार्य द्विवेदी ने साहित्यानुशासन बनाने की दिशा में एक संपादक के रूप में जो कार्य किया उसकी कोई तुलना नहीं है। उन्होंने रचनाकारों को न केवल नवीनतम ज्ञान-विज्ञान से अनुप्राणित साहित्य-सृजन के लिए प्रेरित किया बल्कि पाठकों के मानसिक स्तर और रुचि संवर्धन का भी ध्यान रखा। यही कारण है कि सन् 1903 से 1920 तक की 'सरस्वती' में वे सभी विषय पाये जा सकते हैं जो देश की गौरव-गरिमा, अतीत-दर्शन, समन्वय-सामंजस्य, सभ्यता-संस्कृति की महानता और प्रसार, कलाओं से संबंधित प्राचीन विवरण, प्राच्य-पाश्चात्य दार्शनिक मतवाद, प्राकृतिक सौन्दर्य, राजनैतिक आर्थिक मुद्दे, अकाल-अभाव, गरीबी-शोषण आदि से सम्बद्ध थे। उन्होंने राष्ट्रीय भावना-पुरादर्शवाद और विश्व गुरु भारत की जयगाथा को भी उसने शामिल किया। नभ सांस्कृतिक चेतना, नारी के प्रति सम्मान, मानवतावादी विचार, लोक-जीवन के विविध रंगों से रंगकर 'सरस्वती' को जिस शिखर पर पहुँचाया उसी का परिणाम है कि द्विवेदी जी और यह पत्रिका एक-दूसरे के पर्याय बनकर उपस्थित होते हैं। उन्होंने इसके माध्यम से जाग्रतिक मुद्दों पर वाद-विवाद-संवाद की संभावनाओं की भी तलाश की। असहमतियों के बावजूद नवीनता के आग्रह को अस्वीकार नहीं किया तो मूल्य शोषित पुरातनता के मोह से परहेज भी नहीं किया। उनकी दृष्टि में रंगमंच महत्व हम से भी अधिक था और इसीलिए उन्होंने अपने समकालीन रचनाकारों से स्वभाषा में लिखने का आग्रह किया-

माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई,
भाषा है उसी प्रकार महामदड़ाई।
माता से पूज्य विशेष देश भाषा है,
मिथ्या यह हमने वचन नहीं भाखा है।
माता से जग के बीच जन्म मिलता है,
भाषा से सब व्यवहार सदा चलता है।
इससे ही उसकी कीर्ति विज्ञ गाते हैं,
तत् सेवाकर आनन्द अमित पाते हैं।
इसलिए स्वभाषा भक्ति देश हितकारी,
कर भली, भाँति हासिये पुण्य अधिकारी।

द्विवेदी जी दूसरी भाषा सीखने के प्रति असहिष्णु नहीं थे। उनका मानना था कि आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर एक नहीं अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए। ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण करने में भलाई है किन्तु जहाँ तक सृजन की बात है तो वह स्वभाषा में ही होना चाहिए। 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है- 'अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को नि:सहाय, निरूपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा सुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।' (साहित्य सिद्धान्त विमर्श, संपादक, रीतारानी पालीवाल, पृ. 109)। इससे यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की तरह निज भाषा की उन्नति में ही सब कुछ की उन्नति देखते थे। वे नागरी लिपि के समर्थक और उसकी सतत् प्रगति के आकांक्षी थे। वे चाहते थे कि हिन्दी भाषी देवनागरी का ही प्रयोग करें किन्तु ऐसा न होते देख उनका मन बहुत दुखी हुआ था। उन्होंने अपनी खिन्नता नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित 'नागरी तेरी यह दशा' कविता में इस प्रकार प्रकट की है-

श्रीयुक्त नागरि! निहारि दशा तिहारी,
होवै विषाद मन माहि अतीव भारी।

हा हंत लोग कत मातु तुम्हैं बिसारी,

सेवै अजान उरदू उर माहि धारी।

कालिदास की 'निरंकुशता' शीर्षक अपने लेख में आचार्य द्विवेदी ने कवियों की कुकुरमुत्ता उपज पर काफी तीखा व्यंग्य किया है 'आज कहा हिन्दी के कवियों ने बड़ा जोड़ पकड़ा है। जिधर देखिये उधर कवि ही कवि, जहाँ देखिये वहाँ कविता ही कविता। कवि बनाने के कारखाने दिन-रात जारी हैं। कोई कहता है हमारा काव्य-भास्कर ही कवि बनाने के लिए एक मात्र साधन है, कोई कहता है हमारे पिंगल के प्रसाद से गाँव-गाँव में कवि हो सकते हैं। शायद इन्हीं लोगों के उद्योग का फल है जो हिन्दी में आजकल इतने कवियों का एक ही साथ प्रादुर्भाव हो गया है पर इन कविता-कुबेरों के प्रादुर्भाव से सरस हृदय सज्जन बहुत तंग हो रहे हैं।' आज तो स्थिति और भी भयावह है। कवि और कविता के गिरोह हैं। मंच पर चुटकुलेबाजों का आधिपत्य है। छंद, लय, तुक-ताल के बिना गद्य कविता गम्भीर कविता मानी जा रही है जिसमें न पठनीयता है और न पाठकों को जोड़ने की कमनीयता। रसनीयता तो वैचारिकता के भारी आवरण में सिसकने के लिए विवश है। अर्थ-लय और अनुभूति की प्रामाणिकता में रसिकजन गोते लगा रहे हैं। कवियों की बाढ़ है लेकिन श्रोता नहीं हैं। गम्भीर कविता को हृदयंगम करने वाले नहीं हैं। कवियों को शब्द-ज्ञान नहीं। अर्थवत्ता की सूक्ष्म पहचान नहीं। अभिमान हिमालय से भी बड़ा और प्रशंसा पाने का आकांक्षी-हृदय-सागर से भी गहरा है। ऐसे में द्विवेदी जी की काव्य-पंक्तियों का स्मरण स्वाभाविक है-

शब्द-शास्त्र है किसका नाम?

इस झगड़े से जिन्हें न काम

नहीं विराम-चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता है

इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं।

द्विवेदी जी की ख्याति काल्प-पथ प्रदर्शक की रही है। उन्होंने काव्य-विषय, काव्य-भाषा, छन्द-विधान आदि पर अपने सुचिन्तित विचार प्रकट कर अपने समकालीन कवियों का मार्ग-दर्शन किया। कवियों के कर्त्तव्य बोध के लिए 'कवि-कर्त्तव्य' निबन्ध लिखा तो 'कवि और कविता' निबन्ध में इन दोनों की उपयोगिता और सीमा-रेखा पर प्रकाश डाला। कवियों को कविता की मध्ययुगीन मानसिकता त्यागकर आधुनिक युग-धर्म के निर्वाह की प्रेरणा दी। उन्होंने यह

स्पष्ट किया कि- 'स्त्रियों के भेद-वर्णन से कोई लाभ नहीं, हानि अवश्य है, और बहुत भारी हानि है। फिर हम नहीं जानते, क्या समझकर लोग इस विषय के इतने पीछे पड़े हुए हैं।' (साहित्य सिद्धान्त विमर्श, संपादक, रीता रानी पालीवाल भाग-एक, पृ. 112)। इसी 'नामिका-भेद' शीर्षक निबन्ध में द्विवेदी जी आगे लिखते हैं- 'इस प्रकार की पुस्तकों में लिखा क्या रहता है। लिखा रहता है परकीया (परस्ती) और वेश्याओं की चेष्टा और उनके कलुषित कृत्यों के लक्षण और उदाहरण। परकीया के अन्तर्गत अविवाहित कन्याओं के पाप आचरण की कथा।... परकीयाओं के द्वारा कबूतर के बच्चे की जैसी कूजित के मिष, पुरुषों के आह्वान की कहानी रहती है। कहीं कोई नायिका अँधेरे में यमुना के किराने दौड़ी जा रही है, कहीं कोई चाँदनी में चाँदनी ही के रंग की साड़ी पहनकर घर से निकल, किसी लता-मण्डप में बैठी हुई किसी के मार्ग की प्रतीक्षा कर रही है, कहीं कोई अपनी सास को अंधी और अपने पति को विदेश गया बतलाकर द्वार पर आये हुए पथिक को रात भर विश्राम करने के लिए प्रार्थना कर रही है, कहीं कोई अपने प्रेम-पात्र के पास गई हुई सखी के लौटने में विलम्ब होने से कातर होकर आँसुओं की धारा से आँखों का काजल बहा रही है। यही बातें विलक्षण उक्तियों के द्वारा, इस प्रकार पुस्तकों में विस्तार पूर्वक लिखी गई हैं। सदाचरण का सत्यानाश करने के लिए क्या इससे भी बढ़कर कोई शक्ति हो सकती है। युवकों को कुपथ पर ले जाने के लिए क्या इससे भी अधिक बलवती और, कोई आकर्षण युक्ति हो सकी है। हमारे हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की पुस्तकों का आधिक्य होना हानिकारक है।' (वही, पृ. 113) 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक अपने निबन्ध में द्विवेदी जी लिखते हैं- 'याद रखिये, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है, उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान और शक्ति संपन्न होना अच्छे साहित्य पर ही अवलम्बित है।' (वही, पृ. 108)। इससे स्पष्ट है कि द्विवेदी जी हिन्दी कविता में व्यापक परिष्कार के आकांक्षी थे ताकि समाज का परिष्कार हो सके।

इस तरह आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी कविता और काव्य चिंतन द्वारा हिन्दी में नवयुग की शुरुआत की किन्तु उनका यह अवदान अभी भी गम्भीर विमर्श का हिस्सा नहीं है जिस पर ध्यान देने की जरूरत है। पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व के विविध आयाम

डॉ. बी. एल. आच्छा

किसी युग का आचार्यत्व कालजयी व्यक्तित्व की पहचान है। यह कालजयी व्यक्तित्व जितना अपने समकाल के साहित्यिक परिदृश्य को नई दिशा और अनुशासन देता है, उतना ही भविष्य की सृजन दृष्टि को भी; लेकिन अपने इतिहास और संस्कृति की जड़ों से संपुष्ट होकर। ऐसे व्यक्तित्व केवल अपनी भाषा और साहित्य की परिधि में सिमटे नहीं रहते, बल्कि देश देशांतर के भाषा साहित्य और ज्ञानराशि के साहित्येतर विषयों से समृद्ध होकर अपनी भाषा के वैभव को बढ़ाते हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व इन सभी गुणों को आत्मसात करता हुआ एक और विशेषता लिए हुए हैं। आचरण की भाषा और समर्पण का उच्च आदर्श उनके वैयक्तिक और साहित्य जीवन का अनुशासन बने रहे।

उनके जीवन प्रसंगों से गुजरा जाए तो लगता है कि कितनी अँधेरी घाटियाँ हैं, जिनके भीतर से उषा की लालिमा विकीर्ण होनी है और जो हिंदी साहित्य को नया प्रस्थान देने के लिए संघर्षरत है। यों इन अभावों से उस काल के अनेक साहित्यकार निकले हैं। दिवेदी जी के संघर्षों, व्यक्तित्व के कठोर अनुशासन, भाषाओं के प्रति अनुराग, संस्कृत-अंग्रेजी-मराठी-गुजराती-बंगला के साहित्य से साक्षात्कार, प्राचीन साहित्य के अनुवाद और तलस्पर्शी आलोचना, स्वाभिमान और समर्पण, आचार्यत्व की शुष्कता में कोमल संवेदन, नये युग की प्रतिध्वनि और बदलती सामाजिक संवेदना, हिंदी के लिए व्याकरणिक अनुशासन, सामाजिक आदर्शों में नैतिक आस्था, सरस्वती पत्रिका के प्रति समर्पण, निर्मम आलोचना दृष्टि के साथ साहित्य का अनुशासन वाली सृजन पीढ़ी का रचाव जैसे अनेक पक्ष न केवल आचार्य द्विवेदी को युगीन नामकरण से अभिहित करते हैं, बल्कि

अनुवर्ती आचार्य रामचंद्र शुक्ल की पीढ़ी का भी वैचारिक आधार तैयार करते हैं।

जीवन के घटनाचक्र में ही किसी के तत्व को समझना उसी तरह प्रेरक होता है जैसे कहानी में द्वंद्वों, संवादों और कथानकीय मोड़ों में चरित्र का पक्ष उभर कर आता है। रायबरेली (उ.प्र.) के गाँव दौलतपुर में 15 मई 1864 को जन्मे महावीरप्रसाद द्विवेदी की दौलत पितामहों के कवित्त-सवैये, थोड़ा सा संस्कृत का ज्ञान-प्रवाह और आर्थिक संकटों में दादी द्वारा पुस्तकें बेचकर परिवार का भरण पोषण। पिता ईस्ट इंडिया कंपनी की पलटन में रहे। मगर 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम के बागी। छुपकर भिक्षाटन और वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी जी के यहाँ नौकरी। फिर बच्चों की शिक्षा का संकट। इसलिए अमरकोश और दुर्गा सप्तशती के पाठ के साथ घर पर ही संस्कृत का थोड़ा सा ज्ञान। मदरसे में थोड़ी उर्दू की पढ़ाई। 26 मील की पैदल साप्ताहिक यात्रा कर रायबरेली के स्कूल में अंग्रेजी पढ़ी, सो भी पीठ पर खाने का सामान लादकर। स्कूल बदलते गए, फीस के संकट बने रहे। उन्नाव में चार साल में अंग्रेजी का ज्ञान। मगर नौकरी की अनिवार्यता ने स्कूल भी छुड़वा दी।

रेलवे की नौकरी में और बाद में तार ऑफिस में बाबू। प्रतिभा से यहाँ भी कई तरह के काम कर वे झाँसी में मुख्य टेलीग्राफ इंस्पेक्टर और अन्य पदों पर कार्यरत रहे। पर नये अंग्रेज अफसर ने जब उन्हें महज क्लर्क समझा और मातहतों को दबाने के लिए अत्याचार करने लगा तो अपनी निर्भीकता और स्वाभिमान के साथ संवाद करते हुए इस्तीफा दे दिया। अंग्रेज अफसर की मान मनोव्वल के बावजूद उन्होंने इस्तीफा वापस नहीं लिया। बल्कि पत्नी की सहमति से दृढ़ निश्चय और स्वाभिमान को अक्षत रखा। यही वह धरातल था, जिसकी कंदराओं के भीतर से उनका व्यक्तित्व साहित्य के धरातल पर नये अनुशासन के रूप में उभरता है।

रेलवे की नौकरी के दो सौ रुपये और दूसरे पलड़े में आत्मसम्मान। नौकरी के दौरान उनके संस्कृत अनुवाद, भाषाज्ञान और व्याकरणिक अनुशासन, अंग्रेजी-मराठी-गुजराती-बंगला के ज्ञान के साथ आलोचना का समर्थ तार्किक पक्ष इस तरह उभर कर आया कि हिंदी के पहले प्रकाशक और इंडियन प्रेस प्रयाग के संचालक चिंतामणि घोष ने उन्हें ससम्मान सरस्वती के संपादन का दायित्व सौंपा। सन 1904 से 20 साल आगे तक सरस्वती का संपादन किया। मगर शुरू में

रेलवे के दो सौ रुपए और सरस्वती पत्रिका से तेईस रुपए प्रति माह। तेईस रुपए की छोटी सी दौलत से उन्होंने सरस्वती को न केवल इस युग की शीर्ष पत्रिका बना दिया, बल्कि दौलतपुर के इस अभावग्रस्त व्यक्तित्व ने हिंदी को अक्षय दौलत से समृद्ध कर दिया। कहाँ तो रेलवे की नौकरी और कहाँ हिंदी प्रेम के लिए रामचरितमानस और ब्रजविलास का नियमित पाठ। उस काल की 'कवि वचन सुधा' और 'भारतेंदु' पत्रिकाओं का पठन। छंद शास्त्र का शिक्षण। संस्कृत के स्त्रोतों का खड़ी बोली में अनुवाद। मगर यही राह उन्हें शीर्ष तक लेकर गयी।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य द्विवेदी के लिए ठीक ही लिखा है- 'जिनसे नवीन विचारधारा प्रवाहित हो -ते नरवर थोड़े जग माही।' रचनात्मक साहित्य की दृष्टि से देखा जाए तो आचार्य द्विवेदी का अनुवाद कर्म ही ज्यादा है। खड़ी बोली में उनकी कविता? 1903 में 'काव्य मंजूषा' संकलन में प्रकाशित हुई। खड़ी बोली में 'कुमारसंभव सार' के पाँच सर्गों की रचना मात्रिक छंदों में की।

ब्रज भाषा में भी 'देवी स्तुति शतक' प्रकाशित हुई। पर मौलिक सृजन की अपेक्षा अनुवादित ग्रंथ और आलोचनात्मक निबंध ही उनकी साहित्य संपदा हैं।

परंतु 'कुमारसंभव सार', रघुवंश, हिंदी महाभारत, बेकन विचार रत्नावली, स्वाधीनता, संपत्तिशास्त्र जैसे अनुवाद और पुस्तकें तथा हिंदी भाषा की उत्पत्ति, कालिदास की निरंकुशता, मिश्रबंधु का हिंदी नवरत्न जैसे समीक्षात्मक लेखों में द्विवेदी जी के कृतित्व के आयाम छुपे हुए हैं ,जो उन्हें युग विशेष का आचार्य बनाते हैं। आचार्य वाजपेयी ने समुचित आकलन करते हुए लिखा है- 'यदि सरस्वती के अंकों में वे संशोधन, काटछाँट और कायापलट एकत्र कर दिया जाए, जो उन्होंने मूल प्रतियों में किया था और जिनके कारण वे प्रतियाँ मुद्रित प्रतियों में अधिक दर्शनीय और संग्राह्य हो गई है तो यह युगीन संस्कारजनता ही है'। उन रचनाओं में द्विवेदी जी की छाप इतनी गहरी है कि उन्हें 'द्विवेदी कलम' से जाना जाता है।

यह द्विवेदी जी के संपादन की सृजनात्मकता, भाषा नियमन और वैचारिक युगबोध का परिचायक है। इन संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद आलोचना से हिंदी आलोचना का फलक व्यापक हुआ है। संस्कृत में जो 'उपमा कालिदासस्य' और

हिंदी में 'सूर सूर तुलसी ससि' तक जो आलोचना अटकी थी, उसे नया अर्थ गौरव और युगांतर की दिशा मिली। खड़ी बोली की कविता को भाषा का नया अनुशासन मिला। हिंदी गद्य के चार प्रारंभिक गद्यकारों की चली आ रही भाषा को व्यवस्था मिली। संस्कृत ग्रंथों के माध्यम से पुरातन राष्ट्रीय गौरव के साथ सोच का नया क्षितिज मिला। मसलन 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' निबंध नये सृजन और युगसम्मत नवसांस्कृतिक अनुशीलन बनते गये।

आचार्य द्विवेदी ने 1920 में 'कविता और उसका भविष्य' निबंध लिखा था। वे लिखते हैं-' भविष्य-कवि का लक्षण इधर ही होगा। अभी तक वह मिट्टी से सने हुए किसानों और कारखानों से निकले हुए मैले हुए मजदूर को अपने कार्यों का नायक नहीं बनाना चाहता था। वह राजस्तुति, वीरगाथा और प्रकृति वर्णन में लीन रहना चाहता था। परंतु अब वह क्षूद्रों की महत्ता देखेगा और तभी जगत का रहस्य सबको विदित होगा।' यह शब्दावली दौलतपुर के ब्राह्मण परिवार के उस साधारण व्यक्ति की है, जो बदलते युग की प्रतिध्वनि को, साहित्य की मानव केंद्रित धुरी को, किसान-मजदूर जीवन के क्षुद्रता को देख-सुन रहा था और पुराने नायकवादी प्रतिमानों से निकलकर युग नायक के रूप में इनकी नई प्रतिष्ठा को आँक रहा था। इस नये नजरिए में भविष्य के साहित्य में लोकवादी सोच था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की अंतर्दृष्टि भी थी। बेकन रचनावली के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य और वैज्ञानिक विवेक का समावेश था। आलोचना की आचार्य पद्धति, टीका पद्धति, निर्णयवादी सूक्ति पद्धति, लोचन पद्धति के स्थान पर समाज केंद्रित मूल्यवादी प्रतिमान आधार बनते गए। आचार्य द्विवेदी ने प्राचीन भारतीय साहित्य की शास्त्रीय जटिलता से निकलकर लोकधर्मी मूल्यों की नवीनता को स्वीकृति दी। तत्कालीन समाज की अपेक्षा के अनुरूप सोद्देश्यता, नैतिकता और विवेकपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ सामयिक घटनाचक्र और वैश्विक उपलब्धियों से हिंदी साहित्य को जोड़ा। सरस्वती पत्रिका इसी कारण केवल साहित्यिक नहीं रही, जीवन के विविध क्षेत्रों और विषयों का बड़ा फलक बनती चली गई। रामविलास शर्मा ने उनकी रचना दृष्टि में नवजागरण के प्रवर्तन को रेखांकित किया है। डॉ.उदयभानु सिंह ने युग विधायक व्यक्तित्व में भाषा व्यवस्थापक के साथ साहित्य में जागृति उत्पन्न करनेवाले आंदोलक के जीवंत नायकत्व को रेखांकित किया है।

संपादन में आचरण की सभ्यता का अर्थ है प्रकाशन के लिए नियमबद्धता और वैयक्तिक स्तर पर स्वयं संपादक द्वारा नियम का अनुपालन। इस मायने में वे जितने सिद्धांतवादी रहे, उतने ही उसके अनुपालक। इसीलिए कई बार द्वंद्व खड़े हो जाते थे। पर द्विवेदी जी के निर्णय की अडिगता के आगे टिक नहीं पाते थे। चाहें जितनी निकटता हो और संस्थागत सहयोग भी, मगर उनके निर्णयों की सिद्धांतबद्धता और कर्मशील व्यक्तित्व के आगे प्रकाशन के मालिक चिंतामणि घोष तक हस्तक्षेप नहीं करते थे। कारण यही था कि उनके उद्देश्य, हिन्दी की भाषिक व्यवस्था और नयी जीवन दृष्टि से पाठकों और लेखकों में जगह बना रहे थे। ये ऐसे सोपान थे, जिनमें भारत का सांस्कृतिक गौरव और हिंदी साहित्य में नए युग चेतना का प्रतिबिंब झलकता था। इस विराट दृष्टि के आगे नागरी प्रचारिणी जैसी संस्थाओं से मतभेद, याकि केदारनाथ पाठक, श्यामसुंदर दास, बाबू बालमुकुंद गुप्त जैसे कई लेखकों से तक टकराहट भी हुई। मगर द्विवेदी जी की सिद्धांतबद्धता में भी उनके भीतर के कोमल पक्ष के कारण सिद्धांत-भूमि पर रिश्तों का सौहार्द भी स्थापित हो गया।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में एक सुधारक रूप इतना रचा बसा रहा कि साहित्य पवित्रता की सौंदर्य दृष्टि का प्रतिमान बनता गया। इससे कविता भीतर की संवेदना की झनझनाहट की अपेक्षा उपदेशपरक सोद्देश्यता से लक्षित होती गई। पर यही क्या कम है कि रीतिकाल की शृंगारभूमि और भक्ति काल की प्रतिमा का अतिक्रमण करते हुए साहित्य में वास्तविक समाज की जीवंत धड़कनों का संचार होता गया। यह सही है कि उन्होंने निराला की 'जूही की कली' को उन्मत्त शृंगार के कारण लौटा दिया। इस उन्मत्त शृंगार के कारण ही उन्होंने कालिदास कुमारसंभव के पाँच सर्गों के बाद अनुवाद नहीं किया। पर जीवन के स्पंदन के कारण ही उन्होंने भारतेंदु के खड़ी बोली के गद्य को प्रतिष्ठित आसन दिया। यही उनकी जीवन पर लोकदृष्टि है, जो सामाजिक लोकाचार में उपदेशपरक सोद्देश्यता तक ले जाती है। पर शृंगार की पट्टभूमि से खिसकाकर हिन्दी साहित्य को असल जीवन से, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक मूल्यों से संक्रांत कर देती है। ऐसे में उद्दाम शृंगार, कल्पनाशीलता, भावसाध्य तन्मयता के लिए अवकाश कम ही होता है, क्योंकि आचारपरकता पवित्रता के सोद्देश्य संस्कारों की ओर उन्मुख करती है। आचार्य वाजपेयी में ठीक ही कहा है -'स्वभाव की रुखाई कपास की भाँति नीरस होती हुई

भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में कपास ही की खेती की-निरस विसद गुनमय फल जासू।'

द्विवेदी जी के आदर्शवादी प्रतिमानों में जितना राष्ट्रीय चेतना और गौरव का मुख्य स्वर है, हिंदी की छंद से बँधी काव्यधारा का नया रूप है, सामाजिक राजनीतिक धाराओं की जितनी प्रतिध्वनि है, कमजोर तबकों की दरिद्रता के प्रति जितनी संवेदना है, हिंदी कविता में कथोपकथन शैली में सांस्कृतिक गौरव के उदात्त चरित्रों की रचना है, गद्य में आदर्शवादी प्रतिमानों का विन्यास है, वह बदलते समय और जीवन की दिशा को सँजोता है। फिर भाषा के जिस स्वरूप को विकसित किया है, वह भले ही उतना साहित्यिक या व्यंजनापरक न हो, मगर सामाजिक व्यवहार का संवाहक है।

युग के आचार्य का पारिवारिक और लोक हितैषी व्यक्तित्व भी कितना जमीनी है, यह तो उनके जनसहकार और दांपत्य राग से ही पता चलता है। जिस अंग्रेज अफसर के आगे वे नहीं झुके, उसमें उनकी पत्नी की भी दृढ़ता का संवाद था। मित्रों के आग्रह के बावजूद उन्होंने सरस्वती के संपादन के समय कोई सहायता स्वीकार नहीं की। जबकि तेईस रुपये में निर्वाह करना कठिन था। इसके बदले अधिक लेख लिखकर वह धनराशि पा लेते थे। सरस्वती के संपादन के कठिन दायित्व में उनका लेखन, रचनाओं में संशोधन, उत्तर-प्रत्युत्तर, आलोचना-प्रत्यालोचना के साथ समयबद्धता और सामग्री की न्यूनता में स्वयं के लेखन से उसकी पूर्णता उनके कर्मशील व्यक्तित्व को दर्शाती है। यह अलग बात है कि इतने परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य गिरता गया। पत्नी को मिर्गी रोग था और वह गंगा स्नान के समय बह गई। उन्होंने महावीर (हनुमान) मंदिर के पास एक और मंदिर बनवा दिया, जिसमें लक्ष्मी सरस्वती के बीच पत्नी की मूर्ति विराजमान कर दी। दांपत्य-राग का यह अनूठा उदाहरण है, जो विरोध के बावजूद कायम रहा। सरस्वती से सेवानिवृत्ति के बाद उन्हें पचास रुपये मासिक सहायता मिलती रही। इस राशि का उपयोग भी निर्धनों की सेवा में करते रहे। उनकी जमीनी लोकसेवक की प्रतिमा भी बहुत प्रशंसित रही। वे दौलतपुर ग्राम के सरपंच बने, तो कानून की पुस्तकें पढ़ीं। आत्मरक्षा के लिए उनके पास बंदूक भी थी, ताकि कड़े न्यायिक फैसलों में वे निडर रहें। दौलतपुर में डाकघर, प्राइमरी स्कूल हॉस्टल खुलवाए।

जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने किसानी का शौक भी पूरा किया। 'संपत्तिशास्त्र' पुस्तक लिखकर जमीदारी की अंग्रेजी नीति के कारण किसानों के शोषण को भी जगजाहिर किया। गाँव के किसानों से उनकी बोली में बातचीत, दूर के रिश्तेदारों का अपने परिवार में लालन-पालन, गाँव के गरीबों की सहायता, कृषकों में जागरूकता के जमीनी संघर्ष आदि अनेक पक्ष है, जो सरस्वती के प्रख्यात संपादक के जीवन का सकर्मक उत्तर-पक्ष है। जो बातें साहित्य की नई दिशा के लिए किसानों और मजदूरों के जीवन से केंद्रित रहीं, वे जीवन के अंतिम वर्षों में जमीनी क्रियान्वयन बनती गई। उन्होंने कई पुस्तकों को विश्वविद्यालय में समर्पित किया और धनराशि भी। अपनी काया से रौबीले दिखने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, साहित्य में कठोर अनुशासन वाले संपादक, वैयक्तिक जीवन में अपने सिद्धांतों के अनुरूप जीने वाले साहित्यकार का दौलतपुर के किसानी जीवन से सहचार उनकी सहज भूमि और चिंतन-आचरण की सभ्यता के बीच एकाकारता को लक्षित करता है। 2 मई 1933 को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। इसका संपादन बाबू श्यामसुंदरदास और रायकृष्णदास ने किया था। यह साहित्य संवादों की तीखी आलोचना-प्रत्यालोचना के बीच सौहार्द की उस कोमल जमीन का परिचायक है, जो द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का कठोर किंतु कोमल पक्ष भी है। यही नहीं, 21 दिसंबर 1938 को मृत्यु के कुछ माह पहले अपनी बची हुई धनराशि का दान काशी हिंदू विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए तथा नागरी प्रचारिणी सभा के छोटे कर्मचारियों के लिए बंद लिफाफे में किया गया। विसर्जन का यह लिफाफा उनके आदेशानुसार मृत्यु के बाद ही खोला गया। यश की लालसा और दान के दिखावे से दूर उनका यह सहज सारस्वत व्यक्तित्व उन्हें जितना सहज मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है, उतना ही हिंदी साहित्य के इतिहास में कालजयी आचार्य के रूप में।

संदर्भ-

1. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी नंददुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
2. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा

महावीरप्रसाद द्विवेदी का आचार्यत्व

प्रो. उमेश कुमार सिंह

भारतीय वाङ्मय में जब हिंदी साहित्य की खड़ीबोली को देखते हैं तो हमारे सामने अनायास ही एक ऐसा चेहरा घूम जाता है जो न केवल अपने काल को प्रभावित करता है, बल्कि कालजयी होकर जब तक हिन्दी का अस्तित्व रहेगा अपनी उपस्थिति दर्ज कराता रहेगा। वह कोई सहज नाम नहीं था। नाम भी अपने चरित्र के अनुरूप कठिन था। महावीरप्रसाद द्विवेदी..।

आइये उन्हें उन्हीं की जुबानी समझने का प्रयत्न करें। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर एक साहित्यिक आयोजन कर उनका अभिनन्दन किया एवं उसी समय उनके सम्मान में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो वक्तव्य दिया था, वह बाद में 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में उन्होंने जो कहा वह न केवल उनके व्यक्तिगत का परिचायक है, बल्कि आनेवाली पीढ़ी के लिए एक गंभीर मार्गदर्शन भी है।

''मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। ...शंकराचार्य, माध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बकाचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरण-रज कण की बराबरी भी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कभी कदम नहीं रक्खा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया?''

'सुधा' के जुलाई, 1933 के अंक में निराला की 'आचार्य अमर हों!' नामक टिप्पणी के शब्द-चित्र आचार्य जी के व्यक्तित्व पर - ''उस दिन उनका प्रयाग में,

कैसा अभूतपूर्व स्वागत हुआ था! देश के कोने-कोने से राष्ट्रभाषा के पुजारी, अपने इष्टदेव के चरणों में श्रद्धा के स्नेहमय फूल चढ़ाने के लिए, उनकी एक झलक से अपने जीवन को सफल बनाने के लिए, उमड़ पड़े थे। वे उस दिन कैसे भव्य लग रहे थे! कभी उनके मुखमण्डल पर वृहस्पति का पाण्डित्य प्रतिबिम्बित हो उठता था, तो कभी सरस्वती की प्रतिभा! सहस्त्रों साहित्य सेवियों के बीच में वह भोले-भाले, दम्भहीन, विनयशील महापुरुष, हीरे की तरह चमक रहे थे। वह हिन्दी भाषा के प्रकाण्ड पंडित हैं। हिन्दी-भाषा के सर्वश्रेष्ठ संपादक, समालोचक और लेखक हैं। हिन्दी भाषा कैसे लिखी जाती है, यह उन्होंने लिखकर दिखा दिया, पत्र का सम्पादन कैसे किया जाता है, यह उन्होंने स्वयं सम्पादन करके बता दिया, समालोचना क्या वस्तु है, यह उन्होंने अपनी समालोचनाओं द्वारा व्यक्त कर दिया। वह आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं। विधाता हैं। सर्वस्व हैं। वह राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उन्हें लोग आचार्य कहते हैं- वह सचमुच आचार्य हैं।''

फिर अपने आत्मनिवेदन में उन्होंने आचार्य के सम्बोधन को लेकर ऐसा क्यों कहा, तो हम सब जानते हैं कि महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' का सम्बोधन मिला था। द्विवेदी जी के पूर्व आचार्य की गरिमा केवल और केवल संस्कृत के विद्वानों, सिद्धहस्तों के खाते में थी। और ऐसा माना जाने लगा था कि 'आचार्य' यह सम्बोधन 'संस्कृत' की परम्परा है। किन्तु यह अवधारणा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी से बदल गई।

उन्होंने केवल मैट्रिक तक पढ़ाई की थी। बाद में वे रेलवे की नौकरी करने लगे। सरकारी नौकरी में जाते ही इन्होंने चार सिद्धांत निश्चित किये-वक्त की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत् प्रयत्न करते रहना। वे इसका खुलासा करते हुए लिखते हैं, ''पहले तीन सिद्धांतों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था; पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करने वाले प्लेट-लेयर तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफे छोड़कर मुझे तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी।''

उनकी पढ़ाई की लगन ऐसी थी की नौकरी करते हुए उन्होंने संस्कृत और

ब्रजभाषा को न केवल सीखा वरन् उसमें सिद्धता प्राप्त की। भाषा के साथ पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का भी अभ्यास किया। उनके भाषा के अभ्यास को इसी से समझा जा सकता है कि नौकरी करते हुए उन्होंने पुष्पदंत के संस्कृत काव्य 'श्रीमहिम्नस्तोत्र' का 1885 ई. में ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर किया, जो उनकी पहली रचना थी, जिसे 1889 में प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त हुआ। इसमें द्विवेदी जी ने सभी पद्य रचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में भी किया है।

इसकी भूमिका में वे लिखते हैं, ''इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो साम्प्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान हैं, मैं परम कृतज्ञ हूँ।'' अपने 'आत्म-निवेदन' में उन्होंने अपने ऊपर किन लोगों का प्रभाव पढ़ा लिखा है, ''बचपन से ही मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के 'ब्रजविलास' पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कण्ठस्थ कर लिये थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत दिनों तक त्यों का ज्यों बना रहा।''

क्या सचमुच महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का यह रोग था? तो इसे आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के शब्दों में समझें- 'उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान् ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ।' अर्थात् यह उनकी विनम्रता थी जो अपने बारे में लिखते या बताते हुए झलकती थी।

द्विवेदी जी न केवल साहित्यकार थे, बल्कि बहुभाषाविद् भी थे। वे हिन्दी पत्रकारिता के एक स्थापित हस्ताक्षर तो थे ही जनवरी, 1903 ई. से दिसम्बर, 1920 ई. तक 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का सम्पादन कर उसकी कीर्ति स्थापित की। यह एक ऐसा कीर्तिमान था, जिसने हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' को मान्यता दी।

आचार्य जी हिन्दी के आलोचक, समालोचक के साथ वे खड़ीबोली हिन्दी कविता के महत्त्वपूर्ण कवि भी थे। आधुनिक हिन्दी कहानी को भी साहित्य में विधा के रूप में स्थापित कराने में उनकी महती भूमिका रही है।

द्विवेदी जी ने अपने वैचारिक निबन्धों में आधुनिक युगीन कविता की पृष्ठभूमि रची थी। अपने वैचारिक निबन्ध 'कवि-कर्त्तव्य' में कविता के छन्द, भाषा, अर्थ और विषय पर लिखते हैं कि ''गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। कविता का लक्षण जहाँ कहीं पाया जाये, चाहे पद्य में, चाहे गद्य में, वहीं कविता है।'' वे कविता में संस्कृति यहाँ तक की उर्दू से भी नये-नये छंदों को सीख कर प्रयोग के आग्रही थे। वे तुकों के बन्धन छोड़ने तथा कविता की भाषा सरल और बोधगम्य हो इस बात के हिमायत करते थे। वे कविता के दो प्रमुख उद्देश्य स्वीकार करते हैं- मनोरंजन और उपदेश परन्तु उसमें कोई न कोई सार्थक संदेश भी हो ऐसी अपेक्षा रखते हैं। केवल कविता के लिए कविता करना एक तमाशा है। वे कवि को धर्मस्थापना के लिए मानते हुए सहृदय की बात करते हैं और कला के लिए कला के सिद्धांत को अस्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में वे तुलसीदास को आदर्श मानते हुए लिखते हैं कि ''तुलसीदास ने कवि होकर वैष्णव धर्म की स्थापना की है, मत-मतान्तरों का भेद मिटाया है और 'ज्ञान के पंथ को कृपाण की धार' बताया है।'' वे सूर, कबीर को इसी पथ का पथिक मानते हैं साथ ही हरिश्चन्द्र की शूरता, स्वदेश-प्रेम, सत्य-निष्ठा के कायल थे। उनका मानना था कि हिन्दी के जितने प्रसिद्ध कवि हैं उन्होंने देश, काल, अवस्था और पात्र के अनुसार ही कविता की है। कविता की परिभाषा देते हुए कहते हैं, ''अंत:करण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात् मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। वही कविता है। चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक।'' वे यहीं नहीं रुकते, वे कहते हैं - ''अन्त:करण में रस उत्पन्न करके, और थोड़ी देर के लिए और बातों को भुलाकर, उदार विचारों में मन को लीन कर देना ही कविता का सच्चा पर्यवसान है। कविता द्वारा यह भासित होना चाहिए कि जो बात हो गई है वह अभी हो रही है, और जो दूर है वह बहुत निकट दिखलाई देती है।''

उनका मानना है कि कविता चित्त को प्रभावित करती है, ''किसी प्रभावोत्पादक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। कवि का सबसे बड़ा गुण नयी-नयी बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना की बड़ी जरूरत है। जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों

के द्वारा इस तरह प्रकट की जाये कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है।''

यह बात अलग है कि बाद में वे अपने पुराने मत का संशोधन करते हुए कहते हैं, ''कवि का काम न तो शिक्षा देना है, न दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करना है। उसके हृदय से वह ज्ञान उद्गत होना चाहिए, जिससे समस्त मानव-जाति की हृतंत्री में विश्व-वेदना का स्वर बज उठे।''

वे कविता के विकास क्रम को कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं, ''प्राचीन काल में सभी कवि प्रकृति की देदीप्यमान शक्तियों का गान करते हैं। इसके बाद कवि वीरों का यशोगान करते हैं। इसके बाद नाटकों की सृष्टि होती है, फिर शृंगार-रस पर काव्य-रचना होती है, भाषा का माधुर्य बढ़ता है, अलंकारों की ध्वनि सुनाई पड़ती है और पद-नैपुण्य प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सांसारिक विषयों से घृणा होती है। भक्ति के उन्मेष में कोई प्रकृति का आश्रय लेता है, कोई प्राचीन आदर्शों का। यह है कविता की प्राचीन परम्परा। इसके बाद कविता के भावी स्वरूप पर वे प्रकाश डालते हैं।''

'सरस्वती' में 'कवि-सम्मेलन' शीर्षक एक लेख लिखा। इसके प्रारम्भ में वे महान् कवियों की विशेषता बताते हुए कहते हैं, ''प्रकृत कवि क्या नहीं कर सकता? वह रोते हुओं को हँसा सकता है, सोते हुओं को जगा सकता है, देशद्रोहियों को देशभक्त बना सकता है और मार्ग-भ्रष्टों को सुमार्ग में ला सकता है। ...लेकिन इसके उलट बहुत सारे या बहुतायत में कवि थे जो समस्यापूर्ति, नायिका-भेद एवं शृंगारिकता की धारा बहा रहे थे और ऐसी कविताएँ कवि-सम्मेलनों का आधार थीं। द्विवेदी जी कहते हैं, अब उर्दू कवियों और मुशायरों की देखा-देखी हिन्दी के भी कवियों के खूब सम्मेलन हो रहे हैं और समस्या-पूर्तियों का तूफान-सा आ रहा है।''

कवियों और राजनीतिक दलों की दलबन्दी पर उनके मत को समझें, ''कवियों की दलबन्दी को विवेकशील जन निंद्य समझें, समझा करें। कुछ भी क्यों न हो जाये, पर कवियों की शान में फ़रक न पड़े।'' और राजनीतिक पार्टियों पर व्यंग्य पढ़ें, ''दलबन्दी भारत के भाग्य ही में लिख-सी गयी है। देखिए न, लिबरल, इंडिपेंडेंट, स्वराजिस्ट-सभी आपस में दलबन्दी कर रहे हैं। (ध्यान रखना होगा उस समय के यही राजनीतिक दल थे) दल के भीतर दल पैदा हो रहे हैं। फिर कवि यदि अपने फ़िरके अलग-अलग बनावें तो क्या आश्चर्य?''

अब जरा द्विवेदी जी के आलोचक की सजगता को समझें। यह उनका ऐसा रूप है जिसे सामान्य जन द्विवेदी जी के चिंतन को ठीक से न समझने के कारण उन्हें नास्तिक तक कहने लगते हैं, किन्तु ध्यान रखना होगा वे न तो नास्तिक थे, न ही धर्म विरोधी। आइये वेदों को लेकर उनकी दृष्टि की पड़ताल की जाये।

आचार्य जी वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत-साहित्य का गहन अध्ययन किया था, और यह अध्ययन केवल श्रद्धा और भक्ति को लेकर या कर्मकाण्ड की पूर्णता को लेकर नहीं था, तो उनका नजरिया वेद की वैज्ञानिकता को आज के विज्ञान की दृष्टि से समझने का था। द्विवेदी जी भारतीयों कि वेदों के प्रति अन्धश्रद्धा की ओर संकेत करते हुए कहते हैं, ''वेद के विषय में हम हिन्दुओं की श्रद्धा कुछ इतनी बढ़ गई है कि वेदों को भगवान् की वाणी कहते-कहते हमने उन्हें खुद भगवान् ही बना डाला है। हम बहुधा अखबारों में पढ़ते हैं- अमुक शहर में 'वेद भगवान' की सवारी निकली। अमुख तारीख को 'वेदभगवान' का षोडशोपचारपूजन हुआ। अथवा वैदिक ऋषि मंत्र-द्रष्टा थे। उन्होंने योगबल से ईश्वर से प्रत्यादेश की तरह वैदिक मंत्र प्राप्त किये हैं।'' तब द्विवेदी जी इन नासमझ धारणाओं का खण्डन करते हुए टिप्पणी करते हैं- ''यदि यह बात है तो इन सूक्तों में इन ऋषियों की निज की दशा का वर्णन कैसे आया? ये मंत्र उनकी दशा के ज्ञापक कैसे हुए? ऋग्वेद का कोई ऋषि कुएँ में गिर जाने पर उसी के भीतर पड़े-पड़े स्वर्ग और पृथ्वी आदि की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से कह रहा है, आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिए। कोई सविता से प्रार्थना कर रहा है कि हमारी बुद्धि को बढ़ाइए। कोई बहुत-सी गायें माँग रहा है, कोई बहुत-से पुत्र। कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल और दुन्दुभी पर मंत्र रचना कर रहा है। कोई नदियों को भला-बुरा कह रहा है कि ये हमें आगे बढ़ने में बाधा डालती हैं। कहीं माँस का उल्लेख है, कहीं सुरा का। कहीं द्यूत का। ऋग्वेद के सातवें मंडल में तो एक जगह एक ऋषि ने बड़ी दिल्लगी की है। सोमपान करने के अनन्तर वेद-पाठरत ब्राह्मणों की वेद-ध्वनि की उपमा आपने बरसाती मेंढकों से दी है। ये सब तो वेद के ईश्वर प्रणीत न होने की सूचक हैं। ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, दूध, दही माँगने की कोई जरूरत नहीं। यह ऋग्वेद की बात हुई। यजुर्वेद का भी प्रायः यही हाल है। सामवेद के मंत्र तो कुछ को छोड़ कर शेष सब ऋग्वेद ही से चुने गये हैं। रहा अथर्ववेद, सो यह तो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि मंत्रों से परिपूर्ण है। स्त्रियों को वश करने और जुए में जीतने तक के मंत्र ऋग्वेद में हैं। ...न ईश्वर

जुआ खेलता है, न वह स्त्रैण ही है और न वह ऐसी बातें करने के लिए औरों को प्रेरित ही करता है। ये सब मनुष्यों ही के काम हैं, उन्होंने वेदों की रचना की है।''

किन्तु वे अपनी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, वेदों का अध्ययन हमें अवश्य करना चाहिए और इस दृष्टिकोण से कि ''वैदिक समय में भारतवासियों की सामाजिक अवस्था कैसी थी, वे किस तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे, कहाँ रहते थे, क्या किया करते थे- इन सब बातों का पता यदि कहीं मिल सकता है तो वेदों ही में मिल सकता है।''

अब जरा स्वनामधन्य द्विवेदी जी को उनके समय तथा बाद के आलोचकों की नजरों में देखें। क्या ऊपर कवियों और राजनेताओं के दलदल की जिस बात कह रहे हैं वे स्वयं उसके भुक्तभोगी थे। यहाँ भी आलोचको के दो धड़े दिखाई देते हैं। मैं नहीं जानता कि सचमुच उस समय कोई धड़े रहे होंगे किन्तु जो आचार्य द्विवेदी जी के बारे में टिप्पणियाँ आई हैं, उन्हें मैं आपके सामने रख कर आपको निर्णय करने को छोड़ता हूँ। क्योंकि मैं किसी की किसी के प्रति बनी श्रद्धा को न तोड़ना चाहता हूँ न खड़ी ही करना चाहता हूँ। व्यक्तिगत रूप से मैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से अधिक महत्त्व देता हूँ, यह मेरा अधिकार है। इसलिए मैं आपकी धारणा में प्रवेश नहीं करना चाहता किन्तु उस समय साहित्य में मूल्यांकन का क्या कुछ तरीका था, इसे अवश्य रखना चाहता हूँ। तो वे दो धड़े कौन थे? एक- रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी और हजारीप्रसाद द्विवेदी का है तो दूसरा- प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, सुमित्रानन्दन पंत और रामविलास शर्मा का। आप इनका ऐसा धड़ा नहीं समझें कि यह कोई सिर कटुआ हैं किन्तु चोटी-जनेऊ वाला अवश्य प्रतीत होता है।

पहले देखें जो उनके व्यक्तित्व और इस व्याख्या के कायल हैं, 'ज्ञान-राशि के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' यह द्विवेदी जी का कथन आज भी उतना सत्य है जितना उनके बोध में था। यद्यपि द्विवेदी जी कभी आलोचकों के मोहताज नहीं रहे और न ही उन्होंने किसी को घास डाली किन्तु साहित्य में आलोचक भी तो बेरोजगार नहीं बैठना चाहते और यदि बैठ गये तो उन्हें पूछेगा कौन?

आप कभी ध्यान दें तो साहित्य में दो विभूतियाँ ऐसी मिलती हैं जिनके अध्ययन की थाह आज भी पाना असम्भव नहीं तो कठिन है। एक हैं, जयशंकर प्रसाद तो दूसरे हैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। यहाँ जयशंकर प्रसाद जी पर बात

नहीं करूँगा। द्विवेदी जी की प्रशंसा करते हुए डॉ.रामविलास शर्मा लिखते हैं, ''द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह 'सम्पत्तिशास्त्र' है।...अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं। इसके साथ उन्होंने राजनीतिक विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिंतन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी सम्पादक या साहित्यकार ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।''

मैं डॉ. रामविलास शर्मा जी से अक्षरश: सहमत इसलिए भी हूँ कि 'साक्षात्कार' पत्रिका का सम्पादन करते समय यह ध्यान में आया कि सम्पादन केवल प्रूफ रीडिंग या एलाइनमेंट देखना नहीं है। जिन लेखकों को आप छाप रहे हैं उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उनकी रचना में डूब कर प्राप्त कर रहे होते हैं। तब चीजें ध्यान में आती हैं कि यदि आपका अध्ययन सर्व विषयस्पर्शी नहीं है तो आप कोरे प्रूफ रीडर ही बने रह सकते हैं। दूसरा कारण यह भी है कि जैसे-जैसे आपके अध्ययन की गहराई और उसके बोध का दायरा बढ़ता जाता है आपकी सम्पादकीय, साहित्यिक और आलोचकीय प्रतिभा के साथ अन्य रचनाधर्मिता भी बढ़ती जाती है। इसीलिए देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी जी ने मौलिक रचना के साथ अनुवाद का कार्य भी बड़ी कर्मठता के साथ पूरा किया। उनकी रचनाओं की विविधता इससे ही समझी जा सकती है कि वे विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी के साथ उसी अन्तराल में देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि भी लिख रहे थे। वे अगर लॉर्ड बेकन के निबन्धों का हिन्दी में भावार्थमूलक रूपान्तर 'बेकन-विचार-रत्नावली' कर रहे होते हैं तो दूसरी तरफ 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' और श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर 'नैषध-चरित-चर्चा' भी। यह सिलसिला एक लम्बी कालावधि को पूर्ण करता

लगभग पचासी ग्रंथों के साथ पूर्णता को प्राप्त करता है।

अब जरा प्रेमचन्द जी को देखें, उनकी धारणा द्विवेदी जी के प्रति क्या है- 1933 ई. में अप्रैल एवं मई के 'हंस' के दो अंकों में द्विवेदी जी पर विशेषांक निकाला था। उस अंक की सम्पादकीय में प्रेमचंद जी का द्विवेदी जी के प्रति पहले समर्पण और श्रद्धा समझे फिर उनके योगदान को प्रेमचन्द जी के शब्दों में विस्तार से पढ़ा जाये - ''आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं के बनाए हुए हैं। यदि पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी न होते तो बेचारी हिन्दी कोसों पीछे होती-समुन्नति की इस सीमा तक आने का उसे अवसर ही नहीं मिलता। उन्होंने हमारे लिए पथ भी बनाया और पथ-प्रदर्शक का काम भी किया।'' ध्यान रखना होगा जब प्रेमचन्द जी लिख रहे हैं 'आज हम जो कुछ भी हैं' यहाँ उस हिन्दी की अस्मिता की बात है जिसे आज हम देख, सुन और समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। अब उनके व्यक्तित्व पर प्रेमचन्द जी की टिप्पणी- ''द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली है। मुखमण्डल पर दृष्टि डालते ही यह बात स्पष्ट मालूम हो जाती है कि उनमें रचनात्मकता कूट-कूट कर भरी हुई है, वे सच्चे युग-प्रवर्त्तक हैं, उनमें क्रांति ले आने की विलक्षण क्षमता है। उन्नत ललाट, घनी भौंहें, रोबदार मूँछें, रसभरी गंभीर आँखें और जलद-गंभीर वाणी-उनकी विशिष्टता ज्ञापित करती है और देखने से ऐसा मालूम पड़ता है मानो किसी ऐसे व्यक्ति के पास हैं जो हमारे लिए हमारे बीच भेजा गया है-जो सब तरह से हमारा ही है। ''

आगे वे लिखते हैं, ''हमारे लिए उन्होंने वह तपस्या की है, जो हिन्दी साहित्य की दुनिया में बेजोड़ ही कही जाएगी। किसी ने हमारे लिए इतना नहीं किया, जितना उन्होंने। वे हिन्दी के सरल सुन्दर रूप के विधायक बने, हिन्दी साहित्य में विश्व-साहित्य के उत्तमोत्तम उपकरणों का उन्होंने समावेश किया, दर्जनों कवि, लेखक और संपादक बनाये। जिसमें कुछ प्रतिभा देखी उसी को अपना लिया और उसके द्वारा मातृभाषा की सच्ची सेवा कराई। हिन्दी के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सब कुछ अर्पित कर दिया। हमारी उपस्थित उपलब्धि उन्हीं के त्याग का परिणाम है।''

ऐसा लग रहा है जैसे प्रेमचन्द जी अपने मन की पूरी श्रद्धा की गागर सम्पादकीय में उड़ेल देना चाहते हैं, वे लिखते हैं - ''द्विवेदी जी का जीवन-साहित्य, साधना और तप का जीवन है।...साहित्य की लगन का कितना ऊँचा आदर्श है। कहाँ से क्या लें और उसे किस तरह अच्छे-से-अच्छे रूप में संसार को दें, यही धुन है।

जनहित का कोई अंग उनसे नहीं छूटा। जहाँ कोई उपयोगी चीज देखी, चाहे वह पुरातत्त्व से संबंध रखती हो, या दर्शन से, या भाषा-विज्ञान से, या प्राकृतिक दृश्यों से, उसे पाठकों के लिए संकलन करना उनका कर्त्तव्य था। वह जिस चीज को पढ़कर स्वयं आनंदित होते थे, उसका रस पाठकों को चखाना एक लाजिमी बात थी। 'सरस्वती' की फाइल उठाकर द्विवेदी जी की संपादकीय टिप्पणियाँ देखिए, विविध ज्ञान का भंडार है। ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर द्विवेदी जी ने न लिखा हो, गहरे से गहरे तात्त्विक विवेचन और साधारण-से-साधारण दंत कथाएँ तक आपको उनमें मिलेंगी, और आप उस व्यक्ति के ज्ञान-विस्तार पर चकित हो जाएँगे। और यह काम किसी विद्या और ज्ञान के केन्द्र में बैठकर नहीं, एक गाँव की एकांत कुटिया में होता था। साहित्य की वह छटा उसी कुटिया से निकलकर, हिन्दी-संसार को आलोकित कर देती थी।''

आलेख के विस्तार से सब के मत को यहाँ देना सम्भव नहीं है अत: अब दूसरे पक्ष को भी देख लें-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी क्या कहते हैं- ''द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में 'सरस्वती' के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उसे बहुत-कुछ समझ जायें। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्भावना वाले निबन्ध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबन्धों की श्रेणी में दो चार ही लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखन कला या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' जैसा गम्भीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं। ...कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी जी के लेख या निबन्ध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखण्ड को लिए हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्विवेदी जी के प्रति की गई इस टिप्पणी पर आप स्वयं विचार करें कि जिस बात की वे द्विवेदी जी की आलोचना कर रहे हैं, वे यहाँ दिख रही हैं या नहीं- ''यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों और दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।''

हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास' में लिखते हैं- ''पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ज़े स्पष्टवादिता से भरे हुए और नयी प्रेरणा देने वाले निबन्ध यद्यपि बहुत गंभीर नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन्होंने गम्भीर साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता पहुँचाई।'' विरोधाभास देखें कि यदि महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध गम्भीर नहीं हैं तो उन्होंने गम्भीर साहित्य के निर्माण में सहायता कैसे पहुँचाई?

द्विवेदी जी के कृत्य के मूल्यांकन और उनके व्यक्तित्व के दर्शन की जो बात जो निकल कर सामने आती है वह निराश इसलिए भी करती है कि प्रतीत होता है कि प्रत्येक काल में साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि प्रतिभाओं ने प्रतिभाओं को कभी अकेले-अकेले काटा, कभी सामूहिक रूप से। अन्यथा यह क्यों प्रश्न उठता कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी- रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी की कलम की वह नोक नहीं पाते जिससे उनके धवल कीर्ति को पताका बनाया जाये।

मैं यह बात ऐसे ही चलते-चलते नहीं लिख रहा हूँ। इसके दो कारण गुझे समझ में आते हैं आप आपकी जाने। वास्तव में शुक्ल जी निर्णयात्मक आलोचना के आदी थे और इस आलोचना में ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन की तुलना में कलापक्ष ज्यादा उभर कर आता है। जिसमें युग परिवर्तनशील माना गया है तो स्वाभाविक है उसकी परिस्थितियाँ भी परिवर्तित होंगी। स्पष्ट है वह स्थायी मापदंड का हिमायती नहीं है।

यही वह टर्निंग प्वाइंट है जहाँ से एकालाप प्रारंभ होता है। यह साहित्य के

लिए कोई नई बात नहीं है क्योंकि यह रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' से प्रारंभ होकर नामवर सिंह की आलोचना जगत तक यथावत बनी है। और गहराई में जाकर झाँकें तो यह आलोचना 'रस-मीमांसा' के काव्य शास्त्रीय आधार पर खड़ा मिलेगा। यहीं से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसा व्यक्ति खारिज होना प्रारंभ हो जाता है। फिर वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कलम से हो या पं. हजारीप्रसाद जी की कलम से। परन्तु इन सबके बावजूद कि महावीरप्रसाद जी 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर' कहते हैं, और ''उनका महत्त्व भाषा-सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है-मोटी अक्लवालों के लिए है।'' वे शाश्वत हैं और उनका साहित्य कालजयी है।

दूसरा जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी उनको लोकलाज के लिए स्वीकार कर अन्तरमन से नकार रहे होते हैं तब महावीरप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी-नवरत्न' की समीक्षा लिखते क्या कह रहे थे, - ''इस तरह की बातें किसी इतिहासकार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्त्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास-लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द, वाक्य और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।''

ऐसा अदम्य साहस, निष्ठा, तर्कशीलता, विवेकशीलता और जोखिम महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व में कूट-कूट कर भरा था। और इस चेतना और चिंतन का प्रसार उन्होंने हिन्दी प्रदेशों में किया। जिसका प्रभाव प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, शिवपूजन सहाय, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, उग्र, पंत, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि पर स्पष्ट दिखाई देता है। तात्पर्य यह कि वे एक साथ भाषाशास्त्री, अनुवादक, वैय्याकरणिक, सम्पादक, इतिहासज्ञ, अर्थशास्त्री तथा विज्ञान वेत्ता के साथ आदर्श मार्गदर्शक थे। वे हिन्दी की धरा पर नवजागारण के ऐसे प्रणेता सिद्ध हुए जिसने अपने नाम को ही गद्य साहित्य के एक युग में परिवर्तित कर दिया और आचार्यत्व को हिन्दी साहित्य के विद्वानों के लिए 'आचार्य' की महोपाधि बना दी।

द्विवेदी युगीन गीत भूमि और पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के गीत

डॉ. सुरेश गौतम

द्विवेदी युगीन गीत-भूमि राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और नैतिक चेतना से सिंचित है। इस चेतना-भूमि को अंकुरित पल्लवित करने में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व का वह प्रेरक रूप था। परतन्त्रता की गहरी निद्रा में अवचेतन गुलाम मानसिकता को अपने अस्तित्व-संस्कारों के प्रति सचेत करना सरल कार्य नहीं था। युगपुरुष भारतेन्दु ने राष्ट्रीय जागरण का जो पाँचजन्य फूँका था उस जागरण वृत्ति को द्विवेदीयुगीन कवियों ने व्यापकत्व दिया। परिस्थितियों की प्रताड़ना और सामाजिक रूढ़िग्रस्तता से खोरनला भारतीय समाज अन्धविश्वासों की भयग्रस्त आतंक खोह में जी रहा था। अज्ञान, अशिक्षा के कारण शोषित होने को बाध्य समाज केंचुए-सा घृणित जीवन जीने को बाध्य था। वस्तुत: यह जीना रेंगना था। जीवन-रेंगने की इन व्यथा के बीच सामाजिक उत्पीड़न से विक्षुब्ध होकर द्विवेदी युगीन कवियों ने इसके समूल विनाश को भी अपना राष्ट्रीय दायरा समझा। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह पाखण्ड, बालिकाओं का वध आदि अनेक, सामाजिक कुरीतियों के प्रति विरोध-विद्रोह प्रकट करना भी द्विवेदी युगीन गीतकारों की राष्ट्रीय भावना का ही एक अंग था। राजनीति के बीहड़ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष की बुनियाद धीरे-धीरे मजबूत हो रही थी। जागरूकता उग्र संघर्ष का चोला बदलने को तैयार थी। 'स्वदेशी आन्दोलन' की गूँज घर-घर में व्याप्त हो चुकी थी। प्रथम विश्वयुद्ध का पाँच वर्षों तक चलना, जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड, अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर अकथनीय अत्याचारों का सिलसिला साहित्यकारों की प्रज्ञा-अग्नि को चेतन करने के लिए पर्याप्त थे। प्रज्ञा-अग्नि हृदय-तल को झुलसाने लगी थी। समय की नब्ज पहचान गीतकारों ने अपने स्वर बदल लिए। युग-चेतना

स्पन्दित हुई। वह कवियों का राष्ट्रीय कर्तव्य था जो सुर-लय के साथ जन-जन में वास करने लगा। द्विवेदी जी की कल्पछाया में राष्ट्रीयता का जयघोष गरजा-सरसा, जिसने भारतीय मानस में एक नयी तरह की अग्नि-लहरें पैदा कर दीं।

राष्ट्रीय चेतना के साथ किसान, मजदूरों के दुख-दर्द को भी वाणी मिली। वातावरण में एक चेतन उद्वेलन भरी-भरी आँखों से देखा जा सकता था। अब तक उपेक्षित पददलित त्रस्त वर्ग को अपनी अस्मिता का पहली बार ज्ञान हुआ। सीधी भागीदारी से उनके मनमानस ने यह वृत-संकल्प ले लिया कि स्वतंत्रता की इस क्रान्ति चेतना में उनका भी योगदान है, जिसे किसी भी कीमत पर नहीं नकारा जा सकेगा। परिणामत: उनकी सक्रियता जीवन संघर्ष में बदल गई। कवि गीतकारों द्वारा ऐसे वातावरण का निर्माण करना उनकी राष्ट्र के प्रति निष्ठा का मानक बन गया। प्रेरणा के अग्नि गीत हवा के साथ साम्राज्यवादियों के रंगमहलों से होते हुए अन्तस झरोखों में घुस गए। क्या किसान, क्या मजदूर, क्या विद्यार्थी, क्या जनसामान्य सभी अपनी-अपनी भूमिका निभाने को तैयार देश की स्वतन्त्र समृद्धि के लिए आत्मबलि को उद्यत हो उठे। इस पथ का निर्माण द्विवेदी युगीन कवियों की सबसे बड़ी राष्ट्रीय उपलब्धि थी।

सम्पूर्ण परिवेश में बदलाव का आह्वान सार्थक चेतना में बदल गया। सामाजिक रूढ़ियाँ, अंधविश्वासों का विरोध, अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों के प्रति विद्रोह, राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों से मोक्ष की प्रबल-उदात्त आकांक्षा, सांस्कृतिक गौरव और राष्ट्रभूमि की अखण्डता अस्मिता को नमन करते हुए इन कवियों ने अपने शब्दों और भावों को जनसामान्य के लिए रचनात्मक हथियार बना दिया। इन गीतात्मक हथियारों ने जनसामान्य की सुसुप्त और निर्जीव शिराओं में रक्त के स्थान पर विद्युत धारा का प्रसारण कर दिया। परिणाम स्वरूप चारों ओर भारत और भारतीयों की सबलता, ओजस्विता, प्रेरणाशक्ति, जागरूकता, उद्‌बोधनपरकता दृष्टिगोचर होने लगी-

'संसार रूप शरीर में जो प्राण रूप प्रसिद्ध था
सब सिद्धियों में जो कभी सम्पूर्णता से सिद्ध था।
हा! हन्त, जीते जी वही अब हो रहा म्रियमाण है
अब लोक रूप मयंक में भारत कलंक समान है।।'

उद्बोधनात्मक सृजनात्मक राष्ट्रीयता की यह भाव-रचनात्मकता द्विवेदी

युगीन गीतकारों का आचरण मूल्य था। अपने व्यवहार आचार में उन्होंने इस भावना को जिया ओर जनसामान्य की सहभागिता को निश्चित किया। तत्कालीन परिस्थितियों में यह उनका राष्ट्रीय कर्त्तव्य था। आचार्य द्विवेदी द्वारा निश्चित प्रेरित नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक आचार-संहिता की परिवेशगत प्रतीतियाँ ही इस काल के कवियों के काव्यमूल्य थे। जिनके बल पर इन्होंने राष्ट्र के सांस्कृतिक गौरव की रक्षा करते हुए तत्कालीन इतिहास खण्ड को अपनी गीतात्मक शैली में काता-बुना।

शलाकापुरुष ने गीत को नवीन चेतना से अनुप्राणित कर राष्ट्रीयता का जो बोध दिया था उसे द्विवेदी युगीन कवियों ने थाती समझकर सँभाला-सँवारा। राष्ट्रीयता का यह बोध वस्तुतः युगबोध था। युगबोध के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त करने में द्विवेदी युग के कवि पीछे नहीं रहे बल्कि इन्होंने सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य के विद्रूप संदर्भों को पूरी तन्मयता से लिया और समय स्थिति के अनुरूप दो डग और भरे। द्विवेदी युग की काव्य-श्री में मैथिलीशरण गुप्त के अतिरिक्त, बदरीनाथ भट्ट, सियाराम शरण गुप्त, जैसे अनेक नाम हैं जिन्होंने अपनी शक्तिसीमा में गीत-परम्परा को संस्कारित कर गतिशीलता दी। प्रकृति-चित्रण का सुन्दर निरूपण मुकुटधर पाण्डेय की रचनाओं में मिलता है। 'खिला है नया फूल उपवन'-प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से श्रेष्ठ गीत है। वास्तव में प्रगीत काव्य को हिन्दी साहित्य जगत में पुनर्जीवित करने का श्रेय इन्हीं कवियों को है। जयशंकर प्रसाद के गीतों की यही पृष्ठभूमि है। जहाँ उनके गीतों को सुदृढ़ आधार मिला। इनके अतिरिक्त सत्यनारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्मा शंकर, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गोपालशरण सिंह, रूपनारायण पाण्डेय, गिरिधर शर्मा, मणिराम गुप्त, चण्डिका प्रसाद, आदि कवि कमोवेश छायावाद के प्रति-पाथिक रहे हैं। इनकी रचनाओं में छायावादी गीतिकाव्य के अंकुर निहित हैं।

साहित्यिक परिष्कार के प्रयोगधर्मी आदर्श के प्रतीक-रूप में पंडित महावीप्रसाद द्विवेदी का बहुआयामी प्रदेय अविस्मरणीय है। वस्तुतः पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के महाकाव्यात्मक व्यक्तित्व में एक पूरा युग साँस ले रहा है। युग चेतना को प्रभावित करने वाली इस अनोखी शख्सियत साहित्यकारों के मुख की कांति

स्मिति। सांस्कृतिक भाव-वैभव का भारतीय मान। साहित्य का विशुद्ध व्याकरण, राष्ट्रीय मूल्यों की संरचना-चेतना का नवीन उद्‌बोधन आधुनिक साहित्य के भाव-भवन की ठोस नींव, जिस पर वर्तमान साहित्य का विशाल रंगमहल निर्मित हुआ। साहित्य चेता पारदर्शी ऐसा व्यक्तित्व जो अपने आप में किसी व्याख्या, परिभाषा का मोहताज नहीं है। युग की सम्पूर्ण व्याख्या है। शताब्दियों की गुलामी को भेदने की तड़प लिए मानव-मन स्वतंत्रता की धूप-छाँह के आलोक स्वप्न को खुली आँखों में बंद करने की चाह लिए है। उसी मानस-मन की स्वप्न शैय्या को जागरण वेला का सूत्र थमाते हुए पं. द्विवेदी स्वतंत्रता से प्रश्न करते हैं-

'कवि : हे स्वतन्त्रते! जन्म तुम्हारा
कहाँ? बता यह प्रश्न हमारा।
स्वतन्त्रता : शूर देश हित तजते जहाँ
प्राण, जन्म मेरा वहाँ।
कवि : बता निवास कहाँ तेरा है?
यह भी एक प्रश्न मेरा है।
स्वतन्त्रता : उष्ण रक्त जिन हृदयों भीतर
बहता, वहीं वास मम सुन्दर।'

द्विवेदी जी 'मेरे प्यारे हिन्दुस्तान' गीत बहुत प्रसिद्ध है। उनकी गीतात्मक छवियों में उपदेशात्मकता एवं नीरसता अधिक है।

'विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं?
तथा धन देश का क्यों दे रहे हैं?
न सूझे अरे ओ भारत भिखारी!
गई है हाय! तेरी बुद्धि मारी।'

कृषक कमोवेश सभी कवियों के गीत-विषय रहे हैं। उनके शोषण एवं संत्रास को अपने-अपने तरीकों से कवियों ने व्यक्त किया है। कृषि और कृषक यदि भारतीय राष्ट्र की नींव हैं, तो बैल कृषकों का प्राणधार, जिसके बल पर ही वह राष्ट्र समाज को प्राण शक्ति देता है। द्विवेदी जी के इस गीत के केन्द्र में बैल की ही महिमा मिलती है-

'तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज! महाराज!
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाने-दाने को मुहताज

तुम्हें षण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयी जन-सिरताज।'

आस्था-आस्तिकता द्विवेदी जी के जीवन मूल्य हो। ईश्वर की सृष्टि-संरचना पर यूँ तो उन्हें पूर्ण आस्था एवं विश्वास है किन्तु 'काक' और 'पिक' को एक ही रंग देने को कवि ईश्वरीय भूल स्वीकारता है-

'विश्व बनाने वाला तुझको सब कोई बतलाते हैं-
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते हैं
यदि तेरे कर में कुछ होता कला कुशल लवलेश
काक और पिक एक रंग के क्यों होते लोकेश!'

इनके अनुसार अहंवादी, क्लीव, धूर्त्त, पाखण्डी, धोखेबाज, कापुरुष, अत्याचारी, क्रूर, निर्दयी पुरुषों की 'लंक टेढ़ी क्यों न हुई' जिससे कि उन्हें दूर से ही पहचाना जा सकता। संस्कृत पण्डित होने के कारण इनके अनेक छंद तत्समयुक्त शब्दावली से बोझिल हो गए हैं-

'पृथ्वी-समुद्र-सरित-नर-नाग-सृष्टि
मांगल्य-मूल्य-मय वारिद-नारि-सृष्टि।'

द्विवेदी जी भाषा-संरचना का आदर्श थे। खड़ीबोली को निखरा एवं शुद्ध व्याकरण सम्मत रूप देने के लिए द्विवेदी युग का कार्य ऐतिहासिक महत्त्व का है। इसके नायक द्विवेदी जी ही थे। उनकी सूक्तियों में गीतात्मक तरलता ने भाषा को प्रभावशाली और रोचक बना दिया है-

1. स्वभाविक सौन्दर्य जो सो है सब अंग माँहिं।
   तो कृत्रिम आवरण की आवश्यकता नाँहिं।
2. 'अपने जीवन तैं मनुष्य जो निरास हवै जात।
   वह जो चाहे कहि सकै भली बुरी सब बात।। '
3. 'वायस विहरे है गलियों में हंस न पाये जाते हैं
   कष्टकारी सब कहीं,
   कमल कुल कहीं नहीं दिखलाते हैं।'

पंडित द्विवेदी ने बहुत अधिक गीत नहीं लिखे, न ही उनके गीतों में विषय-वैविध्य है। वर्णनात्मकता एवं उपदेशात्मकता के कारण उनमें लयात्मक फिसलन अधिक है। कदम स्थिर नहीं रह पाते, सुर खंडित हो जाते हैं, गीतबंध टूट जाता है। द्विवेदी जी वस्तुतः साहित्यिक परिष्कार के प्रयोगधर्मी आदर्श हैं,

जिन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को साहित्यिक संस्कार दिया। निज भाषा की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी कमियों को खँगाला और उन्हें परिशुद्ध किया। इस दृष्टि से द्विवेदी जी की उपलब्धि ऐतिहासिक एवं महान है। इनका 'सरगौ-नरक-ठिकाना-नाहिं' नामक आल्हागीत बहुत प्रसिद्ध है। उर्दू छन्दों के आधार पर 'टेसू की टाँग' और 'महिला परिषद' आदि गीत महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें गीत-परम्परा की एक गतिशील कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। इनके कमोवेश सारे गीत 'द्विवेदी काव्य-माला' में संगृहीत हैं।

संदर्भ-

1. मैथिलीशरण गुप्त : भारत भारती : पृष्ठ - 84
2. लीलाधर त्रिपाठी प्रवासी : गीति काव्य का विकास : पृष्ठ - 453
3. द्विवेदी काव्यमाला - पृष्ठ-420
4. द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ-368
5. द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ-204
6. द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ-258
7. द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ-349
8. द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ-169
9. द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ-204
10. द्विवेदी काव्यमाला, पृष्ठ-456

हिंदी साहित्य की सुरसरिता के संवाहक आचार्य 'महावीरप्रसाद द्विवेदी'

प्रो. नरेंद्र मिश्र

हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम स्वर्ण अक्षरों में अंकित किया जाएगा। आचार्य द्विवेदी जी ने साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में मील का पत्थर का कार्य किया है। सरस्वती जैसी महत्त्वपूर्ण पत्रिका का संपादन कर उन्होंने एक से बढ़कर एक लेखक, कवि और आलोचक साहित्य जगत को दिया है। संपादन कला का उन्होंने आदर्श प्रस्तुत किया है। किसी लाभ, लोभ व लालच से वे कोसों दूर थे। उनकी निष्ठा केवल व केवल सरस्वती के लिए थी। बड़े से बड़े प्रलोभन व दबाव को उन्होंने कभी नजदीक नहीं आने दिया। संपादन के अनुशासन को हमेशा प्राथमिकता दिया। हिंदी साहित्य जगत में पहली बार किसी संपादक का इतना दबदबा था कि उनके सामने बड़े से बड़े साहित्यकार को उनके समक्ष ऊँची आवाज में बोलने या किसी प्रकार की बात मनमाने की हिम्मत नहीं होती थी। संपादक के लिए जितनी कठोर आचार संहिता उन्होंने बनाई थी उतनी कालांतर में किसी ने नहीं बनाई और न ही किसी संपादक के लिए यह संभव था। हिंदी साहित्य के इतिहास में कवि, लेखक व आलोचक से भी ज्यादा उन्होंने लोकप्रियता व यश अर्जित किया। यह किसी भी संपादक के लिए गौरव की बात है। द्विवेदी जी के पूर्ववर्ती इतिहास का जब हम सिंहावलोकन करते हैं तब हम पाते हैं कि वहाँ इससे भिन्न स्थिति व परिस्थितियाँ थीं और उसी के अनुकूल संपादक व पत्रकार को कार्य करना पड़ता था।

हिंदी पत्रकारिता के इतिहास यात्रा में भारतेंदु का उदय एक क्रांतिकारी

घटना है। हिंदी साहित्य में भारतेंदु का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। भारतीय जनमानस को भारतेंदु ने चिंतनशील तथा उदार बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतेंदु के समय देष में नई राजनैतिक, सामाजिक चेतना का उदय होना प्रारंभ हो गया था। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समाचारों तथा लेखों पर जनमानस अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगा तथा उनमें व्यक्त विचारों से उद्वेलित भी होने लगा। बह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसायटी जैसे समाज सुधारक संगठनों के सुधारवादी आंदोलनों ने जनमानस के चिंतन को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया और यह प्रभाव तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में भी उभर कर सामने आया। जातीय उन्नयन के प्रति समर्पित इन पत्र-पत्रिकाओं में जो राजनैतिक, सामाजिक प्रतिबद्धता दिखाई देती है, उसके मूल में भारतेंदु की ही अद्भुत प्रेरणा शक्ति कार्य कर रही थी। लेखकों में उत्साह था, जिंदादिली थी और थी साहित्य साधना की उत्कृष्ट ललक। इस युग का लेखक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की कसौटी पर हमेशा खरा उतरता था। नवीन वैचारिक धरातलों पर भारतेंदु युग की पत्र-पत्रिकाओं ने न केवल समाज सुधार की आवाज बुलंद की वरन् लोकतांत्रिक चेतना को पल्लवित-पोषित करने के क्षेत्र में भी अग्रगण्य रही है। भारतेंदु के काल की पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ एक ओर ब्रिटिश सरकार की कड़ी आलोचना होती थी वहीं दूसरी ओर राजनीतिक, सामाजिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं विसंगतियों पर भी करारे व्यंग्य होते थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेंदु युगीन पत्रकारिता में स्वदेशी भाव, स्वतंत्रता प्राप्ति की ललक, समाज सुधार का उत्साह, नारी जाति के विकास, हिंदी भाषा एवं साहित्य का संवर्धन, हास्य व्यंग्य पूर्ण शैली आदि प्रवृत्तियाँ मुख्यत: लक्षित होती हैं। इस युग की पत्रकारिता संघर्षों से हमेशा जूझती रही और वहीं से उसने प्राण वायु भी प्राप्त की। तत्कालीन समाज जो रूढ़ियों और अभावों में साँसें ले रहा था, जो अपने अधिकारों से अपरिचित था, जिसकी संघर्ष क्षमता को विकसित करने के लिए संगठित रूप से प्रयास नहीं किये जा रहे थे। ऐसी विषम परिस्थितियों से गुजरते हुए युग दृष्टा एवं स्वतंत्र चेता पत्रकारों की ऐसी टीम भारतेंदु ने तैयार की जिसने कलम की शक्ति का चमत्कार दिखाया और गुलामी का चोला उतार फेंकने का शंखनाद किया।

भारतेंदु के पश्चात् यह कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने नारी उद्धार के प्रश्न से लेकर राष्ट्रीय आंदोलन तक के सवालों को सरस्वती के माध्यम से ही उठाया तथा प्रतिपादित किया कि नारी शक्ति के अभाव में राष्ट्रीय भाव जहाँ कमजोर पड़ता है वहीं विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति किये बिना स्वराज्य का सपना साकार नहीं हो सकेगा। सन् 1900 में सरस्वती का प्रकाशन आरंभ हुआ और 1930 में द्विवेदी जी इससे पृथक हुए। इन दो दशकों की अवधि को द्विवेदी युग के नाम से पहचाना जाता है। इस युग की सही पहचान के लिए, भारतेंदु युग से उसका संबंध पहचानना जरूरी है। पत्रकारिता का द्विवेदी युग भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित प्रमुख प्रवृत्तियों के ही पूर्ण विकास की एक कहानी है। द्विवेदी जी अपने लेखन के द्वारा सभी को अच्छे गुण ग्रहण करने के लिए समय-समय पर प्रोत्साहित करते रहते थे। उनकी विचारधारा संकुचित न होकर व्यापक थी। आर्थिक आत्मनिर्भरता के अभाव में स्वराज्य कैसा? सरस्वती के संपादक ने यह भलीभाँति अनुभव कर लिया था। द्विवेदी जी ने ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों पर तीखे प्रहार करते हुए कृषि, व्यापार, तथा औद्योगिकीकरण के विकास के लिए उत्तरदायी कारणों तथा उन्हें दूर करने के लिए सुझावों का भी विवेचन सरस्वती में किया है।

सन् 1900 ई. का वर्ष हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। 1900 ई. में प्रकाशित 'सरस्वती' पत्रिका अपने समय की युगांतकारी पत्रिका रही। यह अपनी छपाई, सफाई, कागज और चित्रों के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय हो गई। इसे बंगाली बाबू चिंतामणि घोष ने प्रकाशित किया था इसे नागरी प्रचारिणी सभा का अनुमोदन प्राप्त था। इसके संपादक मंडल में बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिकाप्रसाद खत्री, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरीदास गोस्वामी तथा बाबू श्यामसुंदर दास थे। सन् 1903 में इसके संपादन का भार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर पड़ा। इसका मुख्य उद्देश्य हिंदी रसिकों के मनोरंजन के साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और पूर्ति करना था। इसके पद्य, गद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चंपू, इतिहास, जीवन चरित्र, पत्र, हास्य परिहार, कौतुक, पुरावृत, विज्ञान शिल्प कला सभी संपादक के व्यक्तित्व की घोषणा करते हैं। 'सरस्वती' के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए डॉ. हरप्रकाश गौड़

ने लिखा है-'सरस्वती' का उद्देश्य हिंदी भाषी क्षेत्र में सांस्कृतिक जागरण करना था, राष्ट्रीय जागरण तो उसका अंग था। 'सरस्वती' इस उल्लेखनीय भूमिका के कारण युगीन पत्रकारिता की 'सरस्वती' सिद्ध हुई। बाद में प्रकाशित अनेकानेक पत्रिकाओं के लिए यह आदर्श बनी।''(साक्षात्कार, मई, 1987 पृ. 19)

यह अत्यधिक प्रसिद्ध है कि द्विवेदी जी ने हिंदी भाषा का परिष्कार किया। फरवरी 1939 की सरस्वती में बाबू श्यामसुंदर दास ने लिखा था-''द्विवेदी जी का महत्व उनके लेखों में नहीं है, बल्कि उनका महत्त्व खास तौर से इसी बात में है कि उन्होंने भाषा को परिमार्जित और सुंदर रूप देने का सफलतापूर्वक उद्योग किया किंतु जिस समय 'सरस्वती' का यह विशेषांक प्रकाशित हुआ था उस समय इस पत्रिका के संपादक द्विवेदी जी का सामाजिक महत्त्व भले ही न हो, पर इस अंक में प्रकाशित सामग्री के बीच में द्विवेदी जी के लेखों से अनेक उद्धरण सजायें जिससे उनके साहित्य से अपरिचित व्यक्ति भी उनके मौलिक चिंतन का महत्व समझ ले। यहाँ पर उनमें से कुछ उद्धरण दोहराना प्रासंगिक है। एक उद्धरण इस प्रकार है-योरप के कुछ मदांध मनुष्य समझते हैं कि परमेश्वर ने एशिया के निवासियों पर आधिपत्य करने के लिए उनकी सृष्टि की है। जिस एशिया में बुद्ध, राम, कृष्ण, ईसा और कंफ्यूसियश, रवींद्रनाथ और जगदीशचंद्र बसु को उत्पन्न किया है, उसने दूसरों की गुलामी का ठेका नहीं ले रखा। दूसरा उद्धरण-इस दुनिया की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर ने की है जिसकी कोई जाति नहीं, जो नीच-ऊँच का कायल नहीं, जो ब्राह्मण-अब्राह्मण, चाण्डालों और कीड़े-मकोड़ों तक में अपनी सत्ता प्रकट करता है। छुआछूत के मानने वालों को ऐसे भ्रष्ट ईश्वर का संसार छोड़ देना चाहिए।

आचार्य द्विवेदी के अनुसार वैज्ञानिक शिक्षा से भारत तभी लाभ उठा सकता है जब वह अपनी पुरानी समाज व्यवस्था बदले अपने अंधविश्वासों और रूढ़ियों को स्वयं से मुक्त करे। जब तक भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था, जाति बिरादरी का भेदभाव, छुआछूत आदि कुरीतियाँ बनी हुई हैं, जब तक भारत प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र नहीं बन सकता। वैज्ञानिक शिक्षा राष्ट्रीय आवश्यकता है, समाज की व्यवस्था, अंधविश्वासों को समाप्त करना, यह भी एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। यह राष्ट्रीय आवश्यकता क्यों नहीं पूरी होती? पुरानी समाज व्यवस्था में तेज गति से परिवर्तन क्यों नहीं होता? मुख्य समस्या

राजनीतिक है। पहले देश को पहचानो। दिल में देश भक्तों को स्थान दो, राष्ट्रीय एकता कायम करो। तब जाकर कहीं आधुनिक राष्ट्र बनेगा। तब यूरोप के मुकाबले खड़े हो सकोगे। द्विवेदी जी की सहानुभूति विकासमान पूँजीवाद के एशियाई केंद्र जापान तक भी सीमित नहीं थी, उन्होंने एशिया के अन्य देशों के संबंध में भी जानकारी देने वाले लेख प्रकाशित किये । इन लेखों के माध्यम से उन्होंने अपने देशवासियों को नई शिक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा प्रदान की। चीन की जागृति शीर्ष टिप्पणी में द्विवेदी जी ने बताया कि चीन दुनिया भर में सबसे अधिक आजाद देश है। फिर भी अन्य सभ्य जातियों से चीनी लोग बहुत पीछे हैं। वहाँ वर्तमान समय के अनुरूप शिक्षा देने का इंतजाम नहीं है। इस स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए चीनी विद्यार्थी अमेरिका जा रहे हैं। इनमें से 80 प्रतिशत छात्रों का लक्ष्य शिल्पकला सीखना होगा। यानी वर्तमान उद्योग धंधों के विकास के लिए वहाँ से वे आवश्यक जानकारी प्राप्त करेंगे। ये छात्र अमेरिका में एक ही स्थान पर न रहकर अलग-अलग स्थानों पर अध्ययन करेंगे जिससे वे लोग अमेरिका की नस-नस व रग-रग से भलीभाँति परिचित हो जाएँ।

द्विवेदी जी इस बात से भलीभाँति परिचित थे कि साम्राज्यवाद की एक विश्व व्यवस्था है। इस व्यवस्था ने अनेक महाद्वीपों की जनता पर अपना शासन स्थापित कर लिया है। नए जीते हुए देशों के निवासियों पर विजेता जाति, कभी-कभी भीषण अत्याचार कर बैठती है। यह तो इतिहास प्रसिद्ध ही है। मिश्र, सीरिया, कांगो, रीफप्रांत, बालकन प्रदेश कोरिया आदि के निवासियों के साथ कैसे बर्ताव किए गए हैं। यह बात इतिहास प्रेमियों और समाचार पत्रों के पाठकों से छिपी हुई नहीं है। यूरोप के कितने ही देश पशुबल में बहुत समय से प्रबल हो रहे हैं। इसी से उन्होंने अनेक देशों को जीत कर उन पर अपना प्रभुत्व जमाया है। इस प्रभुत्व जमाने के परिणाम स्वरूप उन्हें बहुधा वहाँ के अधिवासियों पर जोरोजुल्म भी करना पड़ा है और अब भी करना पड़ता है। चीन में इस समय क्या हो रहा है और बक्सर युद्ध के समय क्या हुआ था, यह सब घटनाएँ उसी पशुबल और आतंक जमाने के उदाहरण हैं। भारत भी उसका शिकार हो चुका है और कुछ हद तक हो रहा है।''(साप्ताहिक हिंदुस्तान 1 से 7 फरवरी, 1087)

किसी ग्रंथकार के गुण अथवा दोष दिखाने के उद्देश्य से लिखी गई

पहली पुस्तक हिंदी कालिदास की आलोचना आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की निकली थी। ऐसी कोई पुस्तक भारतेंदु के काल में नहीं निकली थी। द्विवेदी जी के साहित्य के क्षेत्र में आने से समालोचना का स्वरूप अत्यधिक व्यवस्थित हो चला। उन्होंने नए युग की आवश्यकताओं के अनुकूल सत्साहित्य के निर्माण की प्रेरणा दी। द्विवेदी जी भाषाविद्, समालोचक, निबंधकार, गंभीर चिंतक और साहित्य प्रेरक भी थे। द्विवेदी जी ने आलोचना में सहृदयता पर जोर दिया है। उन्होंने भाषा परिष्कार का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया तथा भाषा शुद्धि आंदोलन के माध्यम से भाषा का स्वरूप स्थित किया गद्य और पद्य के लिए खड़ी बोली का समर्थन किया और उसके लिए कवि और लेखक तैयार किये। साहित्य सृजन को समृद्ध करने के लिए विविध विषयों को सरस्वती में स्थान दिया। उनका पाण्डित्य आगाध और उनकी सृजनात्मक शक्ति अभूतपूर्व थी।

द्विवेदी जी 'सरस्वती' का संपादन करते समय संपादकीय टिप्पणियाँ प्रस्तुत करते थे। उन्होंने 1889 में हिंदी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना लिखी थी। यह द्विवेदी जी की आरंभिक काल की समीक्षा पुस्तक है जिसमें खण्डन प्रधान समीक्षा है। सन् 1900 में उन्होंने नैषध चरित चर्चा लिखी। सन् 1901 में हिंदी कालिदास की आलोचना प्रकाशित हुई और 1903 में नाट्य शास्त्र तथा 1908 में हिंदी भाषा की उत्पत्ति के रूप में सैद्धान्तिक आलोचनाएँ लिखीं। सन् 1911 में कालिदास की निरंकुशता का पुस्तक के रूप में प्रकाशन हुआ। उनकी आलोचनाओं के संग्रह क्रमशः रसज्ञरंजन (1920), कालिदास और उनकी कविता (1920), सुकवि संकीर्तन (1922), साहित्य संदर्भ (1924), साहित्य शिखर (1926), आलोचनांजलि (1926), आलोचना समुच्चय (1928), आदि हैं जिनसे उनके निर्भीक और सहृदय समालोचक व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। द्विवेदी जी ने भाषा को सँवारने एवं सुधारने की दिशा में श्लाघनीय प्रयत्न किया है। द्विवेदी जी की आलोचना शैली प्रखर एवं कटु होने के साथ-साथ भावात्मक रस बोध से भी परिपूर्ण रहती थी। वे आलोचना में भावात्मकता एवं सहृदयता के हिमायती थे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अत्यंत कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे। रेलवे की नौकरी शुरू करने पर उन्होंने अपने लिए कुछ सिद्धांत स्थिर किए। 'सरस्वती'

के संपादन का कार्यभार ग्रहण करने पर उन्होंने ये संकल्प लिए-

1. ''वक्त की पाबंदी रखूँगा।
2. मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूँगा
3. अपने हानि-लाभ की परवाह न करके सदा पाठकों के हानि-लाभ को महत्व दूँगा, और
4. न्याय पथ से कभी विचलित नहीं होऊँगा।''(नंदकिशोर नवल : महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ. 26)

कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी जी ने जान पर खेलकर भी इन संकल्पों के अनुसार आचरण किया। द्विवेदी जी अपने मालिकों के इतने विश्वासपात्र बन गए कि वे उन्हें दूसरा न समझकर अपना ही कुंटुंबी समझने लगे। उनके कारण इंडियन प्रेस को कभी किसी मुसीबत में नहीं फँसना पड़ा, जबकि जमाना आजादी की लड़ाई का था और वे उस लड़ाई का एक बहुत महत्त्वपूर्ण मोर्चा जो सांस्कृतिक मोर्चा था, सँभाले थे। उन्हें इंडियन प्रेस से अपनी विश्वसनीयता का प्रतिदान भी मिला।

द्विवेदी जी ने वस्तुत: अपने लाभ-हानि की परवाह न करके पाठकों के हित को सर्वदा सर्वोपरि रखा। जब तक वे संपादक रहे, हर माह 'सरस्वती' की सामग्री निर्धारित समय पर प्रेस में पहुँचती रही। उन्होंने सामग्री देने में कभी विलंब नहीं किया। ताज्जुब नहीं कि आत्मरक्षा के लिए उनके कमरे में हमेशा एक फरसा झूलता रहता था। वे कभी भी अपने न्यायपथ से विचलित नहीं हुए। द्विवेदी जी ने न्यायमार्ग का अवलंबन किस हद तक किया, यह तो इसी से प्रमाणित है कि अनेकानेक प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा 'सरस्वती' का बहिष्कार किए जाने के बावजूद भी वे अपनी नीति और नियमों से कभी विचलित नहीं हुए।

वर्तमान हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठित लेखकों ने 'सरस्वती' के माध्यम से लिखना शुरू किया। 'सरस्वती' साहित्य की चिर यशस्विनी संस्था है। उनकी सेवाएँ स्वर्णाक्षरों में चिरस्मरणीय रहेगी। हिंदी पत्रकारिता का गौरव गंगा यदि 'सरस्वती' को ही कहा जाए तो द्विवेदी जी को उस गंगा को प्रवाहित कराने में अथक श्रम करने वाले भागीरथ के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं। 'सरस्वती के माध्यम से भारतीय समाज के उत्थान और स्वतंत्रता संघर्ष की साहित्यिक

पत्रकारिता को सबसे महत्त्वपूर्ण रचनात्मक योगदान मिला। 'सरस्वती' की तुलना में भारत की किसी भी भाषा की एक भी साहित्यिक पत्रिका नहीं टिक सकती।

द्विवेदी जी ने रीतिकालीन दृष्टि कला के लिए कला का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा, कविता लिखते समय कवि के सामने एक उच्च उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कला के लिए ही कविता करना एक नाटक है। उन्होंने कहा कि आज हिंदी का संक्रांतिकाल है अत: कवियों का परम कर्त्तव्य है कि पढ़ने वालों में नये-नये शब्दों और नए-नए विचारों को समझने की योग्यता उत्पन्न करे। कवि कल्पना सूक्ष्म होनी चाहिए तथा अलंकारों का निरूपण गूढ़ न हो, भाषा का प्रयोग स्वभाविक और मनोहर हो तथा छंद परिचित और वर्णनाकूल हों। कविता में साहस प्रेम, दया, धैर्य आदि गुण उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए। कविता में सामान्य लोगों की अवस्था, विचारों आदि का वर्णन हो।

द्विवेदी जी कविता उसे मानते थे जिसमें अच्छे-अच्छे भाव भरे हों। द्विवेदी जी का कथन था कि प्रत्येक देश में युगानुरूप साहित्य रचना होती है, प्रत्येक देश में प्राय: समय के अनुरूप ही पुस्तक रचना हुआ करती है। जैसा समय आता है साहित्य भी वैसा ही बनता है। द्विवेदी जी को हिंदी साहित्य का भाव जगत आधुनिक युग के संदर्भ रखकर परिष्कृत करना पड़ा। द्विवेदी जी उस साहित्य को श्रेष्ठ मानते थे जो साहित्य किसी मनुष्य जाति के संपूर्ण कार्यों को प्रभावित करता है। आचार्य द्विवेदी वस्तुत: आचार्य थे। आचार्य का कार्य मार्ग प्रदर्शन होता है अत: पुस्तक समीक्षा करते हुए द्विवेदी जी ने उन वस्तुओं की घोर निंदा की जो अश्लीलतामूलक थी। द्विवेदी जी ने इस बात पर जोर दिया कि लेखकों को समसामयिक प्रश्नों और विषयों पर पुस्तकें लिखनी चाहिए। वे धार्मिक विवादों पर लिखी पुस्तकों की कटु आलोचना करते थे। उनकी मान्यता थी कि धर्म संबंधी विवाद को लेकर लिखी गई पुस्तकों से साहित्य की श्रीवृद्धि नहीं होगी। वे इस प्रकार की पुस्तकों की समालोचना से इंकार कर देते थे। द्विवेदी जी राष्ट्रीय भाव का प्रतिपादन करने वाली, आदर्श प्रस्तुत करने वाली तथा भाषा व्याकरण संबंधी पुस्तकों को ज्यादा प्रश्रय और प्रमुखता देते थे। वे समाज में एक नैतिक आदर्श लाना चाहते थे तथा उनका

दृष्टिकोण हमेशा सुधारवादी रहा।

द्विवेदी जी ने संपादक के कर्त्तव्य की कभी भी हत्या नहीं की। उन्होंने जिन पुस्तकों को महत्त्वपूर्ण समझा उनकी पर्याप्त समीक्षा की जो अत्युत्तम लगी उनकी प्रशंसा के पुल बाँध दिए। जिन्हें दूषित या निकृष्ट समझा उनकी तीव्र एवं प्रतिकूल आलोचना की और जो पुस्तकें महत्त्वहीन, और श्रृंगारिक अथवा अनुपयोगी प्रतीत हुईं उनका नाम और पता मात्र ही देकर रह गए। उन्होंने अपने पास आई आलोचनार्थ पुस्तकों की समीक्षा एक सफल संपादक की कुर्सी से की। द्विवेदी जी ने प्रत्येक पुस्तक को आदर्श की कसौटी पर कसकर उसकी प्रशंसा या निंदा की। अत: उन्होंने जिस पुस्तक का ज्ञान, कला और उपयोगिता की कसौटी पर जैसा पाया उसकी वैसी समालोचना की। रचनाकार की साहित्यिक गुरुता या लघुता का ध्यान करके न्यायपूर्वक आलोचक की कैंची चलाई तथा तटस्थता के साथ पुस्तकों के गुण व दोषों का विवेचन किया। वे संपादक पहले थे समालोचक बाद में।

'सरस्वती' के संपादक के रूप में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का आचरण आधुनिक युग के संपादकों के समक्ष महान एवं अनुकरणीय आदर्शों की परंपरा प्रस्तुत करता है। 'सरस्वती' पत्रिका को यह गौरव प्रदान करने के पीछे द्विवेदी जी की सूझबूझ तथा उनकी कार्यशैली की अत्यंत प्रभावी भूमिका रही है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी और फारसी आदि भाषाओं का न्यूनाधिक ज्ञान स्कूली जीवन में ही प्राप्त कर लिया था। अब आवश्यकता इस ज्ञान को बढ़ाने की थी। उन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत का ज्ञान बढ़ाने का विशेष ध्यान दिया। अंग्रेजी का ज्ञान उन्होंने सतत् अभ्यास से बढ़ाया और संस्कृत वे काफी दिन तक एक पंडित के पास पढ़ते रहे। झाँसी में उन्होंने पंद्रह रुपए मासिक पर एक पंडित को ठीक कर रखा था, जो नियमित रूप से उन्हें संस्कृत पढ़ाया करता था। धीरे-धीरे संस्कृत पर उनका ऐसा अधिकार हो गया कि वे धारा प्रवाह संस्कृत बोलने लगे और उसमें काव्य रचना करने लगे। मुंबई में रहते हुए उन्होंने गुजराती और मराठी भाषा भी सीख ली। जब वे झाँसी में थे, उनकी संगति कुछ बंगालियों से हुई। उनसे उन्होंने बंगला भाषा सीखी। इस तरह उन्हें एक साथ कई भाषाओं का ज्ञान था।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रतिष्ठित पुजारी थे।

हिंदी प्रेम उन्हें गाँव से मिला था। वे खड़ी बोली के अभूतपूर्व आचार्य थे। उन्होंने लगभग 57 वर्ष की साधना और तपस्या से खड़ी बोली साहित्य की समस्त विधाओं को अपने आदर्शों के अनुकूल संचालित किया। द्विवेदी जी जैसा ठोस और शालीन हिंदी आचार्य उनके उपरांत कोई पैदा ही नहीं हुआ। पूर्व युग से परंपरा ग्रहण करके भी द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को अपने व्यक्तित्व का आवरण बनाया। उनके आचार्यत्व का लक्षण और साध्य खड़ी बोली द्वारा हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने में सफल हुआ। उनकी ओजस्विनी लेखनी से वर्तमान हिंदी भाषा और साहित्य का अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विकास हुआ।

'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस संपादकीय जागरूकता, अध्ययनशीलता और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा वह हिंदी पत्रकारिता को एक नई दृष्टि देने में समर्थ हुआ। द्विवेदी जी अपने युग के एक सुलझे हुए प्रतिनिधि पत्रकार थे और 'सरस्वती' उस युग की एक मात्र हिंदी प्रतिनिधि पत्रिका थी। द्विवेदी जी सारा कार्य नियमों में बँधकर करते थे। इसमें से कभी भी व्यतिक्रम नहीं आने देते थे। नये लेखकों के साथ द्विवेदी जी का व्यवहार जितना कठोर होता था उतना ही कोमल भी। वैसे भी पुराने लेखकों के साथ द्विवेदी जी का व्यवहार जैसा था, वैसा नए लेखकों के साथ नहीं। नये लेखकों को वे बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया करते थे। उन्हें पत्र लिखते समय वे उसमें एक वाक्य ऐसा जरूर डाल देते थे, जिससे पढ़कर उनका हृदय गदगद हो जाता था और उनमें अपने प्रति आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाया करता था।

पत्रकारिता एक साधना है। इसके लिए कर्त्तव्यनिष्ठा, परिश्रम, ईमानदारी, त्याग, नियमितता आदि गुणों का होना आवश्यक है। द्विवेदी जी में उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान थे। उन्होंने पत्रकारों के लिए कुछ कर्त्तव्य भी गिनाएँ हैं। वे जो कहते थे वही करते थे। यह भी पत्रकार के लिए आवश्यक गुण है। तात्पर्य यह है कि आचार्य द्विवेदी तात्कालिक युग के पत्रकारों के लिए अनुकरणीय तो थे ही, आज के पत्रकारों के लिए भी उपयोगी एवं अनुकरणीय है।

डॉ. रामशंकर शर्मा के मतानुसार- ''द्विवेदी की साधना का जीता जागता चित्र यदि देखना है तो सन् 1903 से सन् 1918 तक की 'सरस्वती' की हस्तलिखित, प्रकाशित एवं अप्रकाशित फाइलों में देखा जा सकता है। हिंदी के

बहुत कम ऐसे साहित्यकार और पाठक हैं जिन्होंने इन फाइलों में द्विवेदी जी के श्रम शिखर को देखा है।'' (डॉ. रत्नाकर पांडेय, इंद्रबहादुर सिंह व रामव्यास पांडेय : हिंदी पत्रकारिता, पृ. 218) अपने युग के साहित्यकारों को सँवारने में 'सरस्वती' का अद्भुत योगदान है। ''हिंदी खड़ी बोली को प्रांजल बनाने और उसमें साहित्य सृजन करने के लिए पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में 'सरस्वती' ने ऐतिहासिक कार्य किया है। हिंदी साहित्य के ख्याति प्राप्त कवि मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत, अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि दर्जनों कवि-लेखकों को प्रकाष में लाने का श्रेय इसी 'सरस्वती' का बहुत बड़ा हाथ है।'' (नंदकिशोर नवल : महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ. 20)

कर्त्तव्यपरायणता और नियमितता एक कुशल पत्रकार का सर्वोपरि गुण है। 'सरस्वती' की किसी भी प्रकाशित या अप्रकाशित फाइल को उठाकर पृष्ठ पर पृष्ठ पलटते जाइए क्या मजाल कि एक भी पृष्ठ अछूता ही दीख पड़े। प्रत्येक पृष्ठ पर 'देखा', एम. पी. द्विवेदी और 'दिनांक' लिखा हुआ दिखाई देगा। स्पष्ट है कि एक सफल पत्रकार बनने के लिए यह भी जरूरी है कि किसी काम को कल पर न छोड़ा जाए। इसी श्रम और तत्परता का परिणाम है कि 'सरस्वती' इतनी लोकप्रियता अर्जित कर सकी। 1903 और 1904 ई. की 'सरस्वती' का संपादन द्विवेदी जी ने झाँसी से ही किया। उसका संपादन सँभालते ही उनके सामने एक विकट समस्या आ खड़ी हुई। उनकी तीखी आलोचनाओं से हिंदी के अनेक लेखक उनसे अप्रसन्न थे। उनके संपादक होते ही उन्होंने 'सरस्वती' से अपना संबंध तोड़ लिया और उसमें लिखना बंद कर दिया।

कुछ लेखक उनसे इसलिए भी अप्रसन्न थे कि वे उनकी रचनाओं में इतना भारी भाव और भाषा संबंधी संशोधन किया करते थे कि उसकी शक्ल ही बदल जाती थी। उनमें से भी अनेक ने 'सरस्वती' से असहयोग शुरू किया लेकिन द्विवेदी जी मामूली व्यक्ति नहीं थे। इस असहयोग से वे जरा भी विचलित नहीं हुए और उन्होंने 'सरस्वती' के विरुद्ध विरोधों की भट्टी में अपने को ही झोंकने का निश्चय कर लिया। एक साल तक उसमें अनेक नामों से वे प्राय: अपने ही लेख देते रहे। ये विभिन्न विषयों से संबंधित थे। इससे हिंदी प्रेमियों ने उसका हृदय से स्वागत किया और देखते-देखते 'सरस्वती' ने प्रतिष्ठा

पुनः पा ली। दूसरे वर्ष से 'सरस्वती' की पृष्ठ संख्या बढ़ा दी गई और उसमें सुंदर चित्र छापने की व्यवस्था की गई। तब तक द्विवेदी को तरुण लेखकों की एक टीम भी मिल गई। 'सरस्वती' में इन लेखकों की रचनाएँ छपने लगीं। उनके स्तर को बढ़ाने के लिए द्विवेदी ने पाश्चात्य देशों की पत्र-पत्रिकाओं का संग्रह और उनका अध्ययन आरंभ किया। नए अनुभव और ज्ञान से उन्होंने वस्तुतः 'सरस्वती' का स्तर इतना उच्च बना दिया कि वह हिंदी की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका बन गई। वह अल्पसमय में ही साहित्य जगत की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। उनके संपादन के प्रथम सत्र में भी 'सरस्वती' एकदम नियमित रही थी, जिससे असहयोग करने वाले लेखकों को बहुत आश्चर्य हुआ। तरुण द्विवेदी जी जब झाँसी में थे, तभी उदयी कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त अपने चाचा के साथ मिले। द्विवेदी ने उस समय रेलवे की नौकरी से इस्तीफा नहीं दिया था। वे एक छोटे से मकान में रहते थे, जिसके दरवाजे पर बाँस की सींकों की बनी लिपटी हुए चिक बँधी रहती थी। उसके एक ओर उनके नाम की पट्टी लगी थी और दूसरी ओर पट्टी पर यह अंकित था-''सवेरे भेंट न होगी।'' गुप्त जी तिपहर को उनसे मिलने पहुँचे थे। ओसारे में रखी बेंच पर कुछ देर इंतजार करने के बाद द्विवेदी जी दफ्तर से लौटे। उनका स्वरूप बाबुओं से नहीं बल्कि अफसरों से मिलता था, लेकिन उसमें जो रौब था, वह अधिकार से नहीं वरन् व्यक्तिगत प्रताप से आया था। द्विवेदी जी अत्यंत व्यवस्थाप्रिय और नियमानुगामी व्यक्ति थे। गुप्त जी ने उनसे कहा-''हम लोग तो सवेरे ही आने वाले थे, परंतु सुना कि संध्या को ही आपसे भेंट होती है, इसलिए इस समय आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।''(नंदकिशोर नवल : महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ. 21)

द्विवेदी जी हँसकर बोले-''हाँ, सबेरे हम 'सरस्वती' का कार्य करते हैं और कुछ लेख आदि लिखते हैं। फिर अवकाश नहीं पाते, परंतु जब आप इतनी दूर से आये हैं तब क्या हम उस समय भी आपसे न मिलते। कभी झाँसी आया कीजिए और सुविधा हो तो मिला कीजिए।''(नंदकिशोर नवल : महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ. 21) चट्टान के समान कठोर द्विवेदी के भीतर स्नेह की ऐसी मीठी निर्झरणी बहती है, गुप्त जी ने इसकी कल्पना तक नहीं की थी।

काशी की नागरी प्रचारिणी सभा से द्विवेदी का अच्छा संबंध था।

उसके द्वारा छोड़े गए नागरी के आंदोलन में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया था और उनके आग्रह पर 1900 ई. में जल्द ही उसके सक्रिय सदस्य हो गए। वे 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के लेखकों में से थे और सभा ने उनकी पुस्तकें भी प्रकाशित की थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 70वीं वर्षगाँठ पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने आचार्य द्विवेदी को हिंदी में आज तक प्रकाशित सर्वोत्कृष्ट 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ पत्र' भेंट किया और प्रयाग से अभूतपूर्व मेले का आयोजन किया। इस अवसर पर हिंदी साहित्य की विख्यात संस्थाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं ने द्विवेदी जी के प्रति अपनी श्रद्धेय भावनाएँ अर्पित कीं। इस ऐतिहासिक अवसर पर 'हंस' ने भी द्विवेदी जी को अपनी श्रद्धा भावना 'द्विवेदी अभिनंदनांक' प्रकाशित करके निवेदित की थी। युग प्रवर्तक साहित्यकार की सांस्कृतिक स्तुति के लिए विशेषांक प्रकाशित किया गया। देश और समाज में अभिनंदनीय साहित्य की महत्ता उस समय तक स्वीकृत हो चुकी थी। द्विवेदी जी की प्रेरणा और कर्मनिष्ठा से हिंदी का प्रभावशाली उत्कर्ष दिनों-दिन शिखर पर प्रतिष्ठित हो रहा था।

'हंस' की हंसवाणी में प्रेमचंद ने लिखा था ''हम हिंदी वालों पर आचार्य द्विवेदी जी का बोझ लदा हुआ है। हम कुछ बोलें तो बोलें कैसे? हमारे लिए उन्होंने वह तपस्या की है जो हिंदी साहित्य की दुनिया में बेजोड़ ही कही जाएगी। किसी ने हमारे लिए इतना नहीं किया जितना द्विवेदी जी ने किया। ये हिंदी के सरल-सुंदर रूप के विधायक बने, हिंदी साहित्य के उत्तमोत्तम उपकरणों का इन्होंने समावेश किया। जिस किसी में तनिक भी प्रतिभा देखी उसी को अपना लिया और उसके माध्यम से मातृभाषा की सच्ची सेवा करायी। हिंदी के लिए द्विवेदी जी ने अपना तन-मन-धन सब कुछ अर्पण कर दिया। हमारी उपस्थिति, उपलब्धि इन्हीं के त्याग का परिणाम है।''(डॉ. रत्नाकर पांडेय : हिंदी पत्रकारिता प्रेमचंद और हंस, पृ. 223)

'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदी जी ने एक कुशल एवं अनुभवी अध्यापक की भाँति अपने युग के लोगों को हिंदी लिखना और पढ़ना सिखलाया। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के माध्यम से भाषा का संस्कार एवं आलोचना का विकास करने के साथ ही कई पत्रकारों को प्रोत्साहित किया एवं वे समय-समय पर 'सरस्वती' में इन पत्रिकाओं पर अपनी सम्मति प्रकाशित करते थे।

'सरस्वती' के प्रभाव से कई पत्र हिंदी में प्रकाशित होने लगे। सन् 1907 ई. में प्रयाग से 'अभ्युदय' का प्रकाशन हुआ, जो राष्ट्रीय विचारधारा का महत्त्वपूर्ण पत्र था। 1909 में इलाहाबाद से 'कर्मयोगी', 1909 में ही प्रसाद जी के प्रयत्न से 'इंदु' जबलपुर से 'श्री शारदा', खंडवा से 'कर्मवीर' बिलासपुर से 'छत्तीसगढ़ मित्र' आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ।

1903 से लेकर 1909 ई. तक द्विवेदी जी ने बड़े ही श्रम और निष्ठा के साथ 'सरस्वती' का संपादन किया। इस काल में उन्होंने भाषा संबंधी महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए और खड़ी बोली में काव्य रचना को भरपूर प्रोत्साहन दिया। इसके अलावा उन्होंने नाना विषयों से संबंधित लेख देकर उसे वैज्ञानिक चेतना के प्रसार का माध्यम बना दिया। यही कारण है कि 'सरस्वती' हिंदी प्रेमियों का कंठहार हो गई। यह गुरुत्तर कार्य करते हुए द्विवेदी जी ने छोटी-बड़ी कई पुस्तकें लिखीं और कई पुस्तकों का अंग्रेजी तथा संस्कृत अनुवाद किया। 1913 ई. की 'सरस्वती' के दो अंकों में द्विवेदी जी ने मिश्र बंधुओं की आलोचनात्मक पुस्तक 'हिंदी नवरत्न' की अत्यंत कठोर समीक्षा लिखी। जैसा कि प्रत्याशित था, मिश्रबंधुओं और उनके मित्रों ने इसके लिए भी उन्हें आड़े हाथों लिया और उन्हें अपशब्द कहे। द्विवेदी जी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। 'सरस्वती' में साहित्य और भाषा संबंधी जो विवाद चले, उनसे उसकी लोकप्रियता में काफी वृद्धि हुई। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को उससे भी और अधिक आकर्षक बनाने का प्रयास किया।

द्विवेदी जी अनुशासन प्रिय और कार्यप्रिय ही नहीं, बल्कि विनोदप्रिय भी थे। उनकी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो साधारण पढ़े लिखे भी समझ लें। जिस समय हिंदी के दिग्गज साहित्यकारों की मत भिन्नता के कारण भाषा का नियमन नहीं हो पा रहा था, उस समय कुछ लोगों ने द्विवेदी जी पर भाषा को नष्ट करने का आक्षेप भी लगाया परंतु सत्य सबके सामने धीरे-धीरे आने लगा और द्विवेदी जी की सच्चाई और अडिगता से हिंदी भाषा में नए युग का सूत्रपात हुआ। कालांतर में जो प्रसिद्धि 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' को प्राप्त है यही लोकप्रियता उन दिनों 'सरस्वती' को अर्जित थी। 'सरस्वती' को सजान-सँवारने में जो सेवा व श्रम द्विवेदी जी ने की वह तो सर्वविदित ही है किंतु 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने जो सेवा माँ भारती की कि वह हिंदी साहित्य के

इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

द्विवेदी जी ने लगातार 20 वर्षों तक 'सरस्वती' का संपादन किया। द्विवेदी जी में नैतिकता का आग्रह अधिक था तथा भावुक भी वे हद से ज्यादा थे। वे साहित्य सेवी के साथ-साथ जनसेवी भी थे। जन सेवा की उनकी प्रस्तुति उनके जीवनकाल के प्रारंभ से ही उनमें वर्तमान थी। द्विवेदी जी मूलत: किसान थे तथा उन्होंने गाँव में रहते हुए गाँव के विकास और ग्रामीणों की सुविधा के लिए भी अनेक कार्य किए और कराए। द्विवेदी जी सरकारी नौकरी में रह चुके थे और सरकारी महकमों में भी अत्यंत सम्मानित थे, इसलिए उनकी बहुत अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा थी। लोग उन्हें 'महावीर बाबू' या 'बाबू जी' कहकर पुकारते थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भाषा के सबसे बड़े समीक्षक थे अत: भाषा की शुद्धता और नैतिकता उनके आदर्शों के मूलाधार थे। उन्होंने अपनी संहारमूलक कटु आलोचना द्वारा समसामयिक ग्रंथों की कटु आलोचना की जिसके परिणामस्वरूप अशुद्ध एवं कुरुचिपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन एवं प्रचलन बंद हो गया और उनकी प्रेरणा और निदर्शन से आदर्शपूर्ण ज्ञानमूलक समाजोपयोगी ग्रंथों का प्रणयन प्रारंभ होने लगा।

द्विवेदी जी सदैव प्रतिभाओं के उपासक और समर्थक थे। उन्होंने अनेक प्रांतों की प्रतिभाओं को समाज के सामने लाकर खड़ा कर दिया। वर्तमान युग की अनिवार्यता को मद्देनजर रखकर द्विवेदी जी ने आचार्यत्व के आदर्श से प्रेरित हिंदी का भविष्य सुदृढ़ और शाश्वत बनाने के लिए युग निर्माता और पथ प्रदर्शक का कार्य करने में उनका स्थान सदैव अग्रणीय रहा। द्विवेदी जी का साहित्य-विवेक सदा प्रज्ज्वलित रहा, उसका एक कारण यह है कि उनकी ज्ञान-पिपासा कभी शांत नहीं हुई और उन्होंने स्वाध्याय कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने स्कूल और कॉलेज में जाकर नहीं, बल्कि स्वतंत्र रूप से कठिन परिश्रम द्वारा घर पर ही आठ भाषाओं तथा साहित्य एवं साहित्येत्तर विषयों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया। आचार्य द्विवेदी जी जन्मजात पत्रकार थे, साहित्य मनीषी थे, उनका एक-एक कदम अनुकरणीय है। द्विवेदी जी स्वाध्यायी, परिश्रमी, निष्पक्ष एवं त्यागी पत्रकार थे। अपने कार्यकाल में जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया उसे लोगों में बाँट दिया और जो कुछ साहित्य रूपी धन प्राप्त किया वह साहित्य समाज को सौंप दिया। द्विवेदी जी एक पत्रकार थे किंतु अपनी साधना,

त्याग, दृढ़ता, स्वाध्याय और मातृभाव प्रेम के कारण युग निर्माता के रूप में स्वीकार किए गए। उनकी पत्रकारिता प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य क्षेत्र में आगमन से आलोचना अधिक व्यवस्थित हो चली। उन्होंने युगानुकूल साहित्य निर्माण की प्रेरणा दी और कृतियों का गुण दोष विवेचन किया। द्विवेदी जी की पुस्तक समीक्षा पत्रकारिता से अधिक संबंधित थी उनका मानना था कि कवि लोग युग के अनुरूप समाजिक, नैतिक ओर आदर्शमूलक विषयों पर साहित्य रचना करें। द्विवेदी जी की पुस्तक समीक्षा करते समय एक पत्रकार का दृष्टिकोण रखते हैं। इसी प्रकार पुस्तक संबंधी सभी सूचनाएँ भी दिया करते थे। चाहे वह कोई सुनिश्चित तरीका समीक्षा करने का न हो लेकिन यह स्वीकार करना ही होगा कि द्विवेदी ने पुस्तक समीक्षा को एक नया दृष्टिकोण, एक नया मार्ग प्रदान किया यह कोई साधारण बात नहीं थी। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए द्विवेदी जी का यह कार्य प्रशंसनीय है। उन्होंने नए युग की आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृत्यों को महत्त्व दिया जो सामजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओतप्रोत थी। द्विवेदी जी स्पष्टवादी और निडर पत्रकार व समीक्षक थे। उन्होंने अनेक विद्वानों को इस क्षेत्र में पदार्पण करने का प्रोत्साहन दिया।

डॉ. रामरत्न भटनागर बीसवीं शती के प्रारंभिक दो दशकों की हिंदी पत्रकारिता के इतिहास को 'सरस्वती' का ही इतिहास मानते हुए उनके महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा करते हुए लिखते हैं- ''वास्तव में बीसवीं शताब्दी के दो दशकों की हिंदी पत्रकारिता या हम साहित्य भी कह सकते हैं, का इतिहास 'सरस्वती' का ही इतिहास है। यह उत्तरदायी थी भाषा के मानकीकरण के लिए खड़ी बोली के गद्य के विकास तथा विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र आदि विषयों पर उपयोगी तथा रचनात्मक लेख तथा सृजनात्मक लेख तथा पेम्पलेट के लिए कविता ने ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग तथा अपने कॉलम में खड़ी बोली की कविता के विकास के लिए गद्य की विविध शैलियों के विकास के लिए संस्कृत शब्दावली के ध्यानाकर्षण के लिए साहित्यिक समालोचना तथा आलोचना के लिए व लघुकथाओं के उत्थान के लिए थी। 'सरस्वती' के इस मूल्यांकन से उसका हिंदी पत्रकारिता में महत्त्वपूर्ण योगदान

स्पष्ट झलकता है।'' (सारिका, साहित्यिक पत्रकारिता विशेषांक, अंक-1, पृ. 20)

डॉ. रत्नाकर पांडेय के शब्दों में 'सरस्वती' साहित्य की चिरयशिस्विनी संस्था है। उसकी सेवाएँ स्वर्णाक्षरों में चिरस्मरणीय रहेंगी। खड़ी बोली में कविता लिखने की प्रेरणा 'सरस्वती' ने दी और 'सरस्वती' ने ही हिंदी को प्रौढ़ता प्रदान की। देश की जनता के लिए साहित्यिक भाषा के विशाल जंगल को काट-छाँट कर उपजाऊ धरती बनाने का कार्य भी 'सरस्वती' ने ही किया। 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाओं में हिंदी साहित्य के आधुनिक काल पर इतिहास लिखने की समस्त सामग्री बिखरी हुई है-'सरस्वती' की समृद्धि से हिंदी साहित्य की जो प्रगति हुई है उसके गौरवपूर्व संकल्प को द्विवेदी जी ने कार्य रूप में परिणत करके दिखाया। 'सरस्वती' के माध्यम से भाारतीय समाज के उत्थान और स्वतंत्रता संघर्ष की साहित्यिक पत्रकारिता को सबसे गौरवपूर्व रचनात्मक योगदान मिला। 'सरस्वती' की तुलना में भारत की किसी भी भाषा की एक भी साहित्यिक पत्रिका नहीं टिक सकती।'' (डॉ. रत्नाकर पांडेय : हिंदी पत्रकारिता प्रेमचंद और हंस, पृ. 58)

द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया। पत्रकारिता को उन्होंने मूल्यों, सिद्धांतों और राष्ट्रहित में कार्य करने का प्रमुख अस्त्र बनाया, लेकिन आजादी के बाद हिंदी पत्रकारिता अपनी गौरवपूर्ण परंपरा से विरुद्ध होकर ऐसी अंधी गली में भटक गई है जहाँ आज वह विचारहीन होकर गोते लगा रही है, जबकि आज विचार की दृष्टि से अधिक परिपक्व होना चाहिए। इसीलिए आज बार-बार आचार्य द्विवेदी की याद आती है क्योंकि आज फिर ऐसी प्रतिभा की आवश्यकता है। आचार्य द्विवेदी बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। अपने समय के वे एक ऐसे कर्मयोद्धा थे जिसने पत्रकारिता, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में न केवल हिंदी वरन् संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में अपनी एक अमिट छाप छोड़ी। द्विवेदी जी इसीलिए भी महान हैं कि उन्होंने अपने व्यक्तिगत दुख-संघर्ष को महत्त्व न देकर देश-समाज के संघर्ष को अभिव्यक्ति देने के लिए अपने को समर्पित कर दिया। यही कारण है कि आज भी वे एक युग पुरुष की तरह अपनी जगह अटल खड़े होकर हमारे समय और समाज को प्रेरित कर रहे हैं।

साहित्य व पत्रकारिता के इस मनीषी ने 'सरस्वती' के माध्यम से न केवल हिंदी को परिष्कृत कर संस्कारित किया वरन् नये लेखकों को दिशा भी प्रदान की। हालाँकि उनको कई साहित्यकारों को विरोधी भी बनाना पड़ा, लेकिन उन्होंने किसी की परवाह न की और नि:स्वार्थ भाव व दृढ़ मन से हिंदी साहित्य व पत्रकारिता की सेवा करते रहे। पत्रकारिता एक ऐसा कर्म है जिसके द्वारा हम निष्पक्ष होकर देश व समाज में जो कुछ घटित हो रहा है उसकी सच्ची तस्वीर जनता के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए आचार्य द्विवेदी अपने कर्मपथ पर रखते हुए हिंदी पत्रकारिता को एक नई दिशा और दृष्टि दी है। आज पत्रकारिता सौदेबाजी व विचारों के व्यापारीकरण में फँस गई है। पत्रकारों का समय के साथ नैतिक स्खलन होता जा रहा है। वे किसी राजनीतिक पार्टी से संबद्ध होते जा रहे हैं या फिर धन कमाने की लालसा से किसी धन्ना सेठ की धन कमाने की प्रवृत्ति को तरजीह दे रहे हैं। ऐसे विकट समय में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे युग पुरुष की अत्यंत आवश्यकता है। जिससे संचार क्रांति के इस युग में पत्रकारिता जनता को भटकाये नहीं और सही व निश्चित दिशा प्रदान करे क्योंकि पत्रकारिता की जरूरत पहले के किसी भी समय से आज ज्यादा है। विज्ञान को सर्वहितकारी करने और दुनिया को बचाए रखने के लिए हमें समय, समाज और स्थितियों के किसी ऐसे पारखी की जरूरत है जो 'समाचार' को 'संस्कार' में बदले और बदलते समय में किसी ईमानदार और दूरन्देशी-किस्सा-गो की तरह हमारा साथ दे। ऐसी परिस्थितियों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे पारस व्यक्ति की आज अत्यंत आवश्यकता है।

सरस्वती और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

डॉ. मृगेन्द्र राय

सन् 1884 ई. में श्री चिन्तामणि घोष ने इंडियन प्रेस को स्थापना की। उनकी महती आकांक्षा थी कि उत्तर प्रदेश में सर्वश्रेष्ठ मुद्रण हो। बांग्ला भाषी होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनका अप्रतिम प्रेम था। एक ओर जहाँ उन्होंने रामायण, महाभारत जैसे ग्रंथों के अनुवाद छापे वहीं दूसरी ओर बच्चों और महिलाओं के लिए उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की। साथ ही उन्होंने पाठ्य पुस्तकों का भी प्रकाशन किया। उन्होंने सन् 1900 ई. में हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ किया। 'सरस्वती' के प्रकाशन की रूपरेखा काशी नागरी प्रचारिणी सभा में बाबू श्यामसुंदर दास, राधाकृष्ण दास, किशोरीलाल गोस्वामी, कार्तिक प्रसाद खत्री एवं जगन्नाथदास रत्नाकर के परामर्श से बनी। इन्हीं लोगों ने मिलकर सन् 1903 तक सरस्वती का संपादन किया। विविध विषयों से युक्त 'सरस्वती' के पहले ही अंक की भूमिका में यह घोषणा की गई- 'इस पत्रिका में कौन-कौन-से विषय रहेंगे, यह केवल इसी से अनुमान करना चाहिए कि इसका नाम 'सरस्वती' है। इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवनचरित, पत्र, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कला-कौशल, आदि साहित्य के भारतीय विषयों का यथावकाश, समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थदिकों की यथोचित समालोचना की जायेगी।' (भूमिका सरस्वती, (भाग-1) जनवरी 1900 ई.) लेकिन इस घोषणा के बावजूद 'सरस्वती' के प्रकाशन के प्रारंभिक वर्ष में उपन्यास, नाटक, विज्ञान आदि पर नाम मात्र की ही सामग्री प्रकाशित हो पायी। दूसरे वर्ष में जब उसके संपादन का दायित्व बाबू श्यामसुंदर दास के कंधों पर आया तब विषयों की विविधता थोड़ी बढ़ी। लेकिन इस दरम्यान

उसके अंकों के अवलोकन से पता-चलता है कि इसमें जीवन चरित्र लिखने की अधिकता रही। किन्हीं कारणों से श्यामसुन्दर दास संपादक मंडल से छट गये। यही नहीं नागरी प्रचारिणी सभा का अनुमोदन भी हटा। सन् 1903 में चिंतामणि घोष ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें 'सरस्वती' का संपादक नियुक्त किया। 'सरस्वती' के संपादन से पूर्व द्विवेदी जी रेलवे में कार्यरत थे जहाँ उनका वेतन 200 रुपये था। अंग्रेज अधिकारी के व्यवहार से क्षुब्ध होकर उन्होंने रेलवे की नौकरी छोड़ दी। 'सरस्वती' का संपादन उन्होंने बीस रुपये प्रतिमाह तथा तीन रुपये डाक खर्च अर्थात् तेईस रुपये पर स्वीकार कर लिया। नये संपादक को सहयोग देने की कौन कहे उनका विरोध शुरू हुआ। इन विरोधियों में श्यामसुन्दर दास और उनके कुछ लोग थे। अपनी आत्मकथा में द्विवेदी जी ने इसका जिक्र करते हुए लिखा है, 'मैंने कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया। न किसी के प्रसाद की प्राप्ति की आकांक्षा की और न किसी के कोप से विचलित हुआ।' (मेरी जीवन रेखा, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी) द्विवेदी जी आदर्शवादी थे। अपने मूल्यों के प्रति सचेत। उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन इन संकल्पों के साथ किया-

1. वक्त की पाबंदी करूँगा, यानी सरस्वती की कापी समय पर निकालूँगा।
2. मालिकों का विश्वास पात्र बनने की चेष्टा करूँगा।
3. अपने हानि-लाभ का नहीं, पाठकों के हानि-लाभ का ध्यान रखूँगा।
4. निष्पक्ष भाव से सरस्वती में रचनाओं को प्रकाशित करने का प्रयत्न करूँगा।

इन्हीं आदर्शों को लेकर द्विवेदी जी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में कदम रखा जिसकी परिणति यह हुई कि सन् 1903 से लेकर सन् 1920 तक अर्थात् निरंतर 16 वर्षों तक उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन किया। मालिकों से वे कभी नहीं उलझे। प्रलोभनों की परवाह किये बगैर 'सरस्वती' में वह जो भी छापते वह पाठकों के काम का होता। संपादक का दायित्व ग्रहण करते ही द्विवेदी जी ने 'अनुमोदन का अंत' शीर्षक टिप्पणी लिखकर नागरी प्रचारिणी सभा के नियंत्रण से इसे मुक्त कर पत्रिका को विविध विषयों, स्तंभों, लेखों एवं चित्रों से युक्त कर जनता की स्वतंत्र पत्रिका के रूप में प्रस्तुत किया। परिणाम यह हुआ कि कुछ लेखकों ने द्विवेदी जी के संपादकत्व में सरस्वती से अपना नाता तोड़ लिया।

लेकिन द्विवेदी जी इससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने सरस्वती के संपादन को चुनौती के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने नई पीढ़ी के लेखकों की एक टीम तैयार की। वे वस्तुत: परखनेवाले पारखी थे। नये लेखकों की टीम में श्री सत्यनारायण कविरत्न, मैथिली शरण गुप्त, राय साहब छोटेलाल, रूपनारायण पाण्डेय, वेंकटेशनारायण तिवारी, लोकमणि, बागीश्कर मिश्र, लोचनप्रसाद, यशोदानन्द अखौरी, नरेन्द्रनारायण सिंह, आनन्दीप्रसाद दुबे, कामताप्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीधर वाजपेयी, गंगानाथ झा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, गोपालशरण सिंह, लाला हरदयाल, गिरिधर शर्मा, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, विश्वम्भरनाथ कौशिक, बंग महिला, बलदेवप्रसाद मिश्र, और रामदास गौड़ जैसे कवियों एवं लेखकों को देश के अनेक स्थानों से खोज निकाला और उन्हें 'सरस्वती' पत्रिका से जोड़ा। वे नये लेखकों को पत्र लिखकर रचनाएँ आमंत्रित करने लगे। जिनकी रचनाएँ स्तरीय नहीं होती थीं। उन्हें अपने सुझावों से वे प्रोत्साहित करते थे। वे विदेशों में भी पत्र लिखकर हिन्दी भाषियों से लेख लिखने का आग्रह करते जिसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड से डॉ. जायसवाल, सुन्दरलाल, सन्त विहाल सिंह, कृष्णकुमार माथुर फ्रांस से बेनीप्रसाद शुक्ल अमेरिका से स्वामी सत्यदेव, भोलादत्त पाण्डेय, रामकुमार खेमका, पाण्डुरंग खानखोजे और दक्षिण अमेरिका से प्रेमनारायण शर्मा, वीरसेन सिंह की रचनाएँ आने लगी। इस प्रकार 'सरस्वती' में लेखकों की संख्या बढ़ने लगी। द्विवेदी जी के कार्य में भी वृद्धि होने लगीं। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आयी रचनाओं को द्विवेदी जी आँख मूँदकर प्रकाशित नहीं करते थे। अपितु वे अपनी उत्कृष्ट संपादन कला का परिचय देते हुए भाषा एवं भाव की दृष्टि से उन्हें परिष्कृत एवं परिमार्जित करके प्रकाशित करते थे। कई बार तो ऐसा होता कि 'सरस्वती' में प्रकाशित अपनी रचनाओं को लेखक भी नहीं पहचान पाते। इस संदर्भ में सरदार पूर्णसिंह के निबंधों को देखा जा सकता है। जब मैथिलीशरण गुप्त की कविता हेमन्त 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई तो गुप्त जी ने जो टिप्पणी की वह दृष्टव्य है- 'मेरा रोम-रोम पुलक उठा, जिस रूप में मैंने उसे भेजा था, उससे दूसरी ही वस्तु वह दिखाई पड़ती थी, बाहर से ही नहीं, भीतर से भी। पढ़ने पर मेरा आनन्द आश्चर्य में बदल गया। इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्द्धन हुआ कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती थी।' (द्विवेदी-स्मृति-अंक, आचार्य द्विवेदी 'भाषा' मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ-22) एक

बार द्विवेदी जी ने पं. लक्ष्मीधर वाजपेयी को नाना फड़नवीस पर लेख लिखने का आदेश दिया। उन्होंने 50 पृष्ठों का लेख लिखकर भेजा। द्विवेदी जी ने उन्हें पत्र लिखा लेख है या ग्रंथ? खैर किसी तरह इसका उपयोग कर लिया जायेगा। वह लेख 8 पृष्ठों में छपा देखकर लेखक को आश्चर्य हुआ। लेख का सारांश और क्रमबद्धता का सिलसिला इतना कसावदार था कि कहीं उसमें शिथिलता नहीं दिखाई दी। कहने का अभिप्राय यह कि 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाएँ बिना द्विवेदी जी के संशोधन एवं परिवर्द्धन के प्रकाशित नहीं होती थी। सरस्वती में प्राय: साहित्य विज्ञान, इतिहास, दर्शन, संगीत, चित्रकला, नीति, अर्थ आदि विषयों पर शोधपूर्ण लेख प्रकाशित होते जिसका लाभ लाखों पाठक घर बैठे उठाते।

द्विवेदी जी के संपादन काल में 'सरस्वती' ने पत्रकारिता के क्षेत्र में एक ऐसी रेखा खींची जिसे छोटी कर पाना टेढ़ी खीर है। उन दिनों 'सरस्वती' में छपना किसी भी लेखक के लिए गौरव की बात होती। पाठकों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती गई। 'द्विवेदी जी के समय की 'सरस्वती' में जान थी। जीवन की चहल-पहल थी। सत्य की पिपासा से व्याकुल वह दुर्गम पर्वतों और दुरूह गुफाओं में अमृत-सलिल को ढूँढ़ने के लिए सदैव तत्पर थी। वह जीवन संग्राम में शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए सदैव खड्गहस्त रहती थी। बड़े-बड़े महारथियों ने उससे मोर्चा लिया, अपने तरह-तरह के दाँव-पेंच दिखाये, हर तरह के पैंतरे बदले और तलवार चलाने के अपने जौहर से देखने वालों को चकित भी कर दिया, लेकिन 'सरस्वती' की महावीरी गदा के सामने उनकी एक न चली।' (शिवपूजन रचनावली, खण्ड-4, पृ.-171) द्विवेदी जी की संपादन कला के संदर्भ में डॉ. नत्थन सिंह का यह कथन दृष्टव्य है-'भारतेन्दु-जीवन की पत्रकारिता के विकास को प्रौढ़ता प्रदान करने में आचार्य द्विवेदी को विशेष सफलता मिली। एक लम्बे समय तक 'सरस्वती' का संपादन करके आपने संपादन-कला का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया। विषय-चयन, लेखकों को प्रोत्साहन, समय पर पत्र का प्रकाशन, संपादकीय गौरव-रक्षण और पत्र की नीति के अनुपालन का अनुपमेय निदर्शन आपने प्रस्तुत किया।' (डॉ. नत्थन सिंह का लेख, द्विवेदी युगीन उपलब्धियाँ, साहित्य-परिचय, आधुनिक साहित्य अंक जनवरी 1967)

आचार्य द्विवेदी ने सरस्वती के माध्यम से धर्म संस्कार, स्वदेश प्रेम,

राष्ट्रभाषा, नैतिकता समाज, लोकसेवा, साहित्य, नीति, स्त्री मुक्ति, आदि पर विशेष बल दिया। द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' आदर्श पत्रिका बनी। तत्कालीन समाज में जनजागरण का मंत्र फूँका। अपने युग में पत्रकारिता का नेतृत्व किया। यह पत्रिका ध्येयधर्मी थी। इसने सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ते हुए सामाजिक जागरूकता का कार्य किया कहना न होगा 'सरस्वती' दिशा दर्शक पत्रिका बनी।

द्विवेदी जी व्याकरण में कुशल और उसके कठोर अनुशास्ता थे। इसलिए जहाँ भी जरूरत होती तो वह भाषा की व्याकरणिक शुद्धता पर बल देने से तनिक भी नहीं हिचकते थे। इस संदर्भ में कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं-

मूल रूप - एक पुराने बुड्ढे पंडित की अवस्था करीब 45 वर्ष की है और स्त्री की 20 वर्ष। पंडित जी बहुत विद्वान मनुष्य हैं और पुस्तकें लिखी हैं। सप्ताह में दो एक दिन उन्होंने समाचार या मासिक पत्रों के लिये लेख लिखने को नियत कर लिया। और पंडित जी ने हमसे कहा कि इन्हीं दिनों में विशेषकर जब वह कुछ लिखते होते हैं तो उनकी युवा पत्नी उनको बातचीत में लगाना चाहती हैं। यह पंडितानी स्वरूपवान हैं और कुछ पढ़ी-लिखी भी हैं और वयस में बहुत कम है। -गिरजादत्त वाजपेई

द्विवेजी जी द्वारा संशोधित रूप - पंडित और पंडितानी-पंडित जी की अवस्था करीब 45 वर्ष की है और उनकी पत्नी की 20 वर्ष की। पंडित जी अंग्रेजी और संस्कृत दोनों में विद्वान हैं और कई पुस्तकें लिख चुके हैं। सप्ताह में दो-एक दिन उन्होंने समाचार-पत्र और मासिक पुस्तकों के लिये लेख लिखने को नियत कर लिया है। विशेषकर इन्हीं दिनों में अर्थात् जब वे कुछ लिखते होते हैं तब उनकी युवा पत्नी उनको बातचीत में लगाना चाहती हैं। पंडितानी स्वरूपवती हैं और कुछ पढ़ी-लिखी भी हैं, उमर में बहुत कम हैं ही। (हस्तलिखित सामग्री, काशी नागरी प्रचारिणी के पास सुरक्षित) जनवरी 1903 गिरजादत्त वाजपेयी सरस्वती में सिर्फ देश से ही नहीं बल्कि विदेशों से भी रचनाएँ आती भी अमेरिका से भोला पांडे की एक रचना के शीर्षक का संशोधित रूप इस प्रकार है- (भोलानाथ पाण्डे (अमेरिका), सरस्वती, दिसंबर 1909)

शीर्षक - मूल रूप - 'मेरा विदेशानुभव' द्विवेदी जी द्वारा परिवर्तित रूप- नई दुनिया संबंधिनी रामकहानी

मूलरूप - जब से मैं अमरीका आया हूँ मैंने अपना कायदा ऐसा रखा है कि यूनिवर्सिटी का साल पूरा होने तक मेरे पास कुछ न कुछ रुपया अवश्य ही बचा रहे ताकि मजदूरी ढूँढ़ने के समय तक खाने के लिये काफी हो।

द्विवेदी जी द्वारा संशोधित रूप- जब से मैं अमेरिका आया हूँ मैं इस तरह रहता हूँ कि विश्वविद्यालय का साल पूरा होने तक मेरे पास कुछ न कुछ रुपया अवश्य ही बचा रहे जिसमें मजदूरी ढूँढ़ने के समय खाने-पीने के लिए कष्ट न हो। (सरस्वती सितंबर 1909 मेरी डायरी (हस्तलिखित के कुछ पृष्ठ)सत्यदेव हस्तलिखित)

श्री केशवराम भट्ट द्वारा लिखित 'हिन्दी व्याकरण' की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं - 'शास्त्री' की जगह शास्त्रीय क्यों नहीं? यदि शास्त्री ही लिखना था, तो वैज्ञानिक की जगह 'विज्ञानों' क्यों नहीं लिखा?(सरस्वती, भाग-6, संख्या 1 पृष्ट 283) पं. सुधाकर द्विवेदी की पुस्तक 'रामकहानी' की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा है- 'इस पुस्तक की भाषा न हिन्दी है, न उर्दू, न गँवारी है। वह इन सबकी खिचड़ी है। किसी की मात्रा कम है, किसी की अधिक। गेहूँ, चावल, तिल, उरद आदि सात धान्य कोई कम कोई अधिक सब एक में गड़बड़ कर देने से जैसे कई बोलियों की खिचड़ी की है।' (वही, सन् 1909, पृष्ठ-45) सरस्वती में प्रकाशित 'देशव्यापक भाषा 1903' 'देशव्यापक लिपि' 1905 शीर्षक निबंधों से स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी ने इन्हें भाषा सुधार के उद्देश्य से लिखा था यही नहीं वे भाषा में व्याकरण की महत्ता को भी दर्शाना चाहते थे। 'भाषा और व्याकरण' (वही, नवम्बर 1905) निबंध इसका प्रमाण है।

व्याकरण संदर्भ के अर्थ और अधिक शुद्धता 'द्विवेदी जी ने इस बात की चेष्टा की है कि भाषा अप-टू-डेट और सीधी-सादी हो और सब तरह के भावों और विचारों को प्रकट करने में समर्थ हो। इसी नीति को सामने रखकर उन्होंने हिन्दी के गद्य-पथ को अपने मस्तिष्क के साँचे में ढालकर सुन्दर और सुडौल बना दिया। यद्यपि उस समय उनकी नीति और शैली के संबंध में बहुत वाद-विवाद हुए थे, तथापि अन्त में द्विवेदी जी की शैली लोकप्रिय हो गई।' यह उनके आत्मबल का सुफल है। आज हम अपनी पुस्तकों में हिन्दी की जैसी भाषा पढ़ते हैं, वह द्विवेदी जी के श्रम बिन्दुओं से सिंचित होकर खिली और फली-फूली।' (हमारे साहित्य निर्माता, शांति प्रिय द्विवेदी, पृ.-4)

राष्ट्रीय चेतना को जगाने और पुष्ट करने में सरस्वती ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। स्वदेशी प्रयोग, नारी शिक्षा, अछूतोद्धार, औद्योगिक शिक्षा, अतीत गौरव, राष्ट्रभाषा के परिप्रेक्ष्य में अनेक लेख उसमें समय-समय पर प्रकाशित हुए वहीं उसने किसानों और मजदूरों की हिमायत भी की। आज साहित्य में दलित विमर्श का बोलबाला बढ़ गया है हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सरस्वती में अछूत हीरा डोम की कविता प्रकाशित कर द्विवेदी जी ने जाति-पाँति की दीवार को मिटाने की दिशा में ऐतिहासिक कार्य किया था। इस संदर्भ में हीरा डोम को कविता 'अछूत की शिकायत' की निम्नांकित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

''हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी
हमनी के सहेब से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवानओं न देखता ते,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पदरी सहेब के कचहरी में जाइबिजा,
बेधरम होके रंगरेज बानि जाइबिजां,
हाय राम! धसरम न छोड़त बनत बाजे,
बेधरम होके कैसे मुंहवा दिखइबि।।''

-(सरस्वती, भाग-15 खण्ड-2 पृ.-512-13)

डॉ. रामविलास शर्मा द्विवेदी जी के सामाजिक जागरण के परिप्रेक्ष्य में लिखते हैं- 'द्विवेदी जी सीमित अर्थ में साहित्यकार नहीं हैं। उनका उद्देश्य हिन्दी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना का प्रसार करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वे समाज-विज्ञान, प्रकृति विज्ञान, दर्शनशास्त्र और साहित्य सभी के विकास के लिए प्रयत्न करते हैं। साहित्य उनमें से एक है, शिक्षा प्रसार के लिए आवश्यक अन्य विषय उसके अन्तर्गत नहीं हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी की भूमिका एक महान शिक्षक की भूमिका है, केवल साहित्यकार की नहीं।' (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण डॉ. रामविलास शर्मा, (प्र.सं.) पृष्ठ- 270)

द्विवेदी जी ने सरस्वती के माध्यम से कवि, साहित्यकार एवं आलोचक ही नहीं दिये बल्कि हिन्दी पत्रकारिता के परवर्ती गौरव बाबू विष्णुराव पराड़कर गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकार भी। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का एक मानक सरस्वती के माध्यम से स्थापित किया। सरस्वती की

लोकप्रियता उनके संपादन में बढ़ी इसका प्रमाण यह है कि ऐसे बहुत से लोग थे जिन्होंने सरस्वती से हिन्दी सीखी या सरस्वती पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। निराला ने सरस्वती पढ़कर हिन्दी सीखी। मर्यादावादी, सोद्देश्य लेखन का नमूना 'सरस्वती' ने प्रस्तुत किया। लोककार्य, लोकजागरण, समाज सुधार आदि की मर्यादा सरस्वती ने स्थापित की।

सारांशत: कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके द्वारा संपादित 'सरस्वती' पत्रिका का अविस्मरणीय योगदान है। भाषा और साहित्य के विकास के साथ आचार्य द्विवेदी ने उन सभी बिंदुओं को आलोकित किया जिनका संबंध राष्ट्रीय हित और समाज कल्याण से था। आचार्य द्विवेदी द्वारा निर्धारित आदर्शों का अनुगमन करती हुई अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई जिनसे सरस्वती की उज्ज्वल परंपरा का विकास हुआ। इस विकास का श्रेय भी बहुत दूर तक आचार्य द्विवेदी को ही है। द्विवेदी जी की संपादन कला, नीति निष्ठा, ईमानदारी और निर्भीकता आज भी अनुकरणीय है।

भाषा चिंतन की स्वदेशीयता और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

नित्यानन्द श्रीवास्तव

'सुसभ्य, शिक्षित और जागृत देश अपनी स्वाधीनता के सदृश अपनी मातृभाषा की भी रक्षा, जीजान से करते हैं। ...वे जानते हैं कि स्वाधीनता की रक्षा के लिये स्वभाषा की रक्षा और उन्नति अनिवार्य है। पर अनेक कारणों से यह बात इस देश के निवासियों के ध्यान में बहुत समय तक नहीं आई। इस त्रुटि या इस विस्मृति का ज्ञान हुए अभी मुश्किल से साठ-सत्तर वर्ष हुए होंगे।' (महावीरप्रसाद द्विवेदी : साहित्यालाप : खड्यविलास प्रेस, पटना : 1929 ई. पृ.- 1) साठ-सत्तर वर्ष पूर्व का समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है। भारतेन्दु के समय तक भाषा सम्बन्धी जो भी विसंगतियाँ थीं, उनकी एक झलक यहाँ आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका विवरण 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में दिया है। इस पुस्तक से कुछ उदाहरण देखें-

'मोगलों के समय में अदालती कार्रवाइयाँ और दफ्तर के सारे काम फारसी भाषा में होते थे, जब अंग्रेजों का आधिपत्य हुआ तब उन्होंने भी दफ्तरों में वहीं परम्परा जारी रखी। ...फारसी के अदालती भाषा होने के कारण जनता को जो कठिनाइयाँ होती थीं उनका अनुभव अधिकाधिक होने लगा। अतः सरकार ने संवत 1893 (सन् 1836 ई.) में 'इश्तहारनामे' निकाले कि अदालती सब काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ है।' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : नागरी प्रचारिणी सभा : संवत 2041 कि. पृ. 292-293)

उपर्युक्त 'इश्तहारनामे' का एक वाक्यांश देखें, '... हुक्म दिया गया है कि ...जिसका जो मामला सदर व कोर्ट में हो सो अपना सवाल अपनी हिन्दी बोली में

और पारसी के नागरी अच्छरन में लिखे दाखिल करें कि डाक पर भेजें और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो होने अच्छरन में और बोली में उस पर हुक्म लिख जायेगा। निति 24 जुलाई 1836 ई.।' (वही)

जाहिर है, इस व्यवस्था का विरोध पढ़े-लिखे मुसलमानों की तरफ से होता ही था। एक साल के अन्दर यानी 1837 ई. तक 'उर्दू' सारे कार्यालयों की भाषा हो गई। आचार्य शुक्ल एक टिप्पणी करते हैं, सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी फारसीमय रूप लिखने-पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आ गया।' (वही)

यह, खड़ी बोली के दो रूपों में बँटने का समय था। शुक्ल जी लिखते हैं, 'ऐसे प्रतिकूल समय में साधारणजनता के साथ उर्दू पढ़े-लिखे लोगों की जो भी थोड़ी बहुत दृष्टि अपने पुराने साहित्य की बनी हुई थी, वह धर्मभाव से, तुलसीकृत रामायण की चौपाइयाँ और सूरदास के भजन आदि ही उर्दूग्रस्त लोगों का कुछ लगाव 'भाखा' से भी बनाए हुए थे।' (वही) यह एक अद्‌भुत सर्वद्वन्द्व का समय था जिसमें एक तरफ तो गार्सादवासी और सैयद् अहमद खाँ थे तो दूसरी तरफ राजा शिवप्रसाद सिंह। इस झगड़े को हवा दी गार्सादवासी ने, शुक्ल जी लिखते हैं, 'इसमें हिंदी-उर्दू का झगड़ा बीसों वर्ष तक-भारतेन्दु के समय तक-चलता रहा।' (वही, पृ.-295)

इसी कालखंड में हिन्दी-उर्दू के विवाद के बीच प्रशासक अंग्रेज शिक्षा के अंग्रेजी माध्यम पर मैकाले की नीतियों के आधार पर काम करने लगे। भारतेन्दु और उनके बाद के कालखंड तक बल्कि अब तक इस पद्धति से शिक्षित भारतीयों का एक ऐसा वर्ग खड़ा हुआ है जो स्वदेश, स्वभाषा तथा स्वाभिमान के प्रसंगों पर एक स्थायी भ्रम का शिकार बना हुआ है। इन सब कठिनाइयों और चुनौतियों के साथ स्वदेशीयता के सन्दर्भों पर काम करने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे लोग भी रहे, जो अपने अल्प संसाधनों में भी जागरण का कार्य करते रहे। हिन्दी-उर्दू के विवाद के बीच द्विवेदी जी ने कई महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने रखे हैं। इन तथ्यों से इस विवाद की हवा तो निकल ही जाती है तथा इसके पीछे की राजनैतिक दुरभिसंधियाँ साफ-साफ दीखने लगती हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं, उर्दू दूसरी भाषा तभी गिनी जा सकती है, जब उसके प्रेमी उसके सारे क्रियापदों को बदल दें और साथ ही हिन्दी व्याकरण के अनुसार बने हुए कारक चिह्नों को भी

बदल दें। ...फारसी और अरबी के शब्दों से मिली हुई उर्दू-नामधारिणी हिन्दी अभी कल ही उत्पन्न हुई है। 16वीं शताब्दी के पहले उसके साहित्य का नाम तक न था। इन भाषा वैज्ञानिकतत्वों के आधार पर बात करते हुए द्विवेदी जी एक जबर्दस्त स्थापना करते हैं, उर्दू का साहित्य भी, एक प्रकार से, हिन्दी ही का साहित्य है।' (वही : पृ.- 90 एवं 94)

अपनी इसी पुस्तक 'साहित्यालाप' में संकलित और नवम्बर 1903 में पूर्व प्रकाशित एक लेख में द्विवेदी जी हिन्दी-उर्दू के प्रसंग में एक बड़ी विचारणीय बात कहते हैं, 'संयुक्त प्रांत, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना और बिहार की भाषा हिन्दी है। पंजाब में जो भाषा बोली जाती है, वह भी हिन्दी ही है क्योंकि उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह हिन्दी ही की एक शाखा है। हिन्दी और उर्दू का व्याकरण एक ही है। फारसी और अरबी के शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू उन लोगों की समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकती जिनको इन दोनों भाषाओं का थोड़ा-बहुत ज्ञान नहीं है। उर्दू की यह कठिनता निकाल दी जाये तो उसमें और बोलचाल की साधारण हिन्दी में कुछ भी अन्तर न रहे। इसलिए उर्दू को हिन्दी ही समझना चाहिए।' (वही पृ.- 40)

हिन्दी-उर्दू को लेकर द्विवेदी जी जो विचार रख रहे थे, उसी का विकास आगे चलकर किशोरीदास बाजपेयी और रामविलास शर्मा जैसे भाषा-चिंतकों के लेखन में दिखाई देता है। यही चिंतन उर्दू के भी कुछ भाषा चिंतकों के यहाँ है। रामधारी सिंह दिनकर ने मौलवी बहीदुद्दीन 'सलीम' पानीपती को उद्धृत किया है - '...उर्दू जिस जमीन पर खड़ी है, वह जमीन हिन्दी की है। ...अगर यह जमीन यानी हिन्दी निकाल दी जाए तो फिर उर्दू जबान का नामोनिशान भी बाकी नहीं रहेगा। हिन्दी को हम अपनी जबान के लिए उम्मुल्लिसान (भाषा की जननी) और हयूलाए-अव्वल (मूलतत्त्व) कह सकते हैं। इसके बगैर हमारी जबान की कोई हस्ती नहीं है। इसकी मदद के बगैर हम एक जुमला (वाक्य) भी नहीं बोल सकते। जो लोग हिन्दी से मुहब्बत नहीं रखते वह हिन्दी के हामी नहीं हैं, फारसी, अरबी या किसी दूसरी जबान के हामी हों तो हों।' (रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय : लोकभारती : संस्करण 1999 : पृ. 389-390) लेकिन, इतिहास साक्षी है कि इन भाषा-चिंतक ऋषियों की स्थापना पर कुटिल राजनैतिक-साम्प्रदायिक गठजोड़ ने पर्दा डाल दिया और आज तक वे यह काम

अनवरत करते चले आ रहे हैं।

स्वातंत्र्य समर के दिनों में तथा महात्मा गाँधी के भारतीय राजनीति में आगमन से बहुत पूर्व देश में 'एक भाषा' के प्रचलन पर विचार होने लगा था। इस तरह के विचार हिन्दी के पक्ष में देश के अनेक भागों से विद्वान कर रहे थे, द्विवेदी जी ने उन सबका उल्लेख बहुत कृतज्ञतापूर्वक किया है। यहाँ हमें एक तथ्य का ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए कि उन दिनों यानी उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक से लेकर कम से कम बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशक तक 'सम्पर्क-भाषा' या 'राष्ट्र भाषा' जैसे शब्द बहुत कम प्रचलन में थे। आजकल ये शब्द सरकार की नियमावलियों में, सरकारी कार्यक्रमों में तथा शिक्षा के पाठ्यक्रमों में शामिल हो गये हैं तथा 14 सितम्बर के माध्यम से 'हिन्दी-दिवस' को लेकर जो उत्साह दिखाया जाता है वह निश्चित रूप से प्रशंसनीय है। इस उत्साह को देखकर मन में एक विचार उमड़ता है कि क्यों न हम इसे 'हिन्दी-दिवस' कहने के बजाय 'हिन्दी-पर्व' या 'हिन्दी-उत्सव' कहें। बहरहाल 'सम्पर्क-भाषा', 'राष्ट्र-भाषा' तथा 'हिन्दी-दिवस', या 'हिन्दी-पर्व' जैसे पदों की पृष्ठभूमि में हिन्दी के जिन हितचिंतकों का स्मरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने किया है, उसकी एक बानगी देखना आवश्यक है।

द्विवेदी जी लिखते हैं, 'कुछ दिनों से दो एक सज्जनों का मन देश में एक भाषा करने की ओर आकर्षित हुआ है। पहले-पहल पंडित वामनराव पेठे ने एक लेख इस विषय पर, मराठी में लिखकर प्रकाशित किया। उस पर दक्षिण के अनेक विद्वानों और समाचार पत्रों ने अनुकूल सम्मति दी।' इसी क्रम में एक और विद्वान का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं, 'बरौदा से 'श्री सयाजी विजय' नामक एक समाचार पत्र निकलता है। उसकी भाषा मराठी है। ...कुछ काल हुआ उसमें 'हिन्दुस्थान की राष्ट्रभाषा' नामक एक लम्बा लेख कई अंकों में निकला था। उसे पंडित भास्कर विष्णु फड़के ने जयपुर से लिखा है। ... वामनराव पेठे के समान भास्कर राव फड़के ने भी इस देश में एक भाषा होने की बड़ी आवश्यकता दिखाई है। देश-व्यापी भाषा होने के योग्य उन्होंने अपनी मातृभाषा को नहीं बतलाया, और न गुजराती ही को बतलाया। बंगभाषा को भी उन्होंने इस योग्य नहीं समझा। ...देश व्यापक भाषा होने की योग्यता उन्होंने पाई किसमें है? हिन्दी में।' (महावीरप्रसाद द्विवेदी : साहित्यालाप : वही : पृ. 29, 30)

देश में 'सर्वसाधारण भाषा' की आवश्यकता के लिए द्विवेदी जी के पास गहरी चिंता के साथ एक व्यापक दृष्टि भी है। वे स्पष्ट रूप से मानते हैं कि 'देश में एक भाषा न होने से सब लोगों में परस्पर प्रीति कभी नहीं उत्पन्न हो सकती। ...प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न होने के लिए एक-दूसरे की बात समझने की सबसे बड़ी आवश्यकता है। ...भारत वर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रहने वाले जब एक सर्वसाधारण भाषा के द्वारा अपने विचार एक-दूसरे पर प्रकट कर सकेंगे तभी देश की दशा सुधरेगी। अन्यथा नहीं। ...अतएव यदि इस देश में, कोई देशव्यापी भाषा हो सकती है, तो हिन्दी ही हो सकती है।' (वही : पृ. 34-39)

भाषा-चिंतन और लेखक के लेखकीय स्रोत के प्रश्न पर द्विवेदी जी का बहुत उदार दृष्टिकोण है। एक तरफ जहाँ इनका आग्रह है कि, '...अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचना करने पर भी विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को नि:सहाय, निरूपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मुनष्य दूसरे की माँ की सेवा-सुश्रूषा में रहता है-इस अधर्म की कृतध्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।' वहीं दूसरी तरफ उनका स्पष्ट रूप से मानना है कि 'मेरा मतलब यह कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिए। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए। ...परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए ...ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना सभी दृष्टियों से हमारा परम धर्म है।' (आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबन्ध : सम्पादक, विनोद तिवारी : लोक भारती प्रकाशन : प्रथम संस्करण 2016 : पृ.-35)

द्विवेदी जी के समय तक हिन्दी लेखकों की भाषा में 'अनस्थिर' रूपों की भरमार थी। इस 'अनस्थिर' शब्द को ही लेकर उन दिनों बड़े विवाद हुए। कुछ विद्वानों का कहना था कि जब 'स्थिर' का विलोम 'अस्थिर' है तब 'अनस्थिर' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाए? लेकिन द्विवेदी जी ने निरुत्तर करने वाला एक बड़ा जबर्दस्त तर्क दिया। उन्होंने कहा, 'भाषा की परिवर्तनशीलता के विषय में

'अस्थिरता' की जगह 'अनस्थिरता' शब्द लिखना अनुचित नहीं। अस्थिरता शब्द केवल स्थिरता के प्रतिकूल अर्थ का बोधक है। जो स्थिर नहीं है वह अस्थिर है। परन्तु जिसमें अतिशय अस्थिरता है, जिसमें अस्थिरता की मात्रा अत्यंत अधिक है, उसके लिए अनस्थिरता ही का प्रयोग हम अच्छा समझते हैं। 'द्विवेदी जी ने इन' 'अनस्थिर प्रयोगों' को दूसरी भाषा से शब्द के ग्रहण तथा व्याकरण के विशेष सन्दर्भों में देखा है।'

'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से द्विवेदी जी का एक बहुत लम्बा लेख सरस्वती में दो भागों में छपा। पहला भाग सरस्वती के नवम्बर 1905 के अंक में और दूसरा भाग फरवरी 1906 के अंक में प्रकाशित हुआ। बाद में ये दोनों भाग एक साथ 'वाग्विलास' नामक पुस्तक में संकलित किए गए। यह लेख अपने समय का अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेख है। द्विवेदी जी के समय तक हिन्दी के लेखकों ने भाषा-विज्ञान और हिन्दी के व्याकरण लेखन की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण काम न किए थे। उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ विदेशी लेखकों ने, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने, राजा शिवप्रसाद, एस.एच. केलॉग और एडविन ग्री.ज. आदि ने इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य जरूर किए थे लेकिन प्रामाणिकता मौलिकता और आदर्श व्याकरण के दृष्टिकोण से 1920 ई. सन् में पं. कामताप्रसाद गुरु के 'हिन्दी-व्याकरण' का प्रकाशन बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। इस पूरे प्रसंग में द्विवेदी जी का यह लेख हिन्दी-व्याकरण और भाषा-विज्ञान के लेखन के लिए ठोस वैचारिक आधार का काम करता है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन की ओर ध्यान आकृष्ट कराना अपने आप में एक बहुत अनिवार्य कार्य था क्योंकि पाश्चात्य भाषा-विशारदों ने इसमें कल्पित सिद्धातों का उपयोग करके अपनी साम्राज्यवादी सत्ता भारत पर सिद्ध करने का अभिमान सा चला दिया था। आर्य आक्रमण, आर्य आगमन और आर्यों को एक निश्चित नस्ल का बताने के पीछे उन्होंने भाषा तात्विक उपकरणों का सहारा भी विधिवत लिया है। बाद में आचार्य किशोरीदास बाजपेयी, रामविलास शर्मा और शिवाजी सिंह जैसे चिंतकों ने इस मनगढ़न्त कहानी को अपने अध्ययनों से समाप्त कर दिया। बहरहाल, द्विवेदी जी के समय तक पाश्चात्यों की ये भाषा वैज्ञानिक स्थापनाएँ आम चर्चा में नहीं थीं, उस समय तक तो हिन्दी लेखन में स्थिर प्रयोगों की चिन्ता ही अधिक थी। हिन्दी के लेखन पर फारसी-अरबी की रूप-रचना का प्रभाव कम होने लगा

था, तथा हिन्दी के लेखक व्याकरण-सम्मत लेखन की ओर ध्यान देने लगे थे। द्विवेदी जी एक रोचक टिप्पणी करते हैं, 'बड़ी खुशी की बात है कि व्याकरण के नियमों के खिलाफ हमारे दिग्विजयी जुवादानों के हजार सिर पटकते रहने पर भी हिन्दी के लेखकों का ध्यान उनके पालन की तरफ आकृष्ट हो रहा है।' (पाद-टिप्पणी) 'फारसी-अरबी के आलिम हमारे महामान्य समालोचक जी कहीं 'जवान' लिखते हैं, कहीं 'जुबान', कहीं 'जुवानदान', कहीं कुछ, कहीं कुछ। अनस्थिरता के विरोधी हैं न! खैर, हमने उन्हीं के लफ्जों में से एक लफ्ज़ चुन लिया है।' (वही, पृ.- 150) संकलन कर्ता और सम्पादक विनोद तिवारी ने इस विद्वतसंवाद का इतिहास बनाते हुए टिप्पणी की है, 'द्विवेदी जी के नवम्बर 1905 की 'सरस्वती' में प्रकाशित निबन्ध 'भाषा और व्याकरण' का मजाक उड़ाते हुए बालमुकुंद गुप्त ने 'आत्माराम' छद्मनाम से एक निबंध लिखा था। द्विवेदी जी ने शुक्राचार्य के आत्मरूप कहकर आत्माराम रूपी बालमुकुंद गुप्त पर व्यंग्य किया है।' (वही : पृ.-142)

जैसा कि अभी कहा गया, द्विवेदी जी के समय तक व्याकरण का कोई मौलिक और आदर्श ग्रन्थ नहीं बना था, ऐसी अवस्था में खड़ी बोली हिन्दी के दूसरे रूप 'उर्दू', जो अपने व्याकरण और शब्द-भण्डार के लिए फारसी-अरबी पर आश्रित सी थी, उसका कुछ-कुछ असर खड़ीबोली हिन्दी पर भी था। इस कारण अशुद्ध प्रयोगों की भरमार सी हो गई थी। द्विवेदी जी ने इस निबन्ध में बड़ी स्पष्ट सलाह दी है। वे लिखते हैं, 'हिन्दी के शब्द विचार में, हमारी समझ में, यथासंभव संस्कृत-व्याकरण से सहायता लेनी चाहिए। संस्कृत-व्याकरण के समान अच्छा और कोई व्याकरण दुनिया में नहीं। उसे छोड़कर जो लोग उर्दू और फारसी के व्याकरण का आश्रय लेते हैं, वे मानो घर की कामधेनु के दूध का अनादर करके आक का दूध निकालने दौड़ते हैं।' (वही : पृ.-153)

अभी उद्धृत कुछ इन तथ्यों से द्विवेदी जी की 'भाषा' के प्रति चिंता और उसके 'हिन्दीपन' के प्रति उनके दृढ़निश्चयी प्रयासों की एक झलक मिल जाती है। उनके पूरे रचनाकर्म का अवलोकन हमें अभिभूत कर जाता है। आज की पीढ़ी को सचमुच यह विश्वास करना कठिन होगा, क्या वास्तव में इतना विपुल लेखन और वह भी अनुशासनिक विषयों में, सम्पादन और अनुवाद का वृहत्तर कार्य करने वाला एक ही व्यक्तित्व था! संकटों से घिरे हुए भारत तथा उसकी

ऋतंभरा भारती के लिये द्विवेदी जी सचमुच महावीर हनुमान की तरह कार्य करते रहे। विनोद तिवारी ने अपनी भूमिका में प्रेमचन्द को उद्धृत करते हुए लिखा है- 'प्रेमचन्द ने खुद आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के इस अवदान को देखते हुए 'हंस' के क्रमशः दो अंकों (अप्रैल-मई 1933) का नियोजन द्विवेदी विशेषांक के रूप में किया। अप्रैल, 1933 के सम्पादकीय में वे लिखते हैं- 'आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं के बनाये हुए हैं। यदि पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी न होते तो बेचारी हिन्दी कोसों पीछे होती...। उन्होंने हमारे लिये पथ भी बनाया और पथ-प्रदर्शक का काम भी किया। ...हिन्दी के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सब-कुछ अर्पित कर दिया। हमारी उपस्थिति उन्हीं के त्याग का परिणाम है।'' (वही : भूमिका से, पृ.-09 एवं 10)

आज लगभग सौ-सवा सौ वर्षों के बाद भी हमें अपने तथा कथित स्वतंत्र भारत की मानसिक और भाषिक परतंत्रता के बोध से दो-चार होना पड़ रहा है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अवदान का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण हम हिन्दी भाषियों के लिए ही नहीं बल्कि समूचे भारतीय भाषा-परिवारों में स्वदेशीयता के पुनर्जागरण का उद्घोष निश्चित रूप से बनेगा।

आचार्य द्विवेदी जी का महावीरत्व

डॉ. प्रणव शास्त्री

हिन्दी-साहित्य में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की सबसे बड़ी देन बौद्धिकता की अधिकाधिक प्रतिष्ठा थी। उन्होंने आकाश कुसुमों के गुलदस्ते बनाना कभी उचित नहीं समझा। उनके समक्ष साहित्य-रचना का जनपरक आदर्श विद्यमान था, जिसमें युगानुरूप बौद्धिकता, सुधारवाद, अन्तरराष्ट्रीयता, राष्ट्रीयता आदि सभी आवश्यक तत्त्व समाविष्ट थे। हिन्दी, अंगेजी, संस्कृत, उर्दू, बँग्ला, मराठी आदि अनेक भाषाओं के अनुशीलन ने द्विवेदी जी के साहित्य-दर्शन को अत्यन्त व्यापक भूमिका प्रदान कर दी थी। अपने विराट् अध्ययन, अपने अपूर्व त्याग, अपने असाधारण प्रभाव-संप्रेषण तथा अपने अनवरत अध्यवसाय के कारण महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के वास्तविक प्रतिष्ठापक बन गए। उन्होंने गद्य को निर्दिष्ट रूप प्रदान किया, खड़ीबोली-कविता का आचार्यत्व किया, गद्य-पद्य की दूरी कम की तथा साहित्य को जीवन का प्रेरक और उपयोगी तत्त्व बना दिया। सुधार-वादी युग गद्य को जन्म भर दे पाया था। उसे सुदृढ़, व्यवस्थित एवं समर्थ व्यक्तित्व आदर्शवादी युग में ही प्राप्त हुआ। द्विवेदी ने भाषा को व्याकरण-सम्मत, परिष्कृत एवं व्यवस्थित रूप प्रदान किया, उसे गम्भीर-से-गम्भीर भावों एवं विचारों को अभिव्यक्त कर सकने में समर्थ बनाया। स्वभावतः वह पूर्ववर्ती जनयुग की तुलना में कुछ कठिन हो गई। 'भारतेन्दु-युग' शीर्षक छोटे किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक रामविलास शर्मा ने द्विवेदी पर अस्वाभाविक उच्चारण की प्रतिष्ठा का आरोप लगाया है। ऐसा ही आरोप फिराक गोरखपुरी लगाते हैं। यह आरोप न तलस्पर्शी है, न वास्तविक, क्योंकि साहित्य का उच्चारण शत-प्रतिशत जनता का उच्चारण न कभी और कहीं हुआ है,

न होगा, न वह संसार-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ जनकवि तुलसीदास में ऐसा है, न भारत के सर्वोत्तम जनकथाकार प्रेमचन्द में। साहित्य जनता को, उसकी अनुभूति को, उसकी अभिव्यक्ति को प्रेरणा देता है, जनता का अक्षरशः अनुकरण नहीं करता। वह जनता से दूर न हो, यह अभीप्सित है, किन्तु, वह जनवादिता के राजनैतिक सौदेबाजी का माध्यम बन जाए, यह अभिशाप है। जनवादिता के अतिरेक को छोड़कर साहित्य की भाषा का स्तर गिराना किसी को नहीं भाता। द्विवेदी साहित्य को जनता के निकट लाने के सबसे बड़े समर्थक थे। 'रसज्ञ-रंजन' के लेख इसके प्रमाण हैं। प्रसाद आदि की रोमैन्टिक कविता का विरोध उन्होंने अस्पष्टता के कारण ही किया था। उनके प्रमुख शिष्य मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक भारत के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि रहे हैं। इस स्थिति में द्विवेदी के साथ अस्वाभाविक उच्चारण की चर्चा आधारहीन प्रतीत होती है।

द्विवेदी जी ने गद्य को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। उन्होंने खड़ीबोली को काव्यभाषा बनाकर कविता के क्षेत्र में भी आचार्य का पद प्राप्त किया। भाषा एवं साहित्य दोनों को रूप प्रदान करने का जो कार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया, वह उन्हें संसार-साहित्य में अभूतपूर्व स्थान प्रदान कर देता है। कतिपय सज्जन उनकी तुलना अंग्रेजी के विख्यात साहित्य-निर्माता एवं युग-पुरुष जॉन्सन से करते हैं: उनको 'हिन्दी का जॉन्सन' कहते हैं। जॉन्सन में प्रतिभा, द्विवेदी से बहुत अधिक थी। मौलिकता की दृष्टि से भी जॉन्सन द्विवेदी से आगे हैं। अपने युग को प्रभावित करने की दृष्टि से दोनों समान रूप से महान् हैं। किन्तु, जॉन्सन को भाषा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी, जबकि द्विवेदी को बहुत दूर तक भाषा का रूप भी निर्धारित करना पड़ा था। दूसरे, जॉन्सन को गद्य अधिक व्यवस्थित रूप में प्राप्त हुआ था। तीसरे, इंग्लैण्ड में अंग्रेजी विरोध, अन्तर्विरोध एवं राजनीति दाँवघातों से मुक्त थी। द्विवेदी को इन सबका भी सामना करना पड़ा था। अतएव, द्विवेदी का कार्य जॉन्सन के कार्य से अधिक कठिन था। वे एक साथ युग-प्रवर्तक, युग-गुरु, युग-संचालक और युग-प्रेरक थे। वे साहित्यकार के रूप में नहीं, साहित्य-निर्माता के रूप में अमर हैं। उनके साहित्य का मूल्य तो विशेष है ही, उनकी प्रेरणा भी चिरन्तन है।

सारतः यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी की हिन्दी कविता का जन्म अतीतस्तवन, वर्तमान के प्रति रोदन एवं भविष्य के लिए संघर्षों के आदर्श

के साथ हुआ। बीसवीं शताब्दी के पूर्व भारतेन्दु ने इन समग्र प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया था। कालान्तर में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इनका नेतृत्व किया। मैथिलीशरण ने इनको अभिव्यक्ति प्रदान की। प्रसाद ने इनको कला का भव्य रूप दिया। भारतेन्दु आधुनिक काल के जनक थे, महावीरप्रसाद द्विवेदी निर्माता, मैथिलीशरण राष्ट्रकवि, प्रसाद श्रेष्ठतम कलाकार।

संदर्भ-

1. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास : गुलाबराय
2. भारतीय काव्यशास्त्र : डॉ. रामानन्द शर्मा
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र
4. आलोचना सागर : डॉ. राम प्रसाद मिश्र

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : युगान्तरकारी व्यक्तित्व

डॉ. सुधीर कुमार शर्मा

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी युगांतरकारी साहित्यकार थे। वे खड़ी बोली के प्रारंभिक महत्त्वपूर्ण कवियों में से एक थे। वे भाषा-शास्त्री, वैयाकरण, इतिहास वेत्ता, अर्थशास्त्र और विज्ञान में भी रुचि रखने वाले साहित्यकार थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्यकार होने के साथ-साथ अनुवादक और संपादक भी थे। वे युग निर्माता थे। चिंतन और लेखन में नवजागरण के अग्रदूत भी थे। उन्होंने 17 वर्ष तक सरस्वती का संपादन किया। अप्रैल,1933 के हंस के संपादकीय में मुंशी प्रेमचंद ने आचार्य द्विवेदी जी के अवदान को स्मरण करते हुए लिखा था- 'आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं के बनाए हुए हैं। यदि पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी न होते तो बेचारी हिंदी कोसों पीछे होती। समुन्नति की इस सीमा तक आने का उसे अवसर ही नहीं मिलता। उन्होंने हमारे लिए पथ भी बनाया और पथ प्रदर्शक का काम भी किया।'

अपनी सादगी और अप्रतिम विद्वत्ता के कारण वे साहित्यकारों में समादृत थे। 'सुधा' के जुलाई,1933 के अंक में पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के बारे में लिखा - 'उस दिन उनका प्रयाग में कैसा अभूतपूर्व स्वागत हुआ था, देश के कोने-कोने से राष्ट्रभाषा के पुजारी अपने इष्टदेव के चरणों में श्रद्धा के फूल चढ़ाने के लिए, उनकी एक झलक से अपने जीवन को सफल बनाने के लिए उमड़ पड़े थे। वह उस दिन कैसा भव्य लगते थे, कभी उनके मुख मंडल पर बृहस्पति का पांडित्य प्रतिबिंबित हो उठता था तो कभी सरस्वती की प्रतिभा। सहस्त्रों साहित्य सेवियों के बीच वह भोले-भाले, दंभ हीन, विनयशील महापुरुष हीरे की तरह चमक रहे थे। वह हिंदी भाषा के प्रकांड पंडित

हैं, हिंदी भाषा के सर्वश्रेष्ठ संपादक समालोचक और लेखक हैं। हिंदी भाषा कैसे लिखी जाती है, यह उन्होंने लिखकर दिखा दिया। पत्रिका संपादन कैसे किया जाता है, यह उन्होंने स्वयं संपादन करके बता दिया। समालोचना क्या वस्तु है, यह उन्होंने अपनी समालोचनाओं द्वारा व्यक्त कर दिया। वह आधुनिक हिंदी के निर्माता हैं, विधाता हैं, सर्वस्व हैं। उन्हें लोग आचार्य कहते हैं, वह सचमुच आचार्य हैं।'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी परंपरा के गहन अध्येता थे। उनकी दृष्टि आलोचनात्मक थी, उन्होंने वैदिक साहित्य से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया था तथा वैज्ञानिक दृष्टि से उस साहित्य को देखा भी था। उनका दृष्टिकोण बड़ा वैज्ञानिक था, वे अंधश्रद्धा के घोर विरोधी थे। द्विवेदी जी ने जब देखा कि हिंदुओं में वेदों के प्रति अंधश्रद्धा बढ़ गई है। वे उन्हें पढ़ते नहीं हैं, ईश्वर कृत मानकर सिर्फ उन्हें पूजते हैं, तब द्विवेदी जी ने क्षुब्ध होकर लिखा –'वेद के विषय में हम हिंदुओं की श्रद्धा कुछ इतनी बढ़ गई है कि वेदों को भगवान की वाणी कहते-कहते हमने उन्हें खुद भगवान ही बना डाला है। हम बहुधा अखबारों में पढ़ते हैं- अमुक शहर में 'वेद भगवान' की सवारी निकली अमुक तारीख को 'वेद भगवान' का षोडशोपचार पूजन हुआ।'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 1899 ई. में श्रीहर्ष के महाकाव्य 'नैषधीयचरितम्' पर पहला आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा। 'नैषध चरित चर्चा' यह द्विवेदी जी द्वारा संस्कृत साहित्य पर लिखा हुआ पहला आलोचनात्मक ग्रंथ है। रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, किरातार्जुनीयम्, संस्कृत ग्रंथों का औपन्यासिक हिंदी रूपांतर भी द्विवेदी जी ने किया था। द्विवेदी जी ने काव्य ग्रंथों की भी रचना की। उनकी कविता की भाषा सहज-सरल, बोलचाल के निकट और कहीं-कहीं व्यंग्य के पुट से परिपूर्ण है। 'विधिविडंबना' कविता 1901 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। वह सृष्टि के रचयिता पर भी व्यंग्य करते हैं। ब्रह्मा से वे कहते हैं कि तुमने दुराचारियों को धर्माचार्य, मूर्खों को धनी तथा विद्वानों को निर्धन बना दिया है। वे लिखते हैं –

'नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं।
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े-बड़े उगआते हैं।
घोर घमंडी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक।

चिह्न देख जिसमें सब उनको पहचानते निशंक।
दुराचारियों को तू प्राय: धर्माचार्य बनाता है।
कुत्सित-कर्म-कुशल कुटिलों को अक्षरज्ञ उपजाता है।
मूर्ख धनी, विद्वज्जन निर्धन, उल्टा सभी प्रकार।
तेरी चतुराई को ब्रह्मा बार-बार धिक्कार।
शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनका नहीं विचार।
लिखवाता है उनके कर से नए-नए अखबार।

'ग्रंथकार लक्षण' कविता में आचार्य द्विवेदी ने छद्म लेखकों के कारनामों को उजागर किया है। इस कविता में द्विवेदी जी लेखकों पर बड़ा चुटीला व्यंग्य करते हैं -

'शब्द शास्त्र है किसका नाम।
इस झगड़े से जिसे न काम।
नहीं विराम चिह्न तक रखना
जिन लोगों को आता है।
इधर-उधर से जोड़ बटोर।
लिखते हैं तोड़-मरोड़।
इस प्रदेश में वे ही पूरे
ग्रंथकार कहलाते हैं।

यश प्राप्ति के लिए ये छद्म लेखक अपने ग्रन्थ की स्वयं समीक्षा लिखकर प्रकाशित करा लेते हैं, किसी समालोचक से अनुनय-विनय कर अपने ग्रन्थ की समालोचना भी लिखवा लेते हैं, कैसा आश्चर्य है, वे ही बड़े लेखक समझे जाते हैं-

अपनी पुस्तक की सानंद।
स्वयं समीक्षा लिख स्वच्छंद।
अन्य नाम से अखबारों में
जो शतबार छपाते हैं।
निज मुख से जो गुण विस्तार।
करते सदा पुकार-पुकार।
ग्रंथकार पद योग्य सर्वथा
वेही समझे जाते हैं।

किसी समालोचक के द्वार।
सिर घिस-घिस कर बारंबार।
निज पुस्तक की समालोचना
जो सविनय लिखवाते हैं।

'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' कविता जो 'सरस्वती' के जुलाई 1903, अंक में प्रकाशित हुई थी, इस कविता में आचार्य द्विवेदी तत्कालीन विषम यथार्थ का चित्रण करते हुए देश की दुर्दशा का चित्रण कर रहे हैं, किस प्रकार भारत से धन लूटकर अंग्रेज अपना घर भर रहे हैं और भारतीय जन विपन्न होते जा रहे हैं। स्वदेशी भाव को प्रकट करती यह कविता देखी जा सकती है -

'विदेशी वस्त्र हम क्यों ले रहे हैं?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं?
न सूझै है अरे भारत भिखारी!
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी!
हजारों लोग भूखों मर रहे हैं;
पड़े वे आज या कल कर रहे हैं।
इधर तू मंजु मलमल ढूँढ़ता है!
न इससे और बढ़कर मूढ़ता है!
महा अन्याय हा हा हो रहा है।
कहें क्या कुछ नहीं जाता कहा है।
हैं मरे असगर, बिसेसर और काली।
भरें घर ग्रांट, ग्राहम और राली।'

ब्रज में रचित 'भारत दुर्भिक्ष' कविता 11 मार्च, 1897 के 'हिन्दोस्थान' में प्रकाशित हुई तथा 'काव्य मंजूषा' में संकलित है, की अंतर्ध्वनि साम्राज्यवाद विरोधी है, भारत की दुर्दशा देखकर कवि की पीड़ा अपरिमित हो जाती है -

'हे रघुराम! लाज भारत की, आज रहै किहि भाँती।
अति विकराल काल की भीषण, भेरी सुनी न जाती।
नाती, पूत, मीत ममता तजि, भए सुजाति कुजाती।
हाहाकार सुनत लोगन के, काकी फटै न छाती।
गली-गली कंगाल पेट पर, हाथ दोऊ धरि धावैं।

अन्न-अन्न पानी-पानी कहि, शोर प्रचंड मचावैं।
बालक, युवा, जरठ, नारी-नर, भूख-भूख कहि गावैं।
अविरल अश्रुधार आँखिन ते, बारम्बार बहावैं।

आचार्य द्ववेदी जी का आग्रह था गद्य और पद्य की भाषा एक होनी चाहिए। वे चाहते थे कि काव्य में भी ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग होना चाहिए। द्विवेदी जी मनोरंजन और शिक्षा इन दोनों को काव्य के उद्देश्य के रूप में स्वीकार करते हैं। 'कवि कर्तव्य' का दूसरा भाग जनवरी, 1911 की 'सरस्वती' के अंक में प्रकाशित हुआ था। विद्यानाथ के छद्म नाम से द्विवेदी जी ने कविता के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा था - 'कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए, केवल कविता के लिए कविता करना एक तमाशा है।'

इस तरह द्विवेदी जी 'कला, कला के लिए' दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य को समृद्धि प्रदान करने का श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को ही जाता है। उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य की नींव को सुदृढ़ करने में अपना अतुलनीय योगदान दिया। द्विवेदी जी अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे, उन्होंने हिंदी, संस्कृत, मराठी, बंगला और अंग्रेजी भाषाओं का अध्ययन घर पर ही किया और इन भाषाओं पर अधिकार भी कर लिया। 'कविता कलाप' 1909, 'देवीस्तुति शतक' 1892, 'कान्यकुब्जावलीव्रतम' 1898, 'समाचार संपादन स्तव' 1898, 'नागरी' 1900, 'कान्यकुब्ज अबला- विलाप' 1907, 'काव्य मंजूषा' 1903, 'सुमन' 1923, 'द्विवेदी काव्यमाला' 1940, आदि द्विवेदी जी की मौलिक काव्य रचनाएँ हैं। द्विवेदी जी ने प्रभूत मात्रा में साहित्य रचना की है, उनकी रचनाओं में उनकी अनूदित गद्य, पद्य तथा मौलिक गद्य रचनाएँ भी शामिल हैं। द्विवेदी जी ने अनेक विधाओं में रचना कर्म किया, उन्होंने अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास, पुरातत्व, समाजशास्त्र आदि विषयों पर भी लेखन कार्य किया। कविता के संदर्भ में द्विवेदी जी का आग्रह सहजता और सरलता का रहा, इसलिए उन्होंने कुछ बाल कविताएँ भी लिखीं। बाल कविता 'प्यारा वतन' जो 'द्विवेदी काव्यमाला' में संकलित है, का एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

'प्यारे वतन हमारे प्यारे। आजा-आजा पास हमारे।
या तू अपने पास बुला कर। रख छाती से हमें लगा कर।

तुझसे जो आराम मिला है। दिल पर उसका नक्श हुआ है।
उसे याद कर मैं रोता हूँ। रो-रो कर आँखें धोता हूँ।
कच्चा घर जो छोटा-सा था। पक्के महलों से अच्छा था।
पेड़ नीम का दरवाजे पर।
वह मोरों का शोर कहाँ है? श्याम घटा घनघोर कहाँ है?
कोयल की मीठी तानों को। सुन, सुख देते थे कानों को।
जब यह मुझे याद आता है। नहीं मुझे तब कुछ भाता है।
वे दिन क्या फिर कभी मिलेंगे। क्या फिर अपने दिन पलटेंगे।'

'हमारी यह आर्यभूमि' कविता में आचार्य द्विवेदी जी भारत के गौरवशाली अतीत का काव्य स्मरण करते दिखाई देते हैं, वे अतीत के गौरव की तुलना वर्तमान की विपन्नता से करते हैं। इस कविता के अंत में पुरातन गौरव के प्रत्यावर्तन की प्रार्थना भी कवि ने ईश्वर से की है-

'जहाँ हुए व्यास मुनि प्रधान। रामादि राजा अति कीर्तिमान।
जो थी जगत पूजित धन्यभूमि। वही हमारी यह आर्यभूमि।
जहाँ सभी थे निज धर्मचारी। स्वदेश का भी अभिमान भारी।
जो थी जगत पूजित पूज्यभूमि। वही हमारी यह आर्यभूमि।
हुए प्रजापति नरेश नाना। प्रजा जिन्होंने सुत तुल्य जाना।
जो थी जगत पूजित सौख्यभूमि। वही हमारी यह आर्यभूमि।
न स्वार्थ का लेस जरा कहीं था। देशार्थ का त्याग कहीं नहीं था।
जो थी जगतपूजित श्रेष्ठभूमि। वही हमारी यह आर्य भूमि।
स्वदेश के शत्रु निजशत्रु माने। जहाँ सभी ने सरचाप ताने।
जो थी जगत पूजित शौर्यभूमि। वही हमारी यह आर्यभूमि।
अनेक थे वर्ण तथापि सारे। थे एकताबद्ध जहाँ हमारे।
जो थी जगत पूजित ऐक्यभूमि। वही हमारी यह आर्यभूमि।
थे मातृभूमि व्रत भक्त धारी। जहाँ हुए सूर यशोधिकारी।
जो थी जगत पूजित कीर्तिभूमि। वही हमारी यह आर्यभूमि।
दिव्यास्त्र, विद्याबल, दिव्ययान। छाया जहाँ था अति दिव्यज्ञान।
जो थी जगत पूजित दिव्यभूमि। वही हमारी यह आर्यभूमि।
विचार ऐसे जब चित्त आते। विषाद पैदा करते-कराते।

न क्या कभी वे दया करेंगे। न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे।'

राष्ट्रभक्ति से संबंधित कुछ रचनाएँ भी आचार्य द्विवेदी जी ने लिखी हैं। 'जय-जय प्यारे भारत देश' गीत के कुछ अंश द्रष्टव्य हैं-

'जय-जय प्यारे देश हमारे।
तीन लोक में सबसे न्यारे। हिमगिरि मुकुट मनोहर धारे।
जय-जय सुभग सुवेश। जय-जय प्यारे भारत देश।
तुझ पर हम निसार हो जावें। तेरी रज हम शीश चढ़ावें।
जगत पिता से यही मनावें। होवे तू देशेश।
हिंदू, मुसलमान, ईसाई। यश गावें सब भाई-भाई।
सब के सब तेरे शैदाई। फूलो-फलो स्वदेश।
इष्ट देव आधार हमारे। तुम्हीं गले के हार हमारे।
भुक्ति-मुक्ति के द्वार हमारे। जय-जय-जय-जय देश। जय-जय प्यारे भारत देश।'

श्रीधर पाठक भी उन दिनों खड़ीबोली में रचनाकर्म कर रहे थे। समकालीन साहित्यकार परस्पर कैसे प्रभावित होते हैं, इस बात को श्रीधर पाठक के इस गीत को देखकर समझा जा सकता है-

'जय-जय प्यारा जग से न्यारा। शोभित सारा देश हमारा।
जगत मुकुट जगदीश दुलारा। जय सौभाग्य सुदेश।
जय-जय प्यारा भारत देश। जग में कोटि-कोटि जुग जीवै।
जीवन सुलभ अमी रस पीवै। सुखद वितान सुकृत का सीवै।
रहे स्वतंत्र हमेश। जय-जय प्यारा भारत देश।'

आचार्य द्विवेदी जी ने अपने समकालीन और बाद के साहित्यकारों को किस तरह संस्कारित किया, उनका मार्गदर्शन किया, आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है-

'यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों और दिखाई पड़ती, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी, उन्होंने अपना सुधार किया।'

हिंदी के रचनाकारों ने आचार्य द्विवेदी जी के महत्त्व को और उनके

प्रभाव को स्वीकार किया। प्रेमचंद, निराला, पंत और मैथिलीशरण गुप्त तो उनके शिष्य जैसे ही थे। यदि द्विवेदी जी न होते तो 'साकेत', 'यशोधरा' और 'भारत-भारती' जैसी कृतियाँ हिंदी जगत को प्राप्त न होतीं। सुमित्रानंदन पंत ने द्विवेदी जी के बारे में लिखा है-

'आर्य आपके मन:स्वप्न को ले पलकों पर।
भावी चिर साकार कर सके रूप रंग भर।
दिशि-दिशि की अनुभूति, ज्ञान-विज्ञान निरंतर।
उसे उठावें युग-युग के सुख-दु:ख अनश्वर।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयासों से ही खड़ीबोली हिंदी काव्यभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई। द्विवेदी जी को यह अस्वीकार्य था कि गद्य और पद्य के लिए हिंदी में अलग-अलग भाषा रूपों का प्रयोग किया जाए। वे चाहते थे कि साहित्य की भाषा लोकमानस के निकट होनी चाहिए, ताकि आमजन उसे आसानी से हृदयंगम कर सकें। वे काव्य भाषा को बोलचाल की भाषा के निकट, सरल रूप में देखना चाहते थे। सन उन्नीस सौ ईस्वी से पूर्व की द्विवेदी जी की रचनाओं में संस्कृतनिष्ठ प्रयोगों के साथ ब्रजभाषा के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं, परंतु जब उन्होंने खड़ी बोली को काव्य भाषा बनाने का पक्ष रखा तब स्वयं भी इस नियम का पालन किया । सन उन्नीस सौ दो ईस्वी में 'कुमारसंभव' का पद्यानुवाद द्विवेदी जी ने किया। इस अनुवाद में उन्होंने खड़ी बोली हिंदी के टकसाली भाषा का आदर्श रूप प्रस्तुत किया। 'कुमारसंभव' में प्रस्तुत उनकी खड़ी बोली का यह रूप दर्शनीय है- 'सारे देववृंद से खिंच कर देवराज के नयन हजार। कामदेव पर बड़े चाव से आकर पड़े एक ही बार। अपने सब सेवक समूह पर स्वामी का आदर सत्कार। प्राय: घटा बड़ा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार।'

द्विवेदी जी के समय में अधिकांश कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित रहती थी। आचार्य द्विवेदी जी उसका परिमार्जन कर परिमार्जित रचनाओं को 'सरस्वती' में स्थान देते थे। विश्वंभर शर्मा और मैथिलीशरण गुप्त जैसे साहित्यकार द्विवेदी जी के स्कूल के ही विद्यार्थी थे, इन पर द्विवेदी जी का भाषिक अनुशासन चलता था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, ठाकुर गोपालशरण सिंह जैसे कवियों को प्रोत्साहित कर खड़ी बोली हिंदी कविता के

विकास में अतुलनीय योगदान दिया। यदि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने इन कवियों को 'सरस्वती' के माध्यम से प्रोत्साहित न किया होता तो हिंदी साहित्य अनेक महान साहित्यिक कृतियों से वंचित रह गया होता। मैथिलीशरण गुप्त जी के 'क्रोधाष्टक' पद्य से दुखी होकर एक बार द्विवेदी जी ने सरस्वती में लिखा था - 'आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परंतु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लगे।' इस तरह द्विवेदी जी ने अपने प्रयासों से हिंदी भाषा और साहित्य को समुन्नत बनाया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में संपादन कार्य मात्र बीस रुपए माहवार पर प्रारंभ किया, इससे पूर्व श्री द्विवेदी इंडियन मिडलैंड रेलवे, झाँसी में दो सौ रुपए मासिक पर अधिकारी के रूप में कार्यकर रहे थे। दो सौ रुपए मासिक का पद त्याग कर मात्र बीस रुपए मासिक पर 'सरस्वती' का सम्पादक-पद ग्रहण कर लेना उनके त्याग का ही परिचायक है। संपादक के रूप में उनका आदर्श था- 'अपने हानि-लाभ की परवाह किए बिना पाठकों के हानि-लाभ का सदा ध्यान रखूँगा और न्याय पथ से कभी विचलित न हूँगा।' पत्रकारिता के ऐसे उच्च मानदण्डों के आधार पर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को आगे बढ़ाया। 'सरस्वती' की अंतर्वस्तु के संबंध में जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी के लेख 'द्विवेदी जी का हिंदी को योगदान' के आधार पर समझा जा सकता है- 'श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के माध्यम से अपने पाठकों को वह सारी सामग्री दी जो भारत में उस समय कोई पाठक किसी श्रेष्ठ अंग्रेजी मासिक से अपेक्षा कर सकता था।'सरस्वती' के पुराने अंकों में विज्ञान पर जितना लिखा गया, आज की हिंदी पत्रिकाओं में उतना नहीं लिखा जाता। अगर सर ओरेल स्टेन ने मध्येशिया में पुरातत्व की खोज की तो उसकी रिपोर्ट हिंदी में पाठकों के लिए 'सरस्वती' में तैयार की। अमरीका, फ्रांस आयरलैंड में यदि कुछ होता तो उसकी भनक सरस्वती के पाठकों को जरूर पड़ती। ईसाई धर्म, इस्लाम, दक्षिण भारत, पूर्व भारत, देश या संसार का कोई भी ऐसा भाग हो जिसकी जानकारी हिंदी के पाठक के लिए उपयोगी हो सकती है, वह उसे सरस्वती के माध्यम से दी जाती। नए-नए कवियों, कहानीकारों और निबंध लेखकों को प्रोत्साहन मिलता तो लाला लाजपत राय और डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल जैसे लोगों के निबंध भी 'सरस्वती' छपते। फिर भी 'सरस्वती' राजनीतिक पत्रिका नहीं थी, दैनिक पत्र भी नहीं था, पर 'सरस्वती' के

संपादक ने यह अभूतपूर्व कीर्ति अर्जित कर ली कि 'भारतेंदु युग' के बाद 'द्विवेदी युग' के नाम से उस समय को स्मरण किया जाने लगा।'

भारतेंदु जी की मृत्यु के समय आचार्य द्विवेदी जी 21 वर्ष के थे। उन्होंने भारतेंदु के अधूरे कार्य पूर्ण करने का प्रयत्न किया। हिंदी को सहज, सरल और बोधगम्य बनाने की उनकी नीति ने ही हिंदी को अल्प समय में ही जनप्रिय बना दिया। उनका मत था –'मैं यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का, देखना सिर्फ यह है कि शब्द वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप छापने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।'

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के संपादक बनने से पूर्व ही कुछ कवि खड़ीबोली हिंदी में कविताएँ लिखने लगे थे। आगरा में जन्मे श्री श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली हिंदी में कविताएँ लिखीं तथा उन्होंने खड़ी बोली हिंदी में अंग्रेजी कविताओं का अनुवाद भी किया, फिर भी द्विवेदी जी के हिंदी साहित्य में आने तक गद्य के लिए तो खड़ीबोली हिंदी स्वीकृत हो चुकी थी, किंतु कविता के लिए ब्रजभाषा ही स्वीकृत थी। ऐसा माना जाता था कि ब्रज भाषा जैसा लालित्य और भाषा का टकसाली रूप खड़ीबोली हिंदी में नहीं है। भारतेंदु बाबू इस मत के प्रबल समर्थक थे। इस तरह काशी में रहने वाले साहित्यकार ब्रज के पक्षधर थे तथा ब्रज क्षेत्र में जन्मे श्री श्रीधर पाठक और श्री नाथूराम शर्मा 'शंकर' जैसे साहित्यकार खड़ीबोली में कविता करने लगे थे, परंतु रायबरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में जन्मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी कविता को ब्रज के कुंजों से निकालकर खड़ीबोली के प्रशस्त मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। हिंदी कविता को आचार्य द्विवेदी का यह भी अप्रतिम योगदान था। द्विवेदी जी भाषिक प्रयोगों के प्रति बड़े सजग थे। 'कालिदास की निरंकुशता' जैसा लेख लिखकर उन्होंने मनमाने भाषा प्रयोगों पर अंकुश लगाने का कार्य ही किया। मनमाने भाषा प्रयोगों का नियमन तथा हिंदी गद्य शैली का निरूपण ये दोनों कार्य द्विवेदी जी ने किए। मनमाने भाषा प्रयोगों के नियमन के लिए द्विवेदी जी को 'शिवशंभू का चिट्ठा' के हिंदी व्यंग्य लेखक तथा 'भारत मित्र' के संपादक श्री बालमुकुंद गुप्त और श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी जैसे साहित्यकारों का विरोध भी सहना पड़ा, लेकिन द्विवेदी जी अपने मार्ग पर अब विचलित ही रहे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी असाधारण मेधा के धनी और असीम विद्यानुरागी थे। हिंदी साहित्य के किसी भी संपादक को इतनी ख्याति नहीं मिली जितनी कि द्विवेदी जी को प्राप्त हुई। हिंदी भाषा और साहित्य की उन्होंने प्राण-पण से सेवा की, उन्होंने हिंदी भाषा को संवर्धित, परिवर्धित और जीवंत बनाने में अपना अतुलनीय योगदान दिया। हिंदी भाषा के संवर्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान के कारण ही वे हिंदी भाषा और साहित्य के 'युग-पुरुष' बन गए, और उनके समय को हिंदी साहित्य के इतिहास में 'दिवेदी युग' के नाम से जाना गया। जनवरी 1903 लेकर दिसंबर 1920 तक निरंतर उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन किया। डॉ. रामविलास शर्मा ने आचार्य द्विवेदी जी के स्वाध्यायी व्यक्तित्व और उनके अवदान को स्मरण करते हुए लिखा है-

'द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह 'संपत्तिशास्त्र' है। अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं, इसके साथ उन्होंने राजनीतिक विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे, राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर उन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिंतन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक या साहित्यकार ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिंदी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।'

आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नंददुलारे वाजपेई एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे डॉ. रामविलास शर्मा से पूर्व के विद्वान आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्यक मूल्यांकन नहीं कर सके। आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी प्रारंभिक कविताएँ ब्रज भाषा में ही लिखी थीं, लेकिन वे कविताएँ भक्ति आदि की पृष्ठभूमि पर न होकर यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर थीं। द्विवेदी जी ज्ञान राशि के संचित कोष को

साहित्य मानते हैं। वे काव्य का उद्देश्य शिक्षा और मनोरंजन दोनों मानते हैं, लेकिन उन्होंने बाद में अपने विचारों में ही संशोधन करते हुए लिखा –'कवि का काम न तो शिक्षा देना है न दार्शनिक तत्वों की व्याख्या करना है। उसके हृदय से वह ज्ञान उद्गत होना चाहिए जिससे समस्त मानव जाति की हृतन्त्री में विश्व वेदना का स्वर बज उठे।' द्विवेदी जी के इन्ही विचारों ने संभवत: छायावाद की आधार भूमि तैयार की। हिंदी के संबंध में द्विवेदी जी ने लिखा था– 'जिनमें राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो जातीयता के महत्व को समझते हैं, वे प्राण रहते कभी अपनी मातृभाषा का त्याग नहीं करते, कभी उसके पोषण और परिवर्धन के काम से पीछे नहीं हटते, कभी दूसरों की भाषा को अपना नहीं बनाते, ज़िंदा देशों में यही होता है। मुर्दा और पराधीन देशों की बात मैं नहीं कहता। उन अभागे देशों में तो ठीक इसका विपरीत ही दृश्य देखा जाता है।'

भाषा साहित्य और सांस्कृतिक चेतना के उन्नयन में द्विवेदी जी की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण रही। द्विवेदी जी भारतीय मनीषा के प्रखर प्रवक्ता थे। भारतीय संस्कृति के मर्म को समझने वाले आचार्य द्विवेदी जी का संघर्ष जड़ता से जीवन भर रहा। उन्होंने जड़ मान्यताओं के ऊपर सदैव विवेकशील दृष्टिकोण रखा। भारतीय भाषा साहित्य और संस्कृति के प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग रहा, अनुराग का यह भाव इतना प्रबल था कि द्विवेदी जी अधिक आय के स्रोत और रेलवे के अधिकारी के पद को छोड़कर 'सरस्वती' के संपादक बन गए। हिंदी भाषा और साहित्य में उनके अप्रतिम और अतुलनीय योगदान के आधार पर ही द्विवेदी जी के समय को हिंदी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है।

संपादन कला के 'आचार्य'

लोकेन्द्र सिंह

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को हिन्दी पत्रकारिता में संपादन कला का पुरोधा कहा जाता है। हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता में भाषाई तथा व्याकरण शुद्धि के क्षेत्र में उनका अतुलनीय योगदान है। 'सरस्वती' के संपादन के माध्यम से उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता में एक युग की स्थापना की। भाषा, भाव और विषय सभी दृष्टि से पत्रकारिता में उनके योगदान के कारण उस युग का नामकरण 'द्विवेदी युग' किया गया। हिन्दी पत्रकारिता का वह युग आज भी हमारे पथ को आलोकित करता है। हिन्दी पत्रकारिता में उन्होंने जो उच्च प्रतिमान स्थापित किए, वे आज भी प्रासंगिक और अनुकरणीय हैं। विशेषकर, भाषा के मुद्दे पर उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता को एक नया प्रवाह दिया। उन्हें संपादन कला का अग्रणी क्यों कहा जाता है, उसका साक्षात प्रमाण 'सरस्वती' पत्रिका है। पत्रकारिता में किए गए प्रयोगों के लिए आज भी सरस्वती का उदाहरण दिया जाता है। यह आचार्य द्विवेदी के संपादकीय कौशल का ही प्रभाव था कि बहुत कम समय में 'सरस्वती' ने वह चमत्कार कर दिया, जो लंबे समय से निकल रही पत्रिकाएँ नहीं कर सकीं। न केवल 'सरस्वती' के पाठक वर्ग का विस्तार हुआ, बल्कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में हिन्दी जगत को प्रमुख लेखक/साहित्यकार प्राप्त हुए। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त तो स्वयं मानते हैं- 'मेरी उल्टी-सीधी प्रारम्भिक रचनाओं का पूर्ण शोधन करके उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना द्विवेदी महाराज का ही काम था'। मैथिलीशरण गुप्त का यह वक्तव्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की संपादन क्षमता को भली प्रकार सिद्ध करता है।

कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की बहुचर्चित कहानी 'पंच-परमेश्वर' का शीर्षक भी द्विवेदी जी का ही दिया हुआ है। उनके संपादन पर मुंशी प्रेमचंद कहते हैं- 'आज हिन्दी में ऐसा कौन विद्वान संपादक है, जो अपने काम को यथार्थ बुद्धि से करता हो, जो हरेक लेख को आद्योपांत पढ़ता हो, उसकी भाषा का परिष्कार करता हो, एक चतुर कलाकार की भाँति, पत्थर के टुकड़े को एक बोलती हुई मूर्ति बना देता हो। हमारी कई कहानियाँ 'सरस्वती' में द्विवेदी जी के संपादन-काल में निकलीं। जब वे छप जाती थीं और मैं असल से मिलान करता था, तो मालूम होता था कि उनका कितना रूपांतर हुआ है। मेरी एक कहानी 'पंच-परमेश्वर' है। मैंने जिस समय उसे द्विवेदी जी की सेवा में भेजा था, उसका नाम 'पंचों में ईश्वर' था। छपने पर देखा तो 'पंच-परमेश्वर' हो गया। जरा-से परिवर्तन से वह नाम कैसा चमक उठा'। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की पत्रकारिता एवं संपादन शैली को समझने के लिए, उनकी ही प्रेरणा से पत्रकारिता के क्षेत्र में आए यशस्वी संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर के वक्तव्य को जानना आवश्यक है। वे कहते हैं- 'सन् 1906 से प्रतिमास 'सरस्वती' का अध्ययन मेरा एक कर्तव्य हो गया। मैं 'सरस्वती' देखा करता था, संपादन सीखने के लिए'। यह वक्तव्य बताता है कि द्विवेदी जी का संपादन एक आदर्श प्रतिमान था, जिससे न केवल उस समय के संपादक/पत्रकार सीखते थे, बल्कि आज के पत्रकारों के लिए भी उनका लिखा पाथेय है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी की यशस्वी साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' का 18 वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक कीर्तिमान स्थापित किया था। उन्होंने पत्रिका को सरस, उपयोगी और प्रभावपूर्ण बनाया। सरस्वती के संपादन के माध्यम से वे पत्रकारिता एवं साहित्य को आमजन तक लेकर गए। पूर्व से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएँ अपनी भाषा के कारण एक विशेष वर्ग तक ही सीमित थीं। सरस्वती पत्रिका निर्मल नदी की तरह ज्ञान के प्रवाह को धरातल पर लेकर गई। आज भाषा के सरलीकरण के नाम पर जिस तरह से संपादक भाषा के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं, उन्हें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित सरस्वती के कुछेक अंकों का ही अध्ययन कर लेना चाहिए। आचार्य भी भाषा के सरलीकरण के पक्षधर थे। अपने संपादन के माध्यम से उन्होंने यह किया भी। उन्होंने स्वयं अपने लेखन में सुबोध और प्रचलित भाषा को

अपनाया। उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और न ही उर्दू-फारसी के अप्रचलित शब्दों की भरमार है। वे गृह के स्थान पर 'घर' और उच्च के स्थान पर 'ऊँचा' लिखना अधिक पसंद करते थे। भाषा को सरल, सुगम और सुबोध बनाने के प्रयास में उन्होंने भाषा के स्वरूप को बिगाड़ा नहीं। वे सरलता के पक्षधर तो थे, लेकिन व्याकरण शुद्धता के कठोर आग्रही थे। द्विवेदी जी ने अपनी भाषा में उर्दू और फारसी के शब्दों का निस्संकोच प्रयोग अवश्य किया, किंतु इस प्रयोग में उन्होंने केवल प्रचलित शब्दों को ही अपनाया। बाद में उन्होंने उर्दू वालों के प्रभाव से हिन्दी में अनावश्यक ही उर्दू शब्दों के प्रचलन की आलोचना भी की है। द्विवेदी जी की भाषा परिष्कृत और व्याकरण के नियमों से बँधी हुई है। उनका वाक्य-विन्यास हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप है, कहीं भी वह अंग्रेजी या उर्दू के ढंग का नहीं। यह ध्यान रखना चाहिए कि जब द्विवेदी जी ने लेखन शुरू किया तो हिन्दी भाषा व्याकरण की अराजकता की शिकार थी। हिन्दी के लेखक/साहित्यकार इस गंभीर समस्या के प्रति उदासीन थे। यह तो हिन्दी का सौभाग्य है कि उस समय में उसे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसा सुयोग्य पुत्र मिला, जिसने हिन्दी के स्वरूप की संवारने की महती जिम्मेदारी उठाई। इस संदर्भ में द्विवेदी जी के महत्व को रेखांकित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत ही स्पष्ट लिखा है- 'यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया'। हिन्दी में व्याकरण का व्याकरण का अभाव उन्हें बहुत खटका। वह मानते थे कि जब भाषा के लिए कोई नियम ही नहीं रहेगा तो सभ्य और उच्च साहित्य का निर्माण कैसे होगा? इसी विचार के साथ उन्होंने हिन्दी भाषा की रचनाओं में व्याकरण पर जोर देना आरंभ किया। 'सरस्वती' के संपादक की जिम्मेदारी सँभालने के लगभग दो वर्ष बाद ही 1905 में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से एक जोरदार आलेख लिखा। इस लेख में उन्होंने भाषा के लिए व्याकरण की आवश्यकता पर बल दिया और इसके लिए उन्होंने व्याकरण विरुद्ध रचनाओं के उदाहरण भी प्रस्तुत किए।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा को एक करने के लिए (खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार के लिए) भी महान अभियान

चलाया। वे इसे प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध मानते थे कि हम बोलते-लिखते एक भाषा में हैं और कविता दूसरी भाषा में करते हैं। द्विवेदी जी इस चलन को हिन्दी के विस्तार में बाधा की तरह देखते थे। इसलिए उन्होंने इस बात पर बहुत जोर दिया कि कवियों को गद्य की भाषा में ही कविता लिखना आरंभ करना चाहिए। इस संदर्भ में उन्होंने ही अपने एक लेख में लिखा है- 'गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक नहीं होनी चाहिए। यह एक हिन्दी ही ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए'। उनके इस अभियान और आग्रह का प्रभाव दिखाई पड़ता है। मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, राय देवी प्रसाद, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', हरिऔध, नाथू राम 'शंकर' शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों की रचनाएँ प्रकाशित करके द्विवेदी जी ने यह साबित कर दिया कि खड़ी बोली हिन्दी में भी उच्च कोटि की कविताएँ लिखी जा सकती हैं। कविता के साथ-साथ कहानी विधा के विकास में भी इस पत्रिका की महती भूमिका रही है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आधुनिक हिंदी कहानी का उदय एवं आधुनिक खड़ी-बोली कविता को प्रचार-प्रसार एवं प्रतिष्ठा 'सरस्वती' से ही मिली।

लेखन में उत्कृष्टता एवं शुद्धता के आग्रही - 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली प्रत्येक सामग्री पर द्विवेदी जी की पैनी नजरें रहती थीं। उन्होंने सामग्री की गुणवत्ता से कभी समझौता नहीं किया। इस कारण उनसे कई लेखक नाराज रहते थे। अनेक लोग अपनी रचना 'सरस्वती' में प्रकाशित कराने के लिए द्विवेदी जी पर दबाव भी डालते थे, तो कई लोग प्रलोभन भी देते थे लेकिन उन्होंने न तो दबाव के आगे घुटने टेके और न ही प्रलोभन उन्हें डिगा सके। सामान्यत: वे स्वयं ही अनेक रचनाओं का संपादन कर देते थे। परंतु, जिन रचनाओं में अशुद्धियों की भरमार और व्याकरण की अनदेखी की जाती थी, उन्हें लौटाने में द्विवेदी जी कतई संकोच नहीं करते थे। उनका कहना था कि हमें अपने लिखे हुए पर परिशोधन अथवा संशोधन को स्वीकार करना चाहिए। इस संदर्भ में उनका स्पष्ट मत था- 'अपना लिखा सभी को अच्छा लगता है परंतु उसके अच्छे-बुरे का विचार दूसरे लोग ही कर सकते हैं। जो लेख हमने लौटाए, वह समझ-बूझकर ही लौटाए, किसी और कारण से नहीं। अतएव यदि उसमें किसी को बुरा लगा तो हमें खेद

है। यदि हमारी बुद्धि के अनुसार लेख हमारे पास आवें तो उन्हें हम क्यों लौटाएँ। उनको हम आदर स्वीकार करें, भेजने वाले को भी धन्यवाद दें और उसके साथ ही यदि हो सके तो कुछ पुरस्कार भी दें। यदि किसी को सर्वज्ञता का घमंड नहीं है तो वह अपने लेख में दूसरे के द्वारा किए हुए परिशोधन को देखकर कदापि रुष्ट नहीं होगा। लेखक अपने लेख का प्रूफ स्वयं शोध सकता है और संशोधन के समय हमारे किए गए परिवर्तन यदि उसे ठीक न जान पड़े तो वह हमें सूचना देकर वह उसको अपने मनोनुकूल बना सकता है'। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के उद्देश्य एवं महत्व के संबंध में स्पष्ट तौर पर लिखा भी था कि सरस्वती में केवल उत्कृष्ट कोटि की रचनाओं को ही महत्व दिया जाएगा और उनकी उत्कृष्टता का निर्णय लेखकों की प्रसिद्धि के आधार पर नहीं बल्कि रचना के अपने वैशिष्ट्य के आधार पर किया जाएगा। द्विवेदी जी के संपादन-काल में इस सिद्धांत का सदैव पालन किया गया।

विषय चयन में व्यापक दृष्टिकोण - हिन्दी पत्रकारिता को नयी भाषा-शैली प्रदान करने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में विविध क्षेत्रों/आयामों पर सामग्री प्रकाशित कर विषय चयन में भी एक व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया। उन्होंने स्वयं साहित्य की विविध विधाओं में लिखने के अलावा अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र, पुरातत्व आदि विविध विषयों पर लेखन कर उदाहरण प्रस्तुत किया और दूसरे लेखकों को भी इन विषयों पर लिखने के लिए प्रेरित/प्रोत्साहित किया। आज के साहित्यकारों की तरह वे शुद्ध साहित्य का राग अलापने वालों में नहीं थे, बल्कि उनका मानना था कि ज्ञान के हर क्षेत्र को जानना साहित्यकार/पत्रकार के लिए आवश्यक है। उनका मानना था कि 'सरस्वती' के पाठकों को विविध विषयों पर जानकारी एवं ज्ञानपरक सामग्री मिलनी ही चाहिए। 'सरस्वती' के प्रवेशांक में पत्रिका के उद्देश्य की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है- 'इसके प्रकाशन का उद्देश्य पाठकों को विविध विषय का ज्ञान कराना है'। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में लगभग सभी विधाओं जैसे-कविता, कहानी, एकांकी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा, जीवनी, यात्रा-साहित्य, डायरी लेखन, समालोचना, पुस्तक परिचय, कला-सभ्यता, इतिहास, लोकगीत आदि सांस्कृतिक विषयों पर लेख तथा अन्य भाषाओं के साहित्य के अनुवाद को लाने का भरसक प्रयास किया। द्विवेदी जी के संपादन-काल में समाज-सुधार, स्त्री-शिक्षा, एवं

बाल-साहित्य जैसे विषयों को भी 'सरस्वती' में विशेष स्थान दिया गया। हिन्दी की पहली सचित्र मासिक पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित 'सरस्वती' में महत्त्वपूर्ण चित्रों के साथ ही व्यंग्य-चित्रों को भी यथोचित स्थान मिलता था।

नये लेखकों को प्रोत्साहित किया, संपादक गढ़े - आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के लिए पत्रकारिता कोई व्यवसाय नहीं थी, अपितु यह उनका स्वभाव था। 'सरस्वती' के संपादक की जिम्मेदारी सँभालने से पहले उन्होंने जब 1903 में रेलवे की नौकरी छोड़ी, तब उन्हें 150 रुपये मूल वेतन एवं 50 रुपये भत्ता मिलता था। यानी कुल 200 रुपये। उस समय यह एक बहुत बड़ी राशि थी। परंतु उन्होंने 200 रुपये ठुकरा कर मात्र 20 रुपये मासिक पर 'सरस्वती' के संपादक का पद स्वीकार किया। उनका यह त्याग एवं समर्पण ही बताता है कि साहित्य और पत्रकारिता का उनके जीवन में क्या स्थान रहा होगा? अपने इसी समर्पण के कारण उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता एवं आधुनिक संपादन की बुनियाद को न केवल मजबूत किया, बल्कि उसे श्रेष्ठ लेखक एवं संपादक भी दिए। एक महान संपादक के रूप में द्विवेदी जी ने सदैव ही पाठकों के हित का चिंतन करते हुए नये रचनाकारों को प्रोत्साहित किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जैसे हिन्दी साहित्य के न जाने कितने चमकते नाम उनकी छत्र-छाया से निकले हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, कामता प्रसाद गुरु, प्रेमचंद, लोचन प्रसाद पाण्डेय जैसे कई लेखक हैं जो 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से हिन्दी जगत में अपनी पहचान बना सके। उन्होंने बाबूराव विष्णु पराड़कर और गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकार भी तैयार किए, जिन्होंने स्वयं भी हिन्दी पत्रकारिता की बहुत सेवा की है और आदर्श स्थापित किए।

पत्रिका संपादन-प्रकाशन में समय का पालन - पत्र-पत्रिका गुणवत्तापूर्ण सामग्री के साथ अपने तय समय पर प्रकाशित हो जाए, यह भी संपादक की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी रहती है। पत्र-पत्रिका का नियमित और नियम समय पर प्रकाशित होकर पाठकों के हाथ में पहुँच जाना भी, उसकी लोकप्रियता एवं उसके प्रसार में वृद्धि को सुनिश्चित करता है। उस समय की अधिकांश पत्रिकाएँ अपने नियत समय पर नहीं निकल पाती थीं। उसके पीछे अनेक कारण रहते थे लेकिन आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने संपादन के 18 वर्षों में कभी भी इन कारणों को बाधा नहीं बनने दिया। उनके संपादन में 'सरस्वती' नियत

समय पर प्रकाशित होती रही, भले ही उन्हें अकेले ही पूरी पत्रिका के लिए सामग्री लिखनी पड़ी हो। द्विवेदी जी ने अपने संपादन के लिए जो नियम बनाए थे, उनमें से एक नियम यह भी था कि वह पत्रिका के संपादन एवं प्रकाशन में सदैव समय का पालन करेंगे। उन्होंने अपने इस नियम का सदैव पालन किया।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने निस्संदेह आधुनिक संपादन कला की नींव रखने वाले 'आचार्य' हैं। उन्हें संपादन कला का अग्रदूत कहना चाहिए। उन्होंने संपादक की भूमिका के साथ न केवल न्याय किया, बल्कि उसकी भूमिका में विस्तार भी कर दिया। एक संपादक के रूप में उन्होंने हिन्दी भाषा का परिष्कार, हिन्दी की वाक्य रचना और पदविन्यास में एकरूपता की ओर ध्यान दिया, हिन्दी में व्याकरण के महत्व को प्रतिपादित किया। एक महान संपादक के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य में अनेक लेखकों एवं कवियों को प्रतिष्ठित किया और अनेक यशस्वी पत्रकारों/संपादकों को प्रशिक्षित किया। अपने संपादन के माध्यम से उन्होंने हिन्दी की नवीन गद्य विधाओं के विकास का मार्ग भी प्रशस्त किया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की संपादन कला का परिचय देना कठिन कार्य है लेकिन 'सरस्वती' की सफलता से हम उसका आकलन कर सकते हैं। 'सरस्वती' हिन्दी की लोकप्रिय एवं प्रतिष्ठित पत्रिका रही है। निस्संदेह उसने यह प्रसिद्धि एवं सफलता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की संपादन प्रतिभा के बल पर प्राप्त की। 'सरस्वती' के संपादन के माध्यम से द्विवेदी जी ने आधुनिक संपादन कला के नये प्रतिमान स्थापित किए हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्येतिहासकारों की दृष्टि में

डॉ. हरेराम पाठक

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रादुर्भाव हिन्दी साहित्य जगत में उस समय हुआ जब भाषागत अराजकता व्याप्त थी। ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली ले रही थी। खड़ी बोली की शब्द-सम्पदा की खोज एवं व्याकरणिक दृष्टि से उसके प्रयोग को व्यवस्थित करने की महती आवश्यकता थी। ऐसे ही साहित्यिक संक्रमण की दहलीज पर 'सरस्वती' के संपादन का दायित्व लेकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्यिक पटल पर उपस्थित हुए। उन्होंने भाषा-परिष्कार पर बहुत ध्यान दिया। परिणाम यह हुआ कि भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से बहुत कम ही समय में हिन्दी का तेजी से विकास हुआ। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा-सुधार के अतिरिक्त साहित्य के अन्य क्षेत्रों में द्विवेदी जी का योगदान ही नहीं रहा। परवर्ती इतिहासकारों का ध्यान उनके द्वारा किये गये भाषा परिष्करण इतना अधिक केन्द्रित हो गया कि उनके साहित्यिक अवदान लगभग भुला दिये गये। द्विवेदी द्वारा प्रतिष्ठित काव्य-सिद्धांतों पर गंभीरता से विचार किया गया, न उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में निहित मूल्य-द्रष्टि की खोज ही की गई। इसके साथ ही उन्होंने समाज, एवं राजनीति एवं तत्कालीन अर्थनीति पर अपने वैज्ञानिक एवं समयानुकूल विचार प्रस्तुत किये, उसका भी सम्यक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया जा सका।

डॉ. रामविलास शर्मा ने पहली बार आचार्य द्विवेदी के प्रदेय का समग्र रूप में मूल्यांकन किया एवं उन्हें हिन्दी नव जागरण के पुरोधा के रूप में प्रतिष्ठित किया। यहाँ प्रस्तुत है, विभिन्न साहित्येतिहासकारों की दृष्टि में महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक अवदानों का मूल्यांकन।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्विवेदी जी के विषय में लिखते हैं- 'द्विवेदी जी ने 1903 में 'सरस्वती' के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाये कि साधारण समझने वाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ जाएँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 346)

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार्य द्विवेदी के सरल भाषा-प्रयोग को आचार्य शुक्ल ने 'बातों के संग्रह' कहकर टाल दिया है। द्विवेदी जी के महत् कार्यों का जैसा समुचित आकलन आचार्य शुक्ल द्वारा होना चाहिए था, वैसा नहीं हो सका। परिणाम यह हुआ कि आचार्य शुक्ल की लीक पर चलने वाले, रामविलास शर्मा को छोड़कर, प्राय: सभी इतिहासकारों ने आचार्य द्विवेदी का सम्यक मूल्यांकन नहीं किया।

भारत यायावर ने अपनी पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी : एक पुनर्पाठ' में लिखा है- 'उन्होंने साहित्य के अलावा विज्ञान, दर्शन, इतिहास, पुरातत्व, अर्थशास्त्र, जीवजंतु, वनस्पति, समाजशास्त्र आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेखन किया है एवं हिन्दी में आधुनिक चिंतन की परंपरा को विकसित किया है। वे भारतीय चिंतन और पाश्चात्य चिंतन का समाहार प्रस्तुत करते हैं। भारतीय दर्शन का विश्लेषण करते हुए आधुनिक विज्ञान का सहारा लेते हैं। भारत में अंग्रेजी राज की विश्लेषणपरक आलोचना करते हैं। राष्ट्रीय नवजागरण की शुरुआत करते हुए अंतर्राष्ट्रीयतावाद तक पहुँचते हैं। वे सिर्फ आधुनिक हिन्दी के निर्माता ही नहीं, भाषा-सुधारक एवं हिन्दी के परिष्कारकर्ता ही नहीं हैं, अपितु भारतीय जन-मानस में ज्ञान के अनेक द्वार खोलने वाले आधुनिक चिंतक हैं।' (पृ.-12)

कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत यायावर ने आचार्य द्विवेदी का मूल्यांकन समग्रता में करने का प्रयास किया है। लेकिन ऐसा प्रयास रामविलास शर्म की स्थापनाओं के बाद ही हुआ जिसे 'पूर्व हुए नुकसान की क्षतिपूर्ति' के रूप में सराहनीय कदम कहा जा सकता है।

बहरहाल, द्विवेदी जी के आलेखों पर टिप्पणी करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं, 'द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिये लिख रहा है। एक-एक सीधी बात, कुछ हेर-फेर-कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही-साथ पाँच-छः तरह के पाँच-छः वाक्यों में कहीं मिलता है। ...उनकी यह व्यास शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न में बड़े काम की है।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 347)

यहाँ आचार्य शुक्ल ने द्विवेदी जी के गद्य की व्यास शैली की प्रशंसा तो की है परन्तु उनके गद्य भी बहुरूपता एवं उनकी बहुज्ञता के संबंध में वे प्रायः मौन रहे हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक आलोचक के रूप में पहला मूल्यांकन आचार्य शुक्ल ने किया। उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि किसी ग्रंथकार के गुण अथवा दोष ही दिखाने वाली पहली पुस्तक पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालीदास की आलोचना' थी, किन्तु एक समर्थ आलोचक के रूप में द्विवेदी जी के व्यक्तित्व को उन्होंने महत्व नहीं दिया। आचार्य द्विवेदी की 'विक्रमांक देव चरित चर्चा', 'नैषध चरित चर्चा,' 'कालीदास की निरंकुशता' आदि का उल्लेख करने के बाद उन्होंने लिखा- 'जो हो, इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं'। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 528)

शुक्ल जी ने यह भी स्वीकार किया है कि 'यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गम्भीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 528)

शुक्ल जी एक ओर तो द्विवेदी जी को खरे आलोचक मानते हैं लेकिन वे यह भी मानते हैं कि उन्होंने कोई स्थायी महत्व की साहित्य-समीक्षा प्रस्तुत नहीं की। द्विवेदी जी की रचनाओं पर शुक्ल जी का दृष्टिकोण क्या उदार कहा जा सकता है? यह विचारणीय प्रश्न है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आचार्य द्विवेदी को नवयुग का प्रवर्तक

स्वीकार करते हुए भी उनके आलोचक रूप का सम्यक मूल्यांकन नहीं किया। उन्होंने लिखा है-'द्विवेदी जी का व्यक्तित्व मूलत: सुधारक और प्रवर्तक व्यक्तित्व है। उन्होंने समस्त प्राचीन को ताक पर रखकर नवीन अभ्यास और नये अनुभवों का रास्ता पकड़ा। हिन्दी की किसी भी प्राचीन परंपरा के वे कायल न थे। संस्कृति से उनका प्रेम अवश्य था, पर वह भी उतना ही, जितना हिन्दी को नवीन स्वरूप देने के लिए आवश्यक था। इसलिए द्विवेदी जी की शैली में सम्पूर्णत: नवीनता के दर्शन होते हैं।' (हिन्दी साहित्य : बीसवीं सदी, भूमिका से)

यहाँ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने द्विवेदी जी के लेखन की शैलीगत विशेषताओं का सम्यक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, परन्तु उनकी आलोचनात्मक गरिमा को प्रतिष्ठित करने अथवा मूल्यांकन करने में वे (वाजपेयी जी) भी पीछे हो गये हैं।

'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' के लेखक डॉ. भगवानस्वरूप मिश्र ने आचार्य द्विवेदी के संबंध में लिखा है, 'उन्होंने कवियों और जनता दोनों में ही सुरुचि जाग्रत करने का प्रयत्न किया और वे इस कार्य में पर्याप्त रूप से सफल भी हुए। द्विवेदी जी जैसे कठोर निरीक्षक के अभाव में रीतिकाल का गंदा नाला अब तक बहकर सारे साहित्य को आप्लावित कर देता। इस प्रकार द्विवेदी जी की आलोचना की मूल प्रेरणा सुरुचि और सत्साहित्य का निर्माण है।' (हिन्दी आलोचना उद्भव और विकास, पृ. 248)

चूँकि डॉ. भगवानस्वरूप मिश्र ने द्विवेदी जी की व्यापक सुरुचि संपन्नता का उल्लेख किया है परन्तु उनकी वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि और क्रांतिकारी, सामाजिक चेतना के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन यहाँ भी नहीं हो पाया है। केवल भाषा-संस्कार एवं प्राचीन ग्रंथों की समीक्षा की दृष्टि से ही द्विवेदी जी के व्यापक दृष्टिकोण का आकलन नहीं किया जा सकता। अत: यहाँ भी आचार्य द्विवेदी के साहित्यिक, समाजार्थिक एवं दार्शनिक पहलुओं पर गंभीरता से विचार न हो सका।

डॉ. उदयभानुसिंह ने द्विवेदी जी पर किये गये अपने शोध कार्य में लिखा है- 'आलोचक द्विवेदी का सच्चा स्वरूप उनकी कृतियों के कतिपय संग्रहों में नहीं है। वह उस युग के साहित्य के साथ एक हो गया है। उन्होंने आलोचना के तप के रूप में स्वीकार किया। उनकी संहारात्मक समीक्षाओं ने लेखकों को सावधान करके, भाषा को सुव्यवस्थित करके हिन्दी साहित्य की महत्ता और

इयत्ता को उन्नत करने की भूमिका प्रस्तुत की, साहित्यिक जगत में जागृति उत्पन्न की, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर माननीय ठोस ग्रंथों की रचना हो सकी।' (महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ. 142)

यहाँ उदयभानु सिंह ने संकेत में आचार्य द्विवेदी के प्रदेय को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत कर दिया है। तात्पर्य यह है कि बदलते हुए समय एवं परिवेश के अनुसार विद्वानों के चिंतन में परिवर्तन होते गये एवं आचार्य द्विवेदी के संबंध में उन विद्वानों की धारणाएँ विकासोन्मुख होती गयीं'।

आचार्य द्विवेदी के महासागरीय व्यक्तित्व के गोताखोर आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण के व्यापक परिप्रेक्ष्य में द्विवेदी जी का मूल्यांकन किया। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि छायावादी साहित्य द्विवेदी युग के प्रति विद्रोह का साहित्य नहीं, बल्कि द्विवेदी जी के ही कार्य की अगली कड़ी है। उन्होंने लिखा है- 'द्विवेदी जी की युगांतरकारी भूमिका यह है कि उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से अनेक समस्याओं का विवेचन गहराई से किया।' (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ. 18)

हिन्दी आलोचना के विकास में द्विवेदी जी की सामाजिक चेतना की तुलना, उन्नीसवीं सदी के पाश्चात्य प्रगतिशील विचारकों से करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं- 'महावीरप्रसाद द्विवेदी की सामाजिक चेतना की तुलना 19वीं सदी के पाश्चात्य प्रगतिशील प्रचारकों की सामाजिक चेतना से की जाए तो देखा जाएगा कि बीसवीं सदी का आरंभ होते-होते हिन्दी बुद्धिजीवियों की सामाजिक चेतना तेजी से बदल रही है और पूर्ववर्ती पाश्चात्य विचारकों की चेतना के समानान्तर आगे बढ़ रही है। यही कारण है कि इतिहास और समाजशास्त्र के विवेचन में द्विवेदी जी की विचारधारा इतनी आधुनिक और वैज्ञानिक दिखाई देती है और दार्शनिक विषयों का विवेचन वह नवीन बुद्धिवादी तार्किक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। यह स्थिति दर्शन और इतिहास के क्षेत्र में ही नहीं है, इनके साथ साहित्य के क्षेत्र में भी वही चेतना सक्रिय है।' (वही पृ. 277)

कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ. रामविलास शर्मा की इन पंक्तियों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का पूरा जीवन-दर्शन समाया हुआ है। दर्शन, इतिहास, समाज एवं साहित्य के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपूर्ण अवदान को उपर्युक्त पंक्तियों में बड़ी ही गंभीरता के साथ डॉ. रामविलास शर्मा ने

प्रस्तुत कर दिया है।

'निराला' जी ने युग-निर्माता के रूप में आचार्य द्विवेदी का मूल्यांकन करते हुए लिखा है- 'खड़ीबोली के घर को साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मंत्र पाठ द्वारा देश के नवयुवक समुदाय को एक अत्यन्त शुभ मुहूर्त में आमंत्रित किया और इस घट में कविता की प्राण प्रतिष्ठा की।' (हिन्दी आलोचना के सौ बरस-1, सं. अरविंद त्रिपाठी, पृ. 12)

डॉ. नामवर सिंह ने उन्हें एक 'लोक समीक्षक' के रूप में से प्रतिष्ठित किया है। अरविंद त्रिपाठी द्विवेदी जी के व्यापक साहित्यिक क्षितिज का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं- 'द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना के मानदण्डों में शुद्ध साहित्य की खोज की जगह भारतीय जनमानस की कराह को सुनने की कोशिश की। जो लोग द्विवेदी जी को घोर परंपरावादी, नैतिक संकीर्णता के आग्रही और सवर्ण मानसिकता के पक्षधर मानते हैं उन्हें महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि के साथ उनके विशाल साहित्य की संचित जलराशि में अवगाहन करना चाहिए, जहाँ उनके साहित्य के विशाल हृदय के कपाट खुले पड़े हैं।'

(आलोचना के सौ बरस-1, सदी की आलोचना को देखना, संपादकीय से)

प्रो. रामचंद्र तिवारी लिखते हैं- 'प्राचीनता से उचित का ग्रहण और अनुचित का त्याग, नवीनता से विवेकपूर्ण स्वीकृति, शास्त्र के स्थितिशील तत्वों की उपेक्षा, समाज संस्कार को महत्त्व, उपयोगिता सौद्देश्यता, सदाशयता, स्वाभाविकता, सरसता और प्रभावोत्पादन की क्षमता को काव्य के आवश्यक तत्वों के रूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह आदि की मूलभूत मान्यताएँ हैं जिन पर द्विवेदी जी की आलोचना आधृत है।'

(आलोचना के सौ बरस-1, सं. अरविंद त्रिपाठी, पृ. 6)

सारांश यह है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ज्ञान राशि के जिस संचित कोष को साहित्य कहा है, उस कोष के निर्माण के प्रयत्न में वे आजीवन लगे रहे, इसीलिए वे हिन्दी नवजागरण के वास्तविक पुरोधा के हकदार भी हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में चित्रित समसामयिक समस्याएँ

डॉ. दोड्डा शेषु बाबु

महावीरप्रसाद द्विवेदी जी हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ रचनाकारों में अग्रगण्य माने जाते हैं। वे केवल कविता, कहानी तथा निबंध ही नहीं बल्कि साहित्य से संबंधित अनेक विधाओं में हिंदी साहित्य की सेवा की है। रेलवे में काम करने के कारण द्विवेदी जी भारतीय जनमानस की सामाजिक स्थिति को बखूबी जानने का अवसर मिला है। भारत के साथ-साथ विश्वस्तरीय समस्याओं को विश्लेषणात्मक ढंग से विभिन्न प्रकार की रचनाओं के माध्यम से जनता के सामने रखने का प्रयत्न भी किया है। द्विवेदी जी की विशिष्ट रचनाशैली में निबंध कला भी एक महत्त्वपूर्ण विधा है। वास्तव में निबंध एक प्रकार से वैज्ञानिक और आधुनिक कला है। इसी कारण द्विवेदी जी ने निबंधों को अपने विचार प्रकट करने का एकमात्र साधन माना है। सरस्वती पत्रिका के संपादक बनने के बाद इन निबंधों के माध्यम से द्विवेदी जी ने अनेक समस्याओं को जनता के सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

निबंध मानवीय विचारों को सरल एवं वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने वाला एक सशक्त माध्यम है। शिक्षित और अशिक्षित लोगों को भी निबंध के माध्यम से किसी भी विषय पर विश्लेषणात्मक ढंग से अवगत करा सकते हैं। इसी कारण निबंध कला को एक आधुनिक कला माना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचार चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ संबंधसूत्र की टेढ़ी-टेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न

लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती है। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास। पृष्ठ 300, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2014) सच्चाई की बात यह है कि निबंध अपने मन की प्रवृत्तियों को अपनी इच्छा की भाषा शैली में सामाजिक गति के अनुसार प्रस्तुत करता है। निबंधकार को तथाकथित साहित्यिक नियमों और रीतियों का यथारूप अनुपालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह इस संदर्भ में सर्वदा स्वतंत्र होता है। वह अपनी निबंध कलाकृति को अपने विचारों के अनुसार आविष्कार कर सकता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का नाम भी इसी पक्ष में विशेष रूप से लिया जाता है। द्विवेदी जी ने आधुनिक समाज की आवश्यकता एवं साहित्य की विचार पद्धति में विशेष प्रकार की तब्दीली लाने की चेष्टा की है। साहित्यिक भाषा को सरल बना कर वैज्ञानिक रूप में जनता के समक्ष रखा है। इसलिए समसामयिक तथ्य इनके निबंधों में छलकते हैं। इस संदर्भ में डॉ. नगेंद्र लिखते हैं कि 'द्विवेदी जी ने पांडित्य अर्जित किया है, किंतु मनुष्यता भी उसमें कम नहीं है, फलस्वरूप पांडित्य को सहजता की ओर ले जाना उनका स्वभाव है। इतिहास, पुराण, साहित्य आदि से गंभीर से गंभीर तत्य उठाते हुए, वे प्राय: उन्हें समसामयिकता से जोड़ देते हैं। अत: उनके निबंध न तो गंभीरता का तेवर छोड़ते हैं और न सहजता का बाना' (डॉ. नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 758, डॉ. नगेन्द्र, हरदयाल, मयूरी पेपरबैक्स, इंदिरापुरम) द्विवेदी जी के निबंधों को लेकर चर्चा करते समय हमें यह बात साफ दिखती है कि इनके निबंध सामाजिक, समसामयिक एवं वैज्ञानिक है। इनके निबंधों में अक्सर आधुनिक सोच के स्वर मुखर होते हैं। यह मुखरित स्वर चाहे स्त्री विकास के संदर्भ में हो, किसानों की प्रगति के संदर्भ में हो, विश्व बंधुत्व की नीति के संदर्भ में हो या वैयक्तिक विकास के संदर्भ में हो। इसी कारण द्विवेदी जी के निबंध साहित्यिक मूल्यों के साथ-साथ सामाजिक दायित्व को भी प्रतिस्थापित करते हैं। द्विवेदी जी हमेशा वैयक्तिकता के स्थान पर समूह की बात करते हैं। वैयक्तिक विकास में कामयाबी के स्थान पर सामूहिक कामयाबी की चर्चा करते हैं। इसलिए इनके साहित्य में हमेशा 'वसुधैवकुटुंबकम्' या भाईचारे की स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इनके निबंध 'समस्या' में आनंद का

बँटवारा या संपत्ति का बँटवारा आदि विषयों को लेकर स्पष्ट रूप से हमें अवगत कराने की चेष्टा की गयी है। द्विवेदी जी लिखते हैं-'इस संबंध में संसार के कुछ देशों में जो शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें इस बात को भले प्रकार समझ लेना चाहिए कि केवल बाहरी अवस्थाओं के परिवर्तन से ही हम संसार को उसके उपयुक्त स्थान पर नहीं बिठा सकते। निस्संदेह उसकी बाहरी अवस्थाओं में भी परिवर्तनों की आवश्यकता है, संपत्ति के समुचित विभाजन, सभी श्रेणी के मनुष्यों को जीवन में समान अवसर आदि बातों में परिवर्तन होने चाहिए।' (समस्या, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृष्ठ. 195, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016)

इतना ही नहीं वह आगे जाकर कहते हैं कि 'उनके लिए हमें लोगों की नई नैतिक भावनाओं का भी संस्कार करना पड़ेगा, हमें उन्हें अधिक बलवान और प्रभावशाली बनाना होगा।' (उपरिवत)

द्विवेदी जी की यह बातें हर समाज के लिए लागू होती हैं। भूमंडलीकरण और उदारीकरण के संदर्भ में स्वदेशी प्रेम, आदि को लेकर चर्चा करना आज की आवश्यकता भी है। अमेरिका जैसे देश आज 'अमेरिका फर्स्ट'(America first)जैसे नारों के संदर्भ में द्विवेदी जी की बातें महत्त्वपूर्ण बनती हैं। असल में द्विवेदी जी स्वदेशी प्रेम का विरोध नहीं करते। लेकिन स्वदेशी प्रेम के नाम से होने वाली विकृत कीड़ा का विरोध करते और वसुदैवकुटुंबकम् की बात पर बल देते हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं 'संसार में आजकल जो चारों ओर घोर हाहाकार सुनाई दे रहा है उसका मूल कारण है यही स्वदेश प्रेम। अतएव जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी राष्ट्रीयता का संपूर्ण विवरण नहीं कर देता तब तक न तो संसार के कल्याण की आशा है और न किसी देश विशेष का ही सच्चा उत्थान हो सकता है। स्वदेश प्रेम से मनुष्य के हृदय में एक मिथ्या अहंकार का उदय होता है। उसकी बुद्धि संकुचित हो जाती है। यहाँ तक कि उसके प्रत्येक कार्य में, उसकी प्रत्येक इच्छा में एक घृणित स्वार्थ की दुर्गंध आने लगती है' (वहीं 196, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) इतना ही नहीं पूँजीवादी देशों की आक्रामकता एवं साम्राज्यवादी नीति पर भी द्विवेदी जी ने प्रहार किया है। पाश्चात्य देशों की साम्राज्यवादी नीति के कारण गरीब देश सभी प्रकार की सुविधाओं से वंचित रहे हैं। गरीब देशों को अपने अधीन में रखने के लिए पूँजीवादी देश साम, दाम, दंड

का प्रयोग भी करते हैं। इसी बात को द्विवेदी जी अपने शब्दों में लिखते हैं कि 'जिन गरीबों के देश में वह खान निकलती है वह बेचारे पूँजी, शिक्षा तथा सैनिक सामर्थ्य के अभाव से मुँह ताकते रह जाते हैं। भाग्य की कैसी दारुण विडंबना है। अर्थ लोलुपता की इसी प्रतिद्वंद्विता के कारण इन लोगों में कभी-कभी मनोमालिन्य और कभी-कभी मुठभेड़ तक हो जाती है' (वही 198) स्पष्ट बात यह है कि तीसरी दुनिया के देशों में गरीबी का प्रधान कारण है अशिक्षा। इसी अशिक्षा के कारण ये देश अपने देश के संसाधनों को ठीक से इस्तेमाल नहीं कर पाते हैं। पाश्चात्य देशों में तकनीकी या वैज्ञानिक प्रगति होने पर भी गरीब देशों के साथ उस प्रगति से संबंधित विज्ञान का बँटवारा करने के लिए तैयार नहीं होते हैं। इसका मुख्य कारण है साम्राज्यवादी मानसिकता। यह साम्राज्यवादी मानसिकता ने तीसरी दुनिया के देशों की संपत्ति को लूटना अपना हक मानती है। उपनिवेशवाद के स्थान पर आज ग्लोबलाइजेशन या उदारीकरण की नीति आकर साम्राज्यवादी विचारधारा को और मजबूत कर दिया है। तीसरी दुनिया के देश भौतिक रूप से सर्व स्वतंत्र तो है लेकिन आर्थिक रूप में परतंत्र हैं। साम्राज्यवादी देशों का मुख्य लक्ष्य है गरीब देशों को अपने अधीन में रखना तथा गरीब देशों के संसाधन पर अधिकार चलाना। इस प्रकार की मानसिकता पर द्विवेदी जी अपनी राय प्रकट करते हुए लिखते हैं कि 'पाश्चात्य देशों के अधिकांश लोगों में यह भावना समाया हुआ है कि श्वेतांगों को काले रंगवालों पर राज करने का सहज और स्वाभाविक स्वत्व प्राप्त है।' (वही पृ. 197) इसी कारण द्विवेदी जी पूरे विश्व में भ्रातृत्व की भावना को बढ़ाने के पक्ष में रहकर साम्राज्यवादी शक्तियों के विरोध में आवाज उठायी है।

द्विवेदी जी के निबंध विश्वस्तरीय विचारों से भी ज्यादा इस देश की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। वास्तव में द्विवेदी जी सच्चे देशभक्त थे। इसी कारण देश की प्रगति के पक्ष में रहकर वे हमेशा चर्चा करते थे। जिस प्रकार प्रमुख तेलुगु साहित्यकार गुरजाडा अप्पाराव ने 'देश का मतलब मिट्टी नहीं है देश का मतलब मनुष्य है' कहा है, उसी प्रकार द्विवेदी जी भी देश के संदर्भ में जनता के जीवन से संबंधित विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। देश भक्ति का अर्थ है देश की प्रगति में भागीदार बनना और पीड़ित जनता के साथ रहकर उनके विकास के लिए काम करना। इसी भावना के संदर्भ में द्विवेदी जी लिखते हैं कि

'नगर, कस्बे, गाँव, पेड़, पहाड़, जंगल, नदियाँ या तालाब, मकान, मंदिर, मस्जिद आदि का समूह ही देश नहीं। ये सब देश के अंतर्गत हैं अवश्य, पर 'देश' के साथ जिस भक्ति का ग्रंथी बंधन हुआ है उस भक्ति का संबंध एकमात्र इन्हीं से नहीं है। इस भक्ति और इस हित का संबंध देश में रहने वालों से है, पेड़, पहाड़, नगर और कस्बे आदि से नहीं' (देश की बात, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृष्ठ. 201, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) स्वतंत्रता के पहले हो या स्वतंत्रता के बाद या सन् 1903 का हो या 2020, महाजनी सभ्यता में कोई परिवर्तन नहीं दिखता है। तब भी राजनेता एवं उच्च अधिकारियों की स्थिति में जो श्रेष्ठता थी वह आज भी है। उसी प्रकार किसानों की दयनीय स्थिति में भी कोई परिवर्तन नहीं दिखता है। स्वतंत्रता के बाद हुई प्रगति के संदर्भ में यह बहुत बड़ी विडंबना है। उस समय भी कर्ज में फँसकर किसान आत्महत्या करते थे और आज भी नई उदारीकरण नीति के कारण आत्महत्या कर रहे हैं। अर्थात् समय बदला है लेकिन किसानों के जीवन में कोई बदलाव नहीं आया है। इसलिए द्विवेदी जी की बातें सर्वकाल के लिए लागू हो जाती हैं। देश की आबादी में 70 प्रतिशत से ज्यादा रहने वाले किसानों की स्थिति को वह अपने निबंधों के द्वारा दर्शाना चाहते थे। किसानों की प्रगति ही देश की प्रगति मानते थे। किसानों के पक्ष में रहकर आवाज उठाने वालों में उनका लेखन भी एक है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं 'यदि देश भक्ति का अर्थ देश में रहने वालों पर भक्ति करने से है तो देशवासियों में अधिक संख्या किसानों ही की है। परंतु देश की उन्नति के लिए अब तक जो प्रयत्न किया गया है और इस समय जो भी किया जा रहा है उसके कितने अंश का संबंध किसानों से है?' (देश की बात आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृष्ठ. 201, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) द्विवेदी जी किसानों के पक्षपाती है। इसलिए वे किसानों को अन्य सरकारी अधिकारियों के बराबर सम्मान मिलने की माँग करते हैं। जिस प्रकार राजनेता तथा अधिकारियों के बिना देश आगे नहीं जा सकता उसी प्रकार किसानों के बिना भी देश की प्रगति नहीं हो सकती। देश की भूख को मिटाने वाले ही किसान हैं। इसलिए इन किसानों के पक्ष में रहकर आवाज उठाना उनका फर्ज मानते हैं। इस बात पर वे लिखते हैं 'जिस अन्न के बिना कंगाल से चक्रवर्ती राजा तक का काम

नहीं चल सकता उसके उत्पादक किसानों की संख्या जिस देश में कुल आबादी की 3/4 हो उनकी उन्नति की कुछ भी चेष्टा न करके देश भक्ति और देश प्रेम का नाम लेना इन शब्दों की विडंबना करना है।' (देश की बात, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृष्ठ. 202, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) इसलिए किसानों को भी अपने कल्याण के लिए आवाज उठाना चाहिए और आंदोलन के रास्ते के साथ-साथ सत्ता में भी शामिल होना चाहिए। इस संदर्भ में द्विवेदी जी किसान संगठनों की आवश्यकता को भी महसूस करते हैं। किसानों की तरफ से जितने भी नेता कौंसिल में प्रवेश लेते थे उनसे कोई उम्मीद नहीं रही। द्विवेदी जी लिखते हैं कि 'कौंसिल में किसानों के जो प्रतिनिधि पहले से थे उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया। नए कौंसिल में जो लोग प्रतिनिधि बनकर गए हैं उनसे भी विशेष आशा नहीं।' (किसानों का संगठन, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृष्ठ. 219, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) इसलिए वे किसानों की समस्याओं पर सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिए किसान संगठनों की आवश्यकता मानते हैं। किसानों को स्वयं निर्णय लेने के लिए कहते हैं। वे कहते हैं 'इन सारे दुख-दर्द को दूर करने का सबसे अच्छा इलाज है किसानों का संगठन। जमींदार और ताल्लुकेदार शिक्षित हैं, श्रीमान हैं और शक्तिमान भी हैं। उन्हें संगठन की इतनी जरूरत न थी पर उन्होंने भी सूबे अवध और सूबे आगरा दोनों में ही अपना संगठन कर लिया है। इसी संगठन के कारण अवध के कानून-लगान में वे लोग बहुत कुछ अपनी मनमानी तरमीम करा सके हैं।' (किसान संगठन, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृ. 220, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) वास्तव में द्विवेदी जी मानवीय संस्कारों के पक्ष में रहकर आधुनिक भारत का सपना देखते थे। नवीन सोच और नवीन जीवन शैली को भारत में देखना चाहते थे। इसलिए तथाकथित या परंपरागत विचारों में समयानुसार परिवर्तन चाहते थे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने किसानों की समस्याओं के साथ-साथ इस देश के अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अंधविश्वासों से पीड़ित स्त्रियों के पक्ष में भी आवाज उठायी हैं। वास्तव में द्विवेदी जी इस देश की संस्कृति के प्रति

अत्यंत श्रद्धा तथा भक्ति की भावना रखते थे। लेकिन संस्कृति के नाम पर अंधविश्वासों से भरे रीति-रिवाजों का विरोध करते थे। स्त्रियों के विकास में देश का विकास देखने वालों में वे भी एक हैं। स्त्रियों के कल्याण के संदर्भ में द्विवेदी जी का कहना है कि 'स्त्रियाँ स्वभाव ही से सुकुमार होती है। वह स्वभाव ही से दुर्बल होती है। उनकी शारीरिक शक्ति पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम होती है। वह अपनी रक्षा आप नहीं कर सकती। इस दशा में यदि धर्म शास्त्र ने उन्हें पिता-पुत्र या पति के वश में रहने का नियम कर दिया तो क्या गजब किया? सबल के अधीन रहने ही से दुर्बल का कल्याण हो सकता है। उसकी रक्षा हो सकती है उसे सुख और शांति मिल सकती है।' (स्त्रियों का सामाजिक जीवन, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृ. 206, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) स्त्रियों के विकास के संदर्भ में बहुत लोग मनु के द्वारा बताए गए अनेक वचनों का विरोध करते हैं इसमें मुख्य है। 'बल्ये पितुर्वशो तिष्ठत् पाणीग्राहस्य यौवने।/ पुत्रणाम भतरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतंत्रताम्।।/ बालया वा युवत्या वा वृद्धता वापी योषिता/न स्वातंत्रैण कर्तव्यम किंचित् कार्यं गृहेष्वपि।।' (स्त्रियों का सामाजिक जीवन, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृ. 205, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) लेकिन महावीरप्रसाद जी इस श्लोक में स्त्रियों के प्रति मनु की दृष्टि को सकारात्मक रूप से देखते हैं। भारत हजारों साल से अनेक बाहर के राजाओं के कब्जे में रहने के कारण यहाँ कि स्त्रियों की सुरक्षा पहले से ही खतरे में है। इसलिए उन्होंने स्त्रियों के पक्ष में रहकर मनु की बात को सकारात्मक रूप से स्वीकार किया है। इसी भय से मुस्लिम शासकों के आगमन के बाद भारत में स्त्रियों को घर तक ही सीमित किया गया है। बाल्य विवाह कराने के लिए भी मजबूर किया है। इसी कारणवश द्विवेदी जी स्त्रियों के पक्ष में रहते हुए हिंदू धर्मशास्त्रों का भी अनुपालन करते हैं। वह स्त्रियों को पुरुषों के बराबर मानते हैं। लेकिन उनके शारीरिक स्वभाव के कारण उन्हें हमेशा अपने परिवार के लोगों की छत्रछाया में रहना उचित मानते हैं। इसलिए मनु के श्लोक 'यत्र नार्यस्तुपूज्यंते रमंते तत्र देवता' तथा तुलसीदास के वचन 'ढोल, गँवार, शुद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।।' पर भी बल देते हैं। द्विवेदी जी के निबंधों को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट होता है कि

वे दलित, स्त्री, पशुओं के संदर्भ में सहानुभूति रखते हैं। उन लोगों की भलाई की बात करते हैं। इसी सिलसिले में स्त्री शिक्षा पर वह जोर देते हैं और देश की प्रगति के लिए स्त्रियों का शिक्षित होना आवश्यक मानते हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं कि 'स्त्रियों के शिक्षित होने से घर में सुव्यवस्था, स्निग्धता, सरलता और सुंदरता का आविर्भाव होगा, अतएव घर में पैर रखते ही पति, बंधु, पुत्र, बाँधव और अतिथि आदि का हृदय शीतल होगा, दुख को भूल जाएगा, म्लानता दूर हो जाएगी और एक अनिर्वचनीय सुख का अनुभव होगा। सुगृहिणी मरुस्थल को भी नंदनवन बना सकती है। अतएव आप नंदनवन में विहार करना चाहे तो अपनी बालिकाओं की शिक्षा का यथाशक्ति समुचित प्रबंध करें। क्योंकि यही बालिकाएँ किसी दिन गृहिणी और माताएँ होंगी।' (स्त्रियों का सामाजिक जीवन, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, सं. विनोद तिवारी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के श्रेष्ठ निबंध, पृष्ठ. 212, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 2016) अत: स्पष्ट बात यह है कि द्विवेदी जी के निबंध समसामयिक समस्याओं को सही ढंग से समाज के सामने रखने में सफल हुए हैं। द्विवेदी जी केवल एक साहित्यकार ही नहीं सामाजिक वैज्ञानिक भी हैं। अत: द्विवेदी जी के निबंध समसामयिक मानवीय संबंधों को प्रतिस्थापित करने के पक्ष में रहकर प्रगति की दिशा व दशा का निर्देशन करते हैं।

हिन्दी भाषा-साहित्य के भीष्म पितामह : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

डॉ. शिवमंगल कुमार

यह वास्तविक बात है कि सच्चे, दृढ़ प्रतिज्ञ और महान लोगों तथा अच्छी पुस्तकों को शीघ्र समझ पाना बड़ा ही कठिन है। समझने के लिए उन्हें बारंबार पढ़ना पड़ता है। ऐसे महापुरुषों के बारे में संस्कृत का यह श्लोक काफी प्रसिद्ध है-

वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।

अर्थात् बाहर से वज्र के समान कठोर दिखने वाले महापुरुषों का अन्त:करण पुष्प सदृश कोमल होता है। ऐसे लोकोत्तर अन्त:करण को कौन समझ सकता है? स्पष्ट है कि ऐसे महान पुरुषों और उनके कार्यों को समझने के लिए सर्वप्रथम परदु:खकातर होना पड़ता है, दूसरों की मंगलकामना हेतु स्वयं को तपाना पड़ता है। कुछ इसी तरह का व्यक्तित्व भीष्म पितामह का है। भीष्म पितामह का अर्थ है - महाभारत के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्रों में से एक, हर तरह की शस्त्र और शास्त्र विद्या के ज्ञानी, पिता शांतनु की खुशी के लिए आजीवन ब्रह्मचारी रहने की भीषण प्रतिज्ञा करने वाला तथा हस्तिनापुर के कल्याण हेतु आजीवन संरक्षक की भूमिका निभाने वाला। अन्य अर्थों में भीष्म शब्द भयानक रस यानी साहित्य भी, शिव भी और धर्ममार्ग पर चलने वाला ऋषि भी है। अब प्रश्न उठता है कि क्या आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को आधुनिक हिन्दी भाषा-साहित्य का भीष्म पितामह कहना उचित रहेगा? हिन्दी के संवर्धन-संरक्षण में उनकी क्या भूमिका है? भीष्म पितामह तो शस्त्र और शास्त्र विद्या के ज्ञानी थे, क्या द्विवेदी जी भी ऐसे थे? यदि शास्त्र ज्ञानी थे तो अपनी ज्ञान-गंगा से किन लोगों का परिमार्जन किया? महापुरुषों को

तो यह संसार युग-निर्माता की संज्ञा देता है, द्विवेदी जी को किस आधार पर युग-नियामक कहा जाए? इन्हीं प्रश्नों के आलोक में विषय को स्पष्ट किया जा सकता है।

वस्तुत: महावीरप्रसाद द्विवेदी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न ऐसे प्रथम लेखक थे, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा के लिए जो भीष्म प्रतिज्ञा धारण की थी, आजीवन उसी के प्रति वचनबद्ध रहे। वे अपने समय के हिन्दी समाज-संस्कृति, हिन्दी भाषा और साहित्य की अत्यंत ही नाजुक एवं कष्टप्रद परिस्थितियों, उनकी समस्याओं की गहन पड़ताल कर रहे थे और भविष्य की संभावनाओं पर भी विचार कर रहे थे। यही कारण है कि वे हिन्दी के संवर्धक-संरक्षक बन सकें। द्विवेदी जी ने जहाँ एक ओर अपनी कुशल सर्जनात्मक शक्ति से खड़ी बोली हिन्दी को परिनिष्ठित रूप प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर उसे गद्य और पद्य की भाषा बनाने का दु:साध्य एवं सफल प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दी काव्य को साहित्य की सीमित परिधि से बाहर निकालकर सहृदय पाठकों को वृहद हिन्दी समाज में रुचि लेने, उसके विषय में चिंतन-मनन करने तथा उसकी वर्तमान दशा पर विचार-विमर्श करने के लिए साहित्येतर विषयों, जैसे अर्थशास्त्र, इतिहास, भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन, जीवनी, विज्ञान आदि के ज्ञान से परिचित होने के लिए प्रोत्साहित किया और स्वयं प्रेरक रूप में एक मिसाल कायम की। साहित्येतर विषयों पर उनके द्वारा रचित कतिपय लेख, निबंध और पुस्तकें इस बात के प्रमाण हैं। इसके अलावा उन्होंने विविध प्रकार के मानक ग्रंथों का अनुवाद भी किया, जैसे -अंग्रेजी में लार्ड बेकन के 'निबंध' का अनुवाद 'बेकन विचार-रत्नावली', हर्बर्ट स्पेंसर की कृति 'एज्युकेशन' का अनुवाद 'शिक्षा' और जॉन स्टुअर्ट मिल की प्रसिद्ध पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद 'स्वाधीनता' नाम से किया। इसी तरह संस्कृत से कालिदास कृत 'रघुवंशम्', कुमारसंभवम्' और 'मेघदूतम्' का, भट्टनारायण कृत 'वेणीसंहार' का तथा भारवी के 'किरातार्जुनीयम्' का गद्यानुवाद किया।

आलोचना के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यद्यपि यह बात पुरजोर तरीके से स्थापित कर दी थी कि चूँकि शास्त्रीय सिद्धांत परिवर्तनशील है, इसलिए उनका देशकाल के अनुरूप पुनराख्यान होना चाहिए तथा काव्य का मूल्यांकन सामाजिक चेतना को भी ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि

जिस काव्य-रचना में शास्त्रीय मर्यादा के साथ-साथ समाज-संस्कार की चेतना और देश-भक्ति की भावना विद्यमान हो, उसे ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। आगे चलकर भारतेन्दु मंडल के प्रमुख आलोचकों ने साहित्य को जीवन के साथ संबद्ध करके देखा तथा संयम, मर्यादा और सदाचरण पर बल दिया। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए महावीरप्रसाद द्विवेदी ने समाज-संस्कार को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना। उन्होंने 1901 से लेकर 1927 तक 'कविता' और 'कवि-कर्त्तव्य' पर लेख लिखा तथा यह सूत्र प्रतिपादित किया कि काव्य में अन्य भावों के उद्बोधन और मानव-चरित्र के उन्नयन की शक्ति होनी चाहिए। इसी सूत्र की कसौटी पर किसी भी रचना के गुण-दोषों का सम्यक मूल्यांकन किया। जहाँ भारतेन्दु युग के कवियों में रीतिकालीन समस्यापूर्ति, अलंकार, रीति और नायिका-भेद संबंधी अनुकरण की प्रवृत्ति थी, वही आचार्य द्विवेदी ने उन्हें त्यागने का आह्वान करते हुए कविता का नया स्वरूप निर्मित किया और यह स्वीकार किया कि कविता गद्य और अतुकांत छंदों में भी लिखी जा सकती है, जिसका चरम विकास आगामी युग के कवियों में देखने को मिलता है। उन्होंने कविता की परिभाषा और कविता संबंधी अपना सिद्धांत स्थापित कर आगामी कवियों का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। उनके विचारानुसार जो बात एक असाधरण और निराले ढंग से शब्दों द्वारा इस तरह प्रकट की जाये जिससे सुनने वाले पर कुछ असर पड़े, उसी का नाम कविता है। (महावीरप्रसाद रचनावली, खंड दो, संपा. भरत यायावर, पृ.-59) इसी प्रकार अंत:करण की वृत्तियों के चित्रों का नाम कविता है। (वही, पृ.-59) तथा किकारों के उत्कृष्ट शुद्ध चित्रों का नाम कविता है। (वही, पृ.-62) कविता की परिभाषा करते हुए द्विवेदी जी ने उसके चार प्रमुख तत्त्वों-असाधारण और निराले ढंग के शब्द, कल्पना, प्रकृति पर्यालोचन और मानव स्वभाव का उल्लेख किया है। उन्होंने 'रसज्ञ-रंजन' में एक जगह लिखा है - कवियों का यह काम है कि, वे जिस पात्र अथवा वस्तु का वर्णन करते हैं, उसका रस अपने अंत:करण में लेकर उसे ऐसा शब्द-स्वरूप देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जागृत हो जाता है। (हिन्दी का गद्य-साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, पृ.-471) इससे प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी ने कविता संबंधी जो परिभाषा दी है, उसी को आधार बनाकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूत्र रूप में प्रस्तुत कर दिया है - हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा कहते हैं। हृदय की इसी मुक्ति के लिए मनुष्य

की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस आधार पर आचार्य द्विवेदी को सैद्धांतिक दृष्टि से रसवादी आलोचक माना जा सकता है और यही 'रसवाद' शुक्ल के गम्भीर विचारों का सम्बल पाकर अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच गया है।

दरअसल आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के आलोचना क्षेत्र का आधार अत्यन्त ही व्यापक और विस्तृत है। उनकी आलोचना के महत्त्वपूर्ण मानदंड हैं - प्राचीनता से औचित्य ग्रहण और अनौचित्य का परित्याग, नवीनता की विवेकपूर्ण स्वीकृति, शास्त्र की जड़ मान्यताओं का सर्वथा त्याग, समाज-संस्कार का महत्त्व, काव्य की सोद्देश्यता, सरलता, स्वाभाविकता और प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता आदि। इन्हीं मानदंडों के आधार पर उन्होंने मिश्र बंधुओं के 'हिन्दीनवरत्न', भारतेन्दु युग के साहित्यकारों और मैथिलीशरण गुप्त की प्रसिद्ध कृति 'भारतभारती' की समालोचना की। अत: कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी केवल साहित्य मात्रा नहीं, अपितु शास्त्रीय ज्ञान के अक्षय भंडार हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है - द्विवेदी जी का गद्य साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्य का ज्ञान-कांड है। जो साहित्यकार स्वत: स्फूर्त भावोद्गारों से संतुष्ट नहीं हो जाते, उनके लिए यह ज्ञान-कांड सदा महत्त्वपूर्ण रहेगा। द्विवेदी जी सबसे पहले राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री हैं। इसका प्रमाण यह है कि उनकी जो एकमात्र बड़ी पुस्तक है, वह राजनीति और अर्थशास्त्र की पुस्तक 'सम्पत्तिशास्त्र' है। भारत के संदर्भ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की वैसी आलोचना उस समय तक अंग्रेजी में भी प्रकाशित नहीं थी। हिन्दी में अब भी उसके टक्कर की दूसरी पुस्तक नहीं है। (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ.-381) निस्संदेह आचार्य द्विवेदी शास्त्र-ज्ञान सम्पन्न, समृद्ध और उदार आलोचक थे। लेकिन इसका मतलब यह नहीं निकाल लेना चाहिए कि वे सभी शास्त्रीय नियमों पर आँख मूँदकर विश्वास कर लेते थे और उन्हें अपना लेते थे। वे तो शास्त्र की पेचीदगी को अस्वीकार करते थे, जैसे- काव्य-क्षेत्र में पिंगलशास्त्र के नियमों को अनावश्यक मानना। यही कारण है कि उन्होंने अपनी कृति 'रसज्ञ-रंजन' में विचार प्रकट किया है कि पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं, उनमें जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। (हिन्दी का गद्य-साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, पृ.-472)

इसी प्रकार नाट्य-सर्जना हेतु प्राचीन नाट्यशास्त्र के जटिल नियमों को अस्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है - हमारा यह मत है कि हिन्दी में नाटक लिखने वालों के लिए इन सब भेदों का विचार करना आवश्यक नहीं। ... इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि नाट्यशास्त्र के आचार्यों में हमारी श्रद्धा नहीं है। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये सब जटिल नियम उस समय के लिए थे, जिस समय भरत और धनंजय आदि ने अपने ग्रंथ लिखे हैं। (महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डॉ. उदयभानु सिंह, पृ.-119) इससे प्रमाणित हो जाता है कि द्विवेदी जी के विचार कितने उदार एवं स्पष्ट हैं। अपनी इसी उदारता एवं स्पष्टवादिता के कारण उन्होंने पाश्चात्य आलोचना जगत् से भी अनिवार्य और काम की चीजों को अपनाया तथा साहित्य के प्रति अपना दृढ़ मत रखा।

वस्तुतः महावीरप्रसाद द्विवेदी का विराट और युगान्तकारी व्यक्तित्व केवल कविता, कहानी, आलोचना, अनुवाद और जीवनी आदि से निर्मित नहीं हुआ था, बल्कि अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, विज्ञान आदि से बना था। इन साहित्येतर विषयों को उन्होंने साहित्य की परिधि में शामिल कर साहित्य वृत्त को और व्यापक एवं विस्तृत बना दिया। ज्ञान-विज्ञान के इन बहुविध विषयों के आधार पर ही वे भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों, रूढ़ियों, अंधिवश्वासों, साम्प्रदायिक विद्वेषों तथा राष्ट्र की दयनीय दशा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द कर सके थे। भारतीय जनमानस में स्वाधीनता, स्वदेशी और स्वावलंबन का भाव भरकर उनकी सुषुप्त चेतना को आन्दोलित किया था। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है - द्विवेदी जी ने समाजशास्त्र और इतिहास के बारे में जो कुछ भी लिखा है, उससे समाज विज्ञान और इतिहास लेखन के विज्ञान की नवीन रूप रेखाएँ निश्चित होती हैं। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का नवीन मूल्यांकन किया। एक ओर उन्होंने इस देश के प्राचीन दर्शन, विज्ञान, साहित्य और संस्कृति के अन्य अंगों पर गर्व करना सिखाया, एशिया के सांस्कृतिक मानचित्र में भारत के गौरवपूर्ण स्थान पर ध्यान केंद्रित किया, दूसरी ओर उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक रूढ़ियों का तीव्र खंडन किया, और उस विवेक परम्परा का उल्लेख सहानुभूतिपूर्वक किया जिसका संबंध चार्वाक और वृहस्पति से जोड़ा जाता है। अध्यात्मवादी मान्यताओं, धर्मशास्त्रों की स्थापनाओं को उन्होंने नई विवेक दृष्टि से परखना सिखाया। (महावीरप्रसाद द्विवेदी और

हिन्दी नवजागरण, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 381-382) इस दृष्टि से महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी नवजागरण के सुधारकाल के श्रेष्ठ योद्धा सिद्ध होते हैं। लेकिन जिस ज्ञान-विज्ञान पर अवलम्बित हिन्दी-समृद्धि का आलोक द्विवेदी जी ने फैलाया था, जिस हिन्दी के संरक्षण व कल्याण के लिए अपना तन-मन-धन सबकुछ न्योछावर कर दिया था, उस हिन्दी की वस्तु-स्थिति के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के 70 वर्षों में उसका आलोक फीका पड़ता चला गया। वह लोगों की नजर में सिर्फ मनोरंजन की भाषा और चंद अंग्रेजी परस्तों की दृष्टि में हीन भाषा बनकर रह गई। आज भी वह ज्ञान-विज्ञान, शासन-प्रशासन, न्यायालय, बैंकिंग आदि की प्रमुख भाषा नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी की ज्ञान-गंगा का वितान साहित्य के इतने सुदूर क्षेत्रों तक फैला हुआ है कि सृष्टि में व्याप्त किसी भी विषय पर सर्जना कर सकने का सामर्थ्य रखते हैं। किंतु इसमें कोई दो राय नहीं कि आचार्य द्विवेदी को 'भीष्म पितामह' बनाया है 'सरस्वती' पत्रिका ने। यदि भीष्म पितामह भारत के इतिहास में गंगा पुत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं, तो आचार्य द्विवेदी भी हिन्दी साहित्य और हिन्दी जनमानस में सरस्वती के सम्पादक रूप में प्रसिद्ध हैं। वे पूर्ण निष्ठा और संकल्प शक्ति के साथ 18 वर्षों; 1903 ई.-1920 ई. तक 'सरस्वती' की अनवरत सेवा में संलग्न रहे। उनकी यह संकल्प शक्ति और कठोर साधना का ही परिणाम है कि सरस्वती अपने जमाने की सर्वोत्कृष्ट पत्रिका के रूप में हिन्दी अवाम की आवाज बनकर उभरी। धुन के धनी, इरादे के पक्के द्विवेदी जी ने जनता की ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने के लिए उसी की भाषा में आधुनिक नूतन ज्ञान की, स्वाधीनता के शान की और भारतीय अस्मिता के पहचान की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित की, कि दूर-दराज के ग्रामवासी भी इस पत्रिका से अछूते नहीं रह सके। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी इस सरस्वती मंदिर में स्वयं का परिष्कार तो किया ही, अनेक साधकों को इस कदर तराशा-माँजा कि कोई कवि रूप में प्रसिद्ध हुआ तो किसी ने कहानीकार, निबंधकार, आलोचक रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। उस समय सरस्वती में लेखकों का छपना बड़ी प्रतिष्ठा की बात थी। ऐसे में साहित्य अभिरुचि सम्पन्न रचनाकार के बारे यह कह पाना बड़ा ही कठिन है कि अमुक की रचनाएँ सरस्वती में नहीं छपीं। संभवत: इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है - उस समय का कोई ऐसा लेखक नहीं

जो बाद में प्रसिद्ध हुआ हो और पहले उसकी रचनाएँ 'सरस्वती' में न छपी हों। प्रसिद्ध हो, चाहे अज्ञात नाम, द्विवेदी जी अपना ध्यान इस बात पर केंद्रित करते थे कि वह लिखता क्या है। इसलिए 'सरस्वती' में रचना छपने का मतलब यह था कि वह एक निश्चित स्तर की है। बहुत से लोग अपने या दूसरों के बारे में प्रशंसात्मक लेख आदि छपवाना चाहते थे, उनका विरोध करने में द्विवेदी जी ने दृढ़ता का परिचय दिया। साथ ही सरस्वती का उपयोग उन्होंने कभी भी व्यक्तिगत ख्याति के लिए नहीं किया। (वही, पृ.-365)

इस तथ्य के आधार पर कहा जा सकता है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से न केवल कुशल एवं दक्ष रचनाकार पैदा किए, बल्कि अपनी ज्ञान-गंगा में सामान्य जन को स्नान भी कराया। इस अर्थ में उनकी भूमिका एक सद्गुरु की है। यही कारण है कि आम जनता और कई रचनाकारों ने उन्हें 'आचार्य' की पदवी से अलंकृत किया। उदाहरण के लिए, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, निराला और पंत सरीखे लेखकों ने द्विवेदी जी के बारे में मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने उनके निर्देशन को स्वीकार करते हुए स्पष्टत: कहा है- आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं के बनाए हुए हैं। ...उन्होंने हमारे लिए पथ भी बनाया और पथ प्रदर्शक का काम भी किया। निराला ने द्विवेदी जी को सर्वश्रेष्ठ संपादक, आलोचक और लेखक बताते हुए लिखा- वह आधुनिक हिन्दी के निर्माता हैं। विधाता हैं। सर्वस्व हैं। वह राष्ट्रभाषा हिन्दी के मूर्तिमान स्वरूप हैं। उन्हें लोग आचार्य कहते हैं-वह सचमुच आचार्य हैं। आधुनिक हिन्दी की उन्नति और विकास का अधिकांश श्रेय उन्हीं आचार्य को है। अत: कहा जा सकता है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी के विद्यापीठ हैं, क्योंकि हिन्दी जगत् के लिए जो काम एक प्रौढ़ और समुन्नत विश्वविद्यालय करता है, वही काम पंडित द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' ने पूरा किया। इन सबके बावजूद कुछ आलोचकों, जैसे कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि की दृष्टि में द्विवेदी जी की ख्याति का आधार सिर्फ 'सरस्वती' का संपादन और भाषा का परिष्कार भर है। आचार्य शुक्ल ने अपनी कृति 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' पंडित द्विवेदी जी के बारे में अपना मंतव्य प्रकट करते हुए लिखा है - ...लिखने की सफलता वे इस बात से मानते थे कि पाठक भी उससे बहुत कुछ समझ जायें। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन

लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नये-नये विचारों की उद्भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबंधों की श्रेणी में दो ही चार लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। ...द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ.-340) कुल मिलाकर आचार्य शुक्ल की दृष्टि में द्विवेदी जी का साहित्य मोटी अक्ल वालों के लिए है और उनका महत्त्व सिर्फ भाषा परिष्कार तक सीमित है। इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के स्पष्टवादिता से भरे हुए और नयी प्रेरणा देने वाले निबंध यद्यपि बहुत गंभीर नहीं कहे जा सकते, परंतु उन्होंने गंभीर साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता पहुँचाई। (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ.-231) लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि युगस्रष्टा और भविष्यद्रष्टा द्विवेदी जी का कालखंड विविध क्षेत्रों से ज्ञान-संचय का कालखंड था, ऐसे में विचारों की गंभीरता की आशा कैसे की जा सकती थी?

इधर विगत तीन-चार दशकों से विमर्श-केंद्रित विविध प्रकार की रचनाएँ प्रकाश में आ रही हैं और उनकी खूब समीक्षाएँ भी की जा रही हैं। इस संदर्भ में पूर्व के लेखकों और समीक्षकों के दृष्टिकोणों की जाँच-परख भी हो रही है, लेकिन स्त्री संबंधी आचार्य द्विवेदी की चिंतन-दृष्टि की चर्चा एकाध विद्वानों को छोड़ दें, तो अब तक पूर्ण रूप से नहीं हो सकी है। दरअसल आचार्य द्विवेदी की चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है उनकी स्त्री संबंधी दृष्टि। स्त्री के प्रति पंडित जी अत्यन्त ही उदारमना थे। स्त्री शिक्षा के वे प्रबल समर्थक थे। लड़का हो या लड़की, दोनों के प्रति उनका समत्व और ममत्व भाव प्रशंसनीय था। उन्होंने स्त्री शिक्षा के समर्थन में भी कई लेख लिखा, जैसे - 'स्त्री शिक्षा के विरोधी तर्कों का खंडन', 'गुजरातियों में स्त्री शिक्षा' 'जापान में स्त्री शिक्षा' आदि। द्विवेदी जी ने अपने समय के स्त्री शिक्षा के विरोधियों का कठोर शब्दों में प्रतिवाद करते हुए लिखा - मान लीजिए कि पुराने जमाने में भारत की एक भी स्त्री पढ़ी-लिखी न थी। न सही। उस समय स्त्रियों को पढ़ाने की जरूरत न समझी गई होगी। पर अब तो है। अतएव पढ़ाना चाहिए। हमने सैकड़ों पुराने नियमों, आदेशों और प्रणालियों

को तोड़ दिया है या नहीं? तो, चलिए, स्त्रियों को अनपढ़ रखने की इस पुरानी चाल को भी तोड़ दें। हमारी प्रार्थना तो यह है कि स्त्री शिक्षा के विपक्षियों को क्षण भर के लिए भी इस कल्पना को अपने मन में स्थान न देना चाहिए कि पुराने जमाने में यहाँ की सारी स्त्रियाँ अनपढ़ थी अथवा उन्हें पढ़ने की आज्ञा न थी। जो लोग पुराणों में पढ़ी-लिखी स्त्रियों के हवाले माँगते हैं, उन्हें श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध का त्रेपनवाँ अध्याय पढ़ना चाहिए। उसमें रुक्मिणी-हरण की कथा है। रुक्मिणी ने जो एक लंबा-चौड़ा प्रेम-पत्र एकांत में लिखकर, एक ब्राह्मण के हाथ, श्रीकृष्ण को भेजा था वह तो प्राकृत में न था। (महावीरप्रसाद रचनावली, पृ.-155) इसी प्रकार गुजरात में स्त्री-शिक्षा के प्रचार का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है-पुरुषों के समान इस देश की स्त्रियाँ भी सब प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हैं। उनके लिए केवल अवकाश, अवसर और सुभीते की आवश्यकता है। (वही, पृ.-161) जाहिर है कि द्विवेदी जी में स्त्रियों के प्रति सम्मान की भावना कूट-कूट कर भरी थी। स्त्रियों के प्रति उनकी आदर भावना का ही यह प्रमाण है कि उन्होंने अपनी पत्नी की मृत्यु पश्चात् उनकी स्मृति में अपने मकान के निकट एक मंदिर बनवाया और उन्हें लक्ष्मी एवं सरस्वती की मूर्ति के बीच स्थापित कराया। हालाँकि स्त्रियों की यूरोपीय ढंग की स्वतंत्रता उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं है।

दरअसल आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस बात से भलीभाँति अवगत थे कि जब तक हिन्दी के लिए कोई अच्छा व्याकरण नहीं होगा, तब तक उसका मानक रूप स्थिर नहीं होगा। यही कारण है कि उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन-कार्य ग्रहण करने के तीन वर्ष बाद ही 'हिन्दी भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख लिखा, जो उनके कालखंड में ही निरन्तर विकसित होकर स्थिरता को प्राप्त हो गया। इतना ही नहीं, उनकी प्रेरणा से ही कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी के पहले प्रामाणिक व्याकरण का निर्माण किया। उन्होंने हिन्दी भाषा का उपहास उड़ाने वाले लेखकों, संपादकों से डटकर मुकाबला किया। कविता को ब्रजभाषा की चौखट से खड़ी बोली में लाए। समस्त भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी के सहयोग को स्वीकार करते हुए हिन्दी को व्यापक रूप दिया। परिणाम स्वरूप हिन्दी में एक जातीय शैली का निर्माण हुआ। हिन्दी जनसाधरण की भाषा-साहित्य बन गई। भाषा के संबंध में उनका स्पष्ट कथन है-अपनी माँ को निस्सहाय, निरूपाय और

निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा में रत रहता है, उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु या याज्ञवल्क्य ही कर सकता है। ...समर्थ होकर भी जो मनुष्य अपने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता, वह समाज द्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है कि बहुध वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है। (हिन्दी पत्रकारिता और प्रमुख पत्रकार, डॉ. बी.आर. धर्मेन्द्र, पृ.-191) वास्तव में अपनी मातृभाषा की सेवा ही सच्ची देश सेवा है। यही राष्ट्र की आत्मा है। इसके समाप्त होने का मतलब है सम्पूर्ण सभ्यता-संस्कृति का नाश हो जाना।

समग्रत: हिन्दी भाषा-साहित्य के भीष्म पितामह आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो राष्ट्रीय महल निर्मित किया, भविष्य में वह सदैव अपनी उन्नत ललाट के साथ खड़ा रहेगा और उसी के द्वारा भारतीय संस्कृति का संदेश सम्पूर्ण विश्व में फैलेगा। उसी के द्वारा प्रांतीय ईर्ष्या-द्वेष खत्म होगा। माना कि इसके मार्ग में बाधाएँ अनेक हैं, मगर इरादा नेक हो तो कोई-न-कोई मसीहा अवश्य अवतरित होगा, जो राजनीतिक बयानबाजी की परवाह किए बगैर इसे राष्ट्रभाषा का अमली जामा पहनाएगा, इतनी आशा तो की ही जा सकती है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि एवं सृष्टि

डॉ. बलदेव पाण्डेय

युग-प्रवर्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा-दृष्टि को समझने के लिए यह जरूरी है कि हम उस युग की सामाजिक सांस्कृतिक-पृष्ठभूमि को समझें जिसे युग की चुनौतियों के रूप में स्वीकार करते हुए द्विवेदी जी ने हिंदी आलोचना के विकास में एक नया अध्याय जोड़ा। द्विवेदीयुगीन आलोचना की दो धाराएँ स्पष्टत: दिखलाई पड़ती हैं- अपने समय और समाज की व्यापक चिंतन-धाराओं से जुड़ी चिंतनधारा वाली आलोचना और दूसरी रीतिवाद की पुनर्स्थापना और व्याख्या से संबंधित आलोचना। हिंदी में 'सरस्वती' का प्रकाशन 1900 ई. से आरंभ हुआ और इसके ठीक पच्चीस वर्ष पूर्व 1875 ई. में स्वमी दयानंद सरस्वती के द्वारा 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष आर्यसमाज की स्थापना के साथ उनके द्वारा चलाये जा रहे 'शुद्धि-आंदोलन' ने एक नई गति पकड़ ली। प्रसिद्ध आलोचक मधुरेश कहते हैं- ''दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज का जो आंदोलन शुरू किया था, अपने पुनरुत्थानवादी आग्रह के बावजूद वह एक राष्ट्रीय-सम्मान का प्रतीक था। उसकी पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति उसे अतीत के गौरवगान की ओर ले जाती थी, लेकिन वर्तमान समाज की रूढ़ियों और कुरीतियों के प्रति भी उसकी दृष्टि पर्याप्त खुली थी। नवनिर्मित भारतीय मध्यवर्ग, विशेषतया उत्तर भारतीय समाज, जो अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में बहने लगा था, उसकी इस प्रवृत्ति पर आर्य समाज एक निर्णायक अंकुश लगाने का काम कर रहा था। उसके सामाजिक एजेंडे में यदि स्त्री-शिक्षा का प्रचार, बाल-विवाह का विरोध, मूर्तिपूजा की आलोचना आदि मुद्दे केंद्रीय महत्त्व के थे तो राष्ट्रीय स्तर पर अपने अतीत का गौरवगान, उसकी

गौरवमयी परंपराओं का अतिरंजित बखान और अपने विश्वगुरु होने का अभिमान कहीं न कहीं उसे राष्ट्रीय चेतना और उसके आहत सम्मान से जोड़ते हैं।''(हिंदी आलोचना का विकास- डॉ. मधुरेश, सुमित प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2004, पृ.- 24)

वस्तुतः द्विवेदी-युग गहन आत्मान्वेषण का काल था। इस युग के चिंतकों एवं दार्शनिकों ने जहाँ प्राच्य संस्कृति को खंगाल कर रख दिया वहीं यूरोप के ज्ञान-विज्ञान से भी खुद को रूबरू करने का प्रयास जारी रखा। यही नहीं, पाश्चात्य विद्या के प्रति अतिशय उत्साह रखने वाले और उसकी वकालत करने वाले लोगों के विपक्ष में एक अलग तबका खड़ा हो गया। इसका कारण यह था कि यूरोप की खुली खिड़की ठंडी हवा देने के बजाय कभी-कभी अंधड़ का झोंका भी दे देती थी। उनसे बचने के लिए एक तबके ने प्राचीन धर्म, दर्शन, संस्कृति और वैदिक-साहित्य की ओर रुख किया- ''प्राचीन इतिहास, संस्कृति और धर्म पर जितना चिंतन इस काल में हुआ उतने किसी दूसरे काल में शायद भी कभी हुआ हो। गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा, चंद्रधरशर्मा गुलेरी, काशीप्रसाद जायसवाल, सुधाकर द्विवेदी आदि ने संस्कृति, इतिहास, धर्म, भाषा आदि में अपने मौलिक चिंतन से नई दिशा दी। 'हिंदी-प्रदीप', 'मर्यादा', 'सरस्वती' और उस युग की दूसरी पत्रिकाओं में बड़ी संख्या में ऐसे लेखक दिखाई देते हैं जिनका लोग आज नाम भी नहीं भी नहीं जानते लेकिन वे धर्म और विज्ञान, भारत-विद्या और पाश्चात्य प्रभाव संबंधी विवादों में गहरी हिस्सेदारी कर रहे थे।'' (वही, पृ.-25)

ऐतिहासिक दृष्टि से द्विवेदी-युग संक्रांतिकालीन दौर से गुजर रहा था। वहाँ कई प्रकार के द्वंद्व एक साथ चल रहे थे। भारतेंदु-युग में शुरू हुआ राजभक्ति बनाम देशभक्ति का विवाद अभी भी किसी न किसी रूप में बना हुआ था, यद्यपि स्वतंत्रता आंदोलन में आई गहराई के परिणामस्वरूप यह अंतर्विरोध स्वतः ही शिथिल पड़ने लगा था। दूसरा द्वंद्व रीतिवाद बनाम युगीन संवेदना के बीच चल रहा था। काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के बीच का द्वंद्व अपने उत्कर्ष पर था। इन परिस्थितियों के बीच हिंदी आलोचना अपना रूप सँवार रही थी।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत के विद्वान् थे, इसलिए उन्होंने

आलोचनात्मक लेखन का आरंभ संस्कृत के कवियों और उनकी कृतियों पर विचार करने से ही किया। पुस्तक रूप में उनकी जो आलोचना प्रकाशित हुई वे श्रीहर्ष, विल्हण और कालिदास की कृतियों से संबंधित हैं। ये आलोचनाएँ या तो परिचयात्मक हैं या फिर दोष-दर्शनमूलक। 1903 ई. में उन्होंने 'सरस्वती' के संपादन का कार्य-भार सँभाला। इसके साथ ही 'सरस्वती' एवं अन्य पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले आलोचनात्मक निबंध तथा संपादकीय टिप्पणियों में इनके साहित्य संबंधी विचार प्रकाश में आने लगे। उनके इन विचारों का लेखकों, कवियों, आलोचकों एवं पाठकों पर गहरा असर पड़ा। इनके विचारों की मौलिकता, ताज़गी एवं प्रगतिशीलता से इनके पक्षधर एवं विपक्षी दोनों प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। पहली बार इन्होंने साहित्य को रीतिवादी कसौटी पर कसने के बजाय गैर-साहित्यिक मानदंडों पर कसने की बात कही। वे हिंदी के नवीन साहित्य को देश और समाज की परिस्थितियों से जोड़ना चाहते थे। यही नहीं समीक्षा के नए मानदंड भी देश, समाज एवं युगीन संदर्भों के आधार पर गढ़ना चाहते थे। वे हिंदी के नवीन साहित्य को देश और समाज की नई परिस्थितियों से जोड़ना चाहते थे। इसके लिए इन्होंने कविता सहित आधुनिक हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं के लिए नए मानदण्ड गढ़ने का काम किया। अध्ययन की सुविधा के लिए हम द्विवेदी जी की समीक्षा संबंधी विचारों को निम्न रूपों में रख सकते हैं-

कविता संबंधी विचार- द्विवेदी जी ने हिंदी-कविता को अपनी आलोचना का केंद्रीय विषय बनाया और कविता की भाषा, उसके विषयवस्तु, उसके हेतु और प्रयोजन आदि सभी में युगांतकारी परिवर्तन किये तथा हिंदी समीक्षा को एक नई दृष्टि दी। वे रीति-निरूपण की परंपरा को पूरी तरह ध्वस्त करते हुए एक नई परंपरा का सूत्रपात करना चाहते थे। इसके लिए वे 'नायिका-भेद' शीर्षक निबंध में रीतिकालीन कवियों की कटु आलोचना करते हुए कहते हैं- ''राजाश्रय मिलने की देरी, राजा जी को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनंद चखाने के लिए कवि जी को देरी नहीं। 10 वर्ष की अज्ञात-यौवना से लेकर 50 वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतलाकर और उनके हाव, भाव, विलास आदि की सारी दिनचर्या वर्णन कर के ही कविजन संतोष नहीं करते थे। दुराचार में सुकरता होने के लिए दूती कैसी होनी चाहिए,

मालिन, नाईन, धोबिन इत्यादि में से इस काम के लिए कौन सबसे अधिक प्रवीण होती है, इन बातों का भी वे निर्णय करते थे। नायक के सहायक विट और चेटक आदि का भी वर्णन करने से वे नहीं चूकते थे।'' (रसज्ञ-रंजन, महावीरप्रसाद द्विवेदी, साहित्य रत्न भण्डार आगरा, चतुर्थ संस्करण, 1939, पृ.- 69) द्विवेदी जी द्वारा रीतिकालीन कविता का यह विरोध सामंती काव्य-परंपरा के जन-विरोध के रूप में, एक आंदोलन के रूप में सामने आया जिसमें कालांतर में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक भी शामिल हुए। आचार्य शुक्ल ने लिखा- ''हिंदी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओं-महाराजाओं की काम वासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज की पिचकारी देते थे।''(चिंतामणि, प्रथम भाग, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड आगरा, पृ.- 164) द्विवेदी जी हिंदी कविता को सामंती दायरे से बाहर निकाल कर उसे सामान्य-जन की रुचियों और आवश्यकताओं से जोड़ना चाहते थे। वे 'नायिका-भेद' निबंध में आगे लिखते हैं- ''इस विस्तृत विश्व में ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, वन, निर्झर, नदी, तड़ाग आदि निर्माण किए हैं कि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनंत-काल तक उन सबका वर्णन करते रहें तो भी उनका अंत न हो। फिर हम नहीं जानते, और विषयों को छोड़कर नायिका-भेद सदृश्य अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए।''(महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग-2, संपादक, डॉ. भारत ययावर, किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली, पृ.- 65) नायिका भेद से परे द्विवेदी जी कविता को मनुष्यमात्र तक सीमित न रखकर समस्त चराचर जगत तक उसे विस्तार देना चाहते थे-''नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहने वाली काव्य-दृष्टि की अपेक्षा संपूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करने वाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गंभीर कही जाएगी।''(चिंतामणि, प्रथम भाग, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ.- 156)

सन् 1903 ई. में द्विवेदी जी का एक महत्त्वपूर्ण निबंध 'हिंदी भाषा और उसका साहित्य' प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' में प्रकाशित इस रचना में उन्होंने रीति-निरूपण वाली श्रृंगारिक रचनाओं का विरोध करते हुए उन्होंने

लिखा- ''नायिका-भेद और रस तथा अलंकार के विवेचन से पूरित पुस्तकों की भी इस समय आवश्यकता नहीं। हम यह समझते हैं कि 'जसवंत-जसोभूषण' जैसे ग्रंथों से भाषा को कुछ लाभ नहीं पहुँचा। यदि इन ग्रंथों को बनाने अथवा बनवाने और छापने में जो धन व्यय किया गया वह जीवन-चरित, इतिहास अथवा किसी वैज्ञानिक ग्रंथ के लिए व्यय किया जाता तो भाषा का भी उपकार होता और धन का भी सदव्यय होता।'' (साहित्यालाप (संक्षिप्त संस्करण), महावीरप्रसाद द्विवेदी खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पृ. 40-41) वस्तुत: द्विवेदी जी भाषा के विकास एवं सद्ज्ञान दोनों के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते थे। इस मामले में वे विदेशी भाषाओं से सीखने अथवा अनुकरण करने में भी परहेज नहीं रखते थे। वे इसी निबंध में आगे लिखते हैं- ''इस समय अंग्रेजी का साहित्य अत्यंत उन्नत दशा को प्राप्त है। अतएव हमको चाहिए कि उस भाषा के अच्छे-अच्छे ग्रंथों का अनुवाद कर के हिंदी के साहित्य की दशा को सुधारें। इस समय विज्ञान, इतिहास, यात्रा-वर्णन, जीवन-चरित और समालोचनाओं की हिंदी में बड़ी भारी न्यूनता है। इस न्यूनता को पूरा करना हिंदी बोलने वालों का परम धर्म है।'' (वही पृ.- 41)

द्विवेदी जी के बारे में सामान्य अवधारणा यह है कि वे भाषा के बारे में बिल्कुल शुद्धतावादी दृष्टिकोण रखते थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक का भी यह मानना है कि- ''व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदी जी ही थे।'' (हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ.- 426) वस्तुत: द्विवेदी जी आरंभ से ही जनोन्मुख भाषा के पक्षधर थे वे हिंदी को एक ऐसी संपर्क भाषा के रूप में विकसित करना चाहते थे जो देश के अधिकांश नागरिकों को एकता के सूत्र में जोड़ सके। 'हिंदी की वर्तमान अवस्था' शीर्षक अपने व्यख्यान में वे कहते हैं- ''मैं तो सरल भाषा के लेखक को ही बहुत बड़ा लेखक समझता हूँ लिखने का मतलब औरों पर अपने मन के भाव प्रकट करना है। जिसका मनोभाव जितने अधिक लोग समझ सकेंगे, उसका प्रयत्न और परिश्रम उतना ही अधिक सफल हुआ समझा जाएगा जितने बड़े-बड़े लेखक हो गए हैं प्राय: सभी सीधी-सादी और बहुजन बोधगम्य भाषा के पक्षपाती थे।'' (साहित्यालाप (संक्षिप्त संस्करण), महावीरप्रसाद द्विवेदी खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पृ.- 58) इसी संदर्भ में वे आगे कहते हैं- ''मेरी

राय में शब्द चाहें जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिंदी के शब्द-समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिंदी को कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है। अरबी-फारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ़ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार संभव नहीं।''(वही, पृ.- 58) आमतौर पर यह समझा जाता है कि द्विवेदी जी कठोरतापूर्वक व्याकरण के नियमों के पालन के पक्षपाती थे, लेकिन इसकी पुष्टि न तो उनकी भाषा में होती है और न ही व्याकरण संबंधी उनके विचारों से। वे हमेशा जीवंत भाषा की वकालत करते थे और उनकी दृष्टि में ''दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है।'' (वही- पृ.-102) उन्होंने स्पष्ट कहा है- ''व्याकरण तो वाग्धारा का दास है और उसे तो शिष्ट लेखकों और वक्ताओं की आज्ञा के पालन मात्र का काम सौंपा गया है।'' (वही- पृ.-107) विदेशी भाषाओं के शब्दों और अप्रचलित मुहावरों के बारे में उनकी राय थी कि ''जब तक भ्रम या अज्ञानता के वशवर्ती होकर कुछ ही जन किसी शब्द, वाक्य, मुहावरे आदि को प्रचलित रीति के प्रतिकूल बोलते या लिखते हैं परंतु धीरे-धीरे सैकड़ों मनुष्य उसी तरह लिखने लगते हैं तब वह अप्रयोग नहीं रह जाता, तब तो वह भी साधु प्रयोग हो जाता है।'' (वही- पृ.-107)

द्विवेदी जी के समय भाषा विषयक विवाद अपने उत्कर्ष पर था। भारतेंदु-युग में खड़ीबोली हिंदी में काव्य-लेखन का सूत्रपात तो हो चुका था, किंतु अधिकांश लोगों का मानना था कि गद्य के लिए खड़ीबोली हिंदी को जरूर अपना लिया जाये किंतु कविता के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि द्विवेदी जी ब्रजभाषा ही नहीं किसी भी भारतीय भाषा अथवा देशी जुबान में कविता लिखने विरोध में नहीं थे। उन्होंने स्वयं बैसवाड़ी में कविता लिखी। उन्होंने 'कवि-सम्मेलन' शीर्षक निबंध में लिखा है- ''कविता सभी भाषाओं और सभी बोलियों में हो सकती है। देहात में अपढ़, अशिक्षित और गँवार आदमियों के मुँह से, उसकी बोली में, कविता सुनने को मिलती है। कभी-कभी उनके गीतों में कवित्व की झलक और सुंदर भावों का सम्मिश्रण देख या सुनकर हृदय आनंद से पुलकित हो जाता है। जब सभी भाषाओं और बोलियों में कविता हो सकती है और होती भी है तब

ब्रजभाषा अपवाद नहीं। जिसकी इच्छा हो वह उसी भाषा और बोली में कविता लिखे और ब्रजवासियों ही को प्रसन्न करे। पर जो कवि बोलचाल की हिंदी को व्यापक भाषा समझता होगा और जो यह चाहता होगा कि उसकी रचना बहुसंख्यक लोगों को पढ़ने को मिले और अन्यान्य प्रांतों के निवासी भी उससे लाभ उठावें वह उसी में अपना हृदयोद्गार प्रकट करेगा।'' (वही- पृ.- 68) कविता के भाषा-परिवर्तन के संघर्ष में उन्होंने खड़ीबोली का पक्ष लिया। इसका कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा कि ब्रजभाषा एक पुस्तकीय एवं क्षेत्र विशेष की भाषा बनकर रह गई है जबकि खड़ीबोली 'बोलचाल की भाषा' बन चुकी है। बोलचाल की भाषा में कविता करने की वकालत करते हुए वे कहते हैं- ''बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य होनी चाहिए। कोई कारण नहीं कि हम बोलें एक भाषा में और कविता करें दूसरी भाषा में। बातचीत के समय जो जिस भाषा में अपने विचार प्रकट करता है वह यदि उसी भाषा में कविता में करे तो और भी उत्तम हो। ब्रजभाषा बहुत काल से कविता प्रयुक्त होती आयी है। पर एक अथवा दो जिले की भाषा पर देश भर के निवासियों का प्रेम बहुत दिन तक नहीं रह सकता।'' (वही- पृ.- 41) हिंदी में कविता ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली में हो यह द्विवेदी जी की इच्छा पर निर्भर मात्र नहीं था। यह एक प्रकार से समय की माँग थी कि अब खड़ीबोली में कविता की जाए ताकि अधिक से अधिक लोग हिंदी से जुड़ सकें। द्विवेदी जी ने समय की इस पुकार को समय के साथ सुन लिया और यह घोषणा भर कर दी- ''यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिंदी भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी।'' (रसज्ञ-रंजन पृ.-20) कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी जी की भविष्यवाणी पूर्णतः सत्य सिद्ध हुई।

काव्य-भाषा के रूप में द्विवेदी जी अतिशय जटिल और अलंकृत भाषा के विरोधी थे। उनका मानना था कि ''जिस काव्य का भावार्थ कठिनता से समझ में आता है, उसके आकलन में जी नहीं लगता और बराबर अर्थ का विचार करते-करते उससे विरक्ति हो जाती है।''(रसज्ञ रंजन पृ.- 17) अपने प्रसिद्ध निबंध 'कवि-कर्त्तव्य' में वे लिखते हैं- ''कविता एक अपूर्व रसायन है। उसके रस की सिद्धि के लिए बड़ी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता और बड़ी चतुराई आवश्यक होती है। रसायन सिद्धि करने में आँच के न्यूनाधिक होने से

जैसे रस बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य-रूपी रस भी बिगड़ जाता है।'' (वही- पृ.-18) द्विवेदी जी कविता में अर्थ के महत्त्व को पहले स्वीकार करते हैं। वे केवल 'कोमल-कांत-पदावली' शीर्षक निबंध में कांत-कविता का विरोध करते हुए कहते हैं- ''क्या 'कोमल-कांत-पदावली' ही का नाम कविता है? क्या जिस पद्य में कोई अच्छा भाव नहीं, सिर्फ लच्छेदार मीठे-मीठे शब्दों की भर-मार है, वही कविता है?''(विचार-विमर्श (1931 ई) महावीरप्रसाद द्विवेदी, इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, पृ.-27) द्विवेदी जी ने कविता की भाषा में मुहावरे के प्रयोग पर बल देते हुए कहा है- ''मुहाविरा ही भाषा का प्राण है।''(रसज्ञ रंजन- महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ.-18) कविता में विषयानुकूल शब्द-स्थापना के साथ-साथ मुहावरों के प्रयोग पर भी ध्यान देना चाहिए क्योंकि मुहावरे के बिना भाषा निष्प्राण और अनुवाद मात्र बनकर रह जाती है।

द्विवेदी जी कविता में नाद-सौंदर्य के स्थान पर 'अर्थ-सौरस्य' पर बल देते थे। वे कविता में अर्थ का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं- ''अर्थ-सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता ही नहीं।'' (वही, पृ.- 20) 'अर्थ-सौरस्य' से द्विवेदी जी का मतलब वही है जो 'भावुकता' से शुक्ल जी का था। शुक्ल जी ने लिखा है कि ''कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।'' (गोस्वामी तुलसीदास- रामचंद्र शुक्ल पृ.- 74) स्पष्टतः शुक्ल जी की भावुकता ही 'रसात्मकता' है। कोई भी कविता तब तक रसात्मक नहीं हो सकती जब तक कवि विषयवस्तु के साथ तदात्म्य न हो। अर्थात् कविता में 'रसात्मकता' या अर्थ-सौरस्य के लिए यह जरूरी है कि पहले कवि कविता के विषय-वस्तु से रचना के पूर्व ही इस प्रकार जुड़ जाए कि कवि द्वारा प्रतिपादित आलंबन के साथ आश्रय के साथ सहज रूप से जुड़ाव हो जाए और आलंबन तथा आश्रय के साथ प्रमाता सहज-रूपेण एक भावभूमि पर पहुँचे। द्विवेदी जी इस तथ्य को इन शब्दों में रखते हैं- ''जब कवि की आत्मा का वर्ण्य विषयों से इस प्रकार निकट संबंध हो जाता है, तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ़कर पढ़ने वालों के हृदय पर तद्वत् भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।'' (रसज्ञ रंजन, महावीरप्रसाद दिवेदी पृ.- 20)

द्विवेदी जी रसवादी थे और कविता में सभी रसों की सहभागिता के पक्षधर थे। उनका मानना था कि शृंगार के अलावे अन्य रसों में भी असरकारक कविता लिखी जा सकती है। रीतिकालीन काव्य परंपरा का विरोधी होने के कारण शृंगार-विरोधी जरूर थे लेकिन 'प्रेमघन' की तरह द्विवेदी जी शृंगार-रस को दोषी न मानकर उसके गलत उपयोग के लिए कवियों को दोषी मानते थे। वे कहते हैं- ''शृंगार रस होने से ही कविता अश्लील नहीं हो जाती। यदि ऐसा होता तो कालिदास की क्या गति होती? उनके तो सभी काव्य और सभी नाटक पढ़ने योग्य न समझे जाते। उनमें तो बीच-बीच, वीर, शांत और करुण रस के प्रवाह में भी शृंगार-रस के भँवर उठा करते हैं।'' (साहित्यालाप (संक्षिप्त संस्करण) महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ.-70) अलंकार-प्रयोग के बारे में द्विवेदी जी की स्पष्ट राय थी- ''कविता करने में, हमारी समझ में, अलंकारों के बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए। बलात् किसी अर्थ को लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ भी आ जाय उसे ही पद्यबद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादपरक होता है।'' (रसज्ञ रंजन- महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ.-20-21)

रीतिकालीन कविताओं में एक विशेष खामी यह भी थी कि वह पिटी-पिटायी लीक पर चलने वाली थी। वहाँ पहले से ही आचार्यों के द्वारा सब कुछ तय हुआ करता था, मसलन किस प्रकार के रस के लिए कौन सा छंद, कौन सा अलंकार, यही नहीं रीति, वृत्ति, गुण, दोष आदि सब कुछ पूर्व निर्धारित हुआ करता था। कविता में कवि की अपनी निजी काव्य-शैली के लिए भी जगह हो सकती है, ऐसा रीति-निरूपण का विरोध करते हुए काव्य की स्वच्छंदतावादी शैली की वकालत में ही संभव था। यही कारण था कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिवादी कविताओं का सीमांकन करते हुए अपने इतिहास में लिखा- ''रीतिकाल में कवियों के लिए व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया।'' (हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ.- 205) द्विवेदी जी भी कविता-लेखन के क्षेत्र में 'व्यक्तिगत-विशेषता' के हिमायती थे। वे लिखते हैं- ''सुकवियों की रचनाओं में एक प्रकार की अदृश्य छाप सी लगी रहती है'' (विचार विमर्श, पृ.-78) क्योंकि ''उन्हें पढ़ते या सुनते ही सहृदय जन बहुधा यह ताड़ जाते हैं कि ये तो

अमुक कवि या लेखक की लेखनी से निकली जान पड़ती हैं।'' (वही-पृ.-78) हर कवि की एक निजी काव्य-शैली होती है। रचनाकारों की अलग-अलग 'स्टाइल' ही उन्हे निजी पहचान देती हैं। शायद यही कारण है कि एक अंग्रेजी विद्वान को कहना पड़ा- 'स्टाइल इज मैन'। द्विवेदी जी ने काव्य-लेखन के क्षेत्र में स्वच्छंदतावादी काव्य-दर्शन की मान्यताओं को बढ़ावा देते हुए कविता में गतानुगतिकता का निषेध किया और कविता में 'व्यक्तिगत-विशेषता' के समावेश की सिफारिश की।

द्विवेदी जी ने हिंदी कविता के साथ दो आवश्यक बातें जोड़ीं-'मनोरंजन' और 'उपदेश'। ये दोनों शब्द उनके लिए गंभीर अर्थ देने वाले थे। 'मनोरंजन' के भीतर वे सम्पूर्ण काव्यानंद को समेटते थे और 'उपदेश' के भीतर केवल नैतिक आदर्श ही नहीं बल्कि देश की शिक्षा और प्रगति, ये सारी बातें उपदेशात्मकता के अंतर्गत परिगणित की जा सकती हैं। मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'भारत-भारती' के प्रकाशन पर उन्होंने लिखा था- ''यह सोते हुए को जगानेवाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है, यह पूर्व पुरुषों के विषय में भक्ति-भाव का उन्मेष कर सकती है, यह सुख, समृद्धि और कल्याण के प्रति हमारा सहायक हो सकता है।'' (विचार विमर्श, पृ.-185) द्विवेदी जी के प्रति गुरुतुल्य आस्था रखने वाले मैथिलीशरण गुप्त लिखते हैं-

''केवल मनोरंजन न कवि-कर्म होना चाहिए
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।'' (भारत-भारती, मैथिलीशरण गुप्त, पृ.-56)

द्विवेदी जी ने कविता की भाषा और विषयवस्तु के साथ-साथ छंद-प्रयोग पर भी विचार किया है। उनके अनुसार पुराने छंद आधुनिक-भावबोध को अभिव्यक्त करने में अक्षम हो चुके हैं, अतः कवियों को उनका मोह त्याग कर नये छंदों के प्रयोग के प्रति प्रयत्नशील होना चाहिए। यही नहीं, वे उन प्रतिक्रियावादी आलोचकों को भी अनदेखा करने की बात करते हैं जो छंद-प्रयोग की नवीनता में नाना प्रकार के दोष ही ढूँढ़ते हैं। वे लिखते हैं- ''किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रम-भंग होता देख प्राचीनता के पक्षधर बिगड़ खड़े होते हैं और नई चाल के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टाएँ और दोषोद्भावनाएँ

करने लगते हैं, यह स्वाभाविक बात है। परंतु लोग इस प्रकार की टीका-टिप्पणियों से डरते, तो संसार में नवीनता का लोप ही हो जाता।'' (रसज्ञ रंजन, पृ.-17) हिंदी के परंपरागत छंद यथा दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिंदी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और भी छंदों का प्रयोग करें। इसके लिए वे संस्कृत के साथ-साथ उर्दू के छंदों के प्रयोग के लिए उकसाते हैं- ''आजकल के बोलचाल की हिंदी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार के छंदों से अधिक खुलती है, अत: ऐसी कविता लिखने में तदनुरूप छंद प्रयुक्त होने चाहिए।'' (वही पृ.-17) इसी प्रकार वे वसंतलतिका, द्रुतविलंबित, वंशस्थ आदि वृत्त ऐसे हैं जिनका प्रचार हिंदी में होने से हिंदी की शोभा में वृद्धि ही होगी। यही नहीं जिस मुक्तछंद को निराला जैसे हिंदी कवि ने लोकप्रिय बनाया, उसकी सिफारिश द्विवेदी जी पहले ही कर चुके थे। अतुकांत छंदों में कविता लिखने की प्रेरणा द्विवेदी जी ने अनायास नहीं की थी, अपितु इसके लिए वे अपेक्षित तर्क भी जुटाए जिसका उपयोग छायावादी कवियों ने किए- ''अनुप्रासयुक्त पादांश सुनते-सुनते हमारे कान उस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गए हैं। इसलिए अनुप्रासहीन रचना अच्छी नहीं लगती। बिना तुक वाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह अच्छी लगने लगेगी, इसमें कोई संदेश नहीं।'' (वही, पृ.-17) वे यहाँ तक मानते हैं कि कविता के नाम पर पद्य-करना अलग बात है, कवि होना दूसरी बात है। तात्पर्य यह कि कविता के लिए शास्त्रीय-छंदविधान वाली पद्यात्मकता से अधिक जरूरी है कि कवित्व के गुणों से युक्त अर्थ-सौरस्य से ओत-प्रोत रचना की जाए।

नाटक संबंधी विचार- द्विवेदी-युग मूलत: कविता एवं कहानी के निर्माण की पीठिका का काल था। इस युग तक आते-आते नाटक की गति थोड़ी थम सी गई दीखती है। इस युग में जो नाटक लिखे गए वे प्राय: अनभिनेय ही थे। यही नहीं नाटक और रंगमंच के बीच दूरी भी बढ़ती जा रही थी। इसके पीछे मूल कारण यह था कि द्विवेदी-युग में भारतेंदु जैसी व्यापक रंगदृष्टि और मंचन के व्यावहारिक पहलुओं को ध्यान में रखकर नाटक लिखने वालों का अभाव सा रहा। दूसरी ओर पारसी रंगमंच पर जिस प्रकार के फूहड़,

अश्लील और कुरुचिपूर्ण नाटक खेले जा रहे थे, उससे कोई सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति नहीं स्वीकार कर सकता था। द्विवेदी जी तत्कालीन नाटकों के विषय में लिखते हैं-''हिंदी में नाटक के नाम से इस समय जो अनेक पुस्तकें वर्त्तमान हैं उनमें से अधिकांश का ठीक-ठीक अभिनय ही नहीं हो सकता।'' (साहित्यालाप, पृ.-55) द्विवेदी जी के अनुसार नाटक साहित्य की समस्त विधाओं में सर्वाधिक शक्तिशाली विधा है और नवजागरण में प्रभावशाली भूमिका निभा सकता है, किंतु मंचन के अभाव में वह कभी भी अपना असली मकसद पूरा नहीं कर सकता है। दूसरी ओर जो व्यावसायिक पारसी थियेटर कंपनियाँ थीं वे हिंदी नाटक ही नहीं, हिंदी-पट्टी के जनमानस के भी सर्वथा प्रतिकूल थीं। यही कारण था कि द्विवेदी जी ने पारसी थियेटर-मंच का विरोध करते हुए लिखा- ''जो नाटक आजकल इन प्रांतों में नाटक कंपनियों के द्वारा खेले जाते हैं वे प्राय: उर्दू में हैं। उनमें दिखलाए जाने वाले सामाजिक चित्र बहुधा अच्छे नहीं।'' (वही पृ.-55)

द्विवेदी जी के समय यह भी प्रचलित हो चुका था कि नाटक दो प्रकार के हो सकते हैं-साहित्यिक और मंचोपयोगी। द्विवेदी जी को इस प्रकार का विभेद स्वीकार न था। उनके अनुसार साहित्यिक नाटकों को मंचोपयोगी और मंचोपयोगी नाटकों को साहित्यिक होना ही चाहिए। उन्होंने हिंदी के अनभिनेय एवं पारसी के उर्दू दोनों प्रकार के नाटकों की आलोचना की और कार्य-व्यापार की अनुकरणीयता अर्थात् अभिनेयता को ही नाटक का प्राण तत्त्व मानते हुए लिखा- ''विषय अर्थात् सामग्री का कार्य में परिणत होना अर्थात् अनुकरण द्वारा भली-भाँति दिखलाया जाना, नाटककार के लिए सबसे अधिक आवश्यक काम है।'' (महावीरप्रासाद द्विवेदी : रचना संचयन, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2006 पृ.-36) यहाँ यह उल्लेख किया जाना प्रासंगिक है कि रंगमंचीय नियमों के अनुपालन के मामले में वे नाटककार अथवा निर्देशक को देश-काल अथवा मंचीय सुविधाओं के अनुसार काफी छूट देने के पक्ष में थे। उनके अनुसार भरतमुनि और धनंजय द्वारा प्रतिपादित नियमों में भी देशकालानुसार फेर-बदल की पूरी छूट नाटककार को दी जानी चाहिए। साथ ही उन्होंने नाटककारों को यह भी चेतावनी दी कि जीवन की घटनाएँ, इतिहास में वर्णन की गई बातें, नाटक के विषय से संबंध रखने वाली कथाएँ, ये सब

एक प्रकार की प्रचण्ड लहरें हैं जिन पर रचनाकार का पूरा नियंत्रण होना चाहिए।

इस प्रकार द्विवेदी जी की समग्र आलोचना-दृष्टि कविता-केंद्रित भले ही थी, किंतु उन्होंने नाटक पर भी बड़े सारगर्भित ढंग से अपने विचार रखे हैं। हम सभी जानते हैं कि द्विवेदी जी के पूर्व भारतेंदु युग में आधुनिक-चेतना के नाटकों का सूत्रपात एक शक्तिशाली विधा के रूप में हो चुका था। स्वयं भारतेंदु के अलावे बालकृष्ण भट्ट, और बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' जैसे समीक्षकों ने पुस्तक-समीक्षा पद्धति के माध्यम से इस विधा की आलोचना के लिए एक संतुलित आलोचना-दृष्टि भी विकसित कर ली थी। खास बात यह थी कि ये सभी आलोचक नाट्य-लेखक के साथ-साथ कमोबेश रंगकर्मी भी थे। उदाहरण के लिए भारतेंदु ने शीतलाप्रसाद त्रिपाठी के नाटक 'जानकी-मंगल' में लक्ष्मण का अभिनय किया था। प्रतापनारायण मिश्र ने भी कई नाटकों में अभिनय किया था। द्विवेदी जी ने भारतेंदु की नाट्यालोचना को आगे बढ़ाते हुए वैसे नाटक लिखने की वकालत की जो भारतेंदु के नाटकों की तरह जनोन्मुख, मूल्यपरक एवं मंचन के योग्य हों।

उपन्यास संबंधी विचार - द्विवेदी जी ने भारतीय साहित्य की दो प्राचीन विधाएं नाटक और कविता को बदलते युग-संदर्भ के साथ उसके नवीन कलेवर में प्रतिष्ठित तो किया ही, साथ ही साथ पश्चिम से आयातित उपन्यास विधा का स्वागत किया और उसे एक नई आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का प्रयास किया। इस विधा का स्वागत करते हुए उन्होंने 1911 ई. में अपने निबंध में 'उपन्यास-रहस्य' लिखा- ''उपन्यासों का अधिक प्रकाशित होना हिंदी के उत्थान का शुभ लक्षण है'' (वही, पृ.-37) और ''योग्य लेखकों को चाहिए कि उपन्यास-रचना को ओछा काम न समझकर अच्छे उपन्यासों से समाज और साहित्य दोनों का कल्याण-साधन करें।'' (वही, साहित्यालाप, पृ.-55-56) द्विवेदी जी ने 1922 ई. में लिखित 'उपन्यास-रहस्य' निबंध में आगे लिखा है कि उपन्यास साहित्य का जनवादी रूप है, क्योंकि ''काव्यों नाटकों की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं।'' (साहित्य संदर्भ, गंगा पुस्तकालय, कार्यालाय लखनऊ, पृ.-162) द्विवेदी जी ने औपन्यासिक कथावस्तु को चरित्र से जोड़ने पर विशेष बल दिया और इसके

लिए मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक बतलाया। उन्होंने लिखा है- ''उपन्यासों में मनुष्यों ही के चरित्रों, और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे संबंध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है।'' (उपन्यास रहस्य पृ.-165) साथ ही साथ उन्होंने यह भी हिदायत दी कि मनोविज्ञान का समावेश परोक्ष रूप से ही होना चाहिए तथा कल्पना का समावेश यथार्थपरक होना चाहिए। इससे उपन्यास के कथानक की विश्वसनीयता बढ़ती है। उपन्यास मात्र मनोरंजन के उद्देश्य से न लिखे जाएँ अपितु उसमें समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का चित्रण अवश्य होना चाहिए। उपन्यास यथार्थवादी हों इसका मतलब यह नहीं कि उसमें सिर्फ चोर, डाकू और दुराचारियों का चित्रण हो। इससे समाज की भलाई किसी रूप में नहीं हो सकती। इसलिए लेखकों को प्राकृतवादी दृष्टिकोण की जगह पर आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जैसा कि प्रेमचंद के उपन्यासों में मिलता है।

समालोचना संबंधी विचार - कहना नहीं होगा कि द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि पुनरुत्थानवादी तत्त्वों से नहीं, अपितु प्रगतिशील तत्त्वों से निर्मित थी। यही नहीं उनकी आलोचना पद्धति का प्रारूप पारंपरिक रीति-निरूपण वाली पद्धति से निर्मित न होकर पश्चिम की पुस्तक-समीक्षा पद्धति से प्रभावित थी। हिंदी आलोचना के बारे में वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं- ''समालोचना करने की नई प्रणाली अंग्रेजी शिक्षा की बदौलत हमलोगों ने सीखी है।''(आलोचनांजलि, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, प्रथम संस्करण 1928 ई. पृ.- 3) उन्होंने अफसोस जताया कि अंग्रेजी से प्रभावित होकर पुस्तक-समीक्षा वाली प्रणाली बांग्ला में तो चल पड़ी किंतु हिंदी में अब तक उसका विकास नहीं हो पाया था। इसके लिए उन्होंने बांग्ला के 'शकुंतला-रहस्य' और 'शकुंतला-तत्त्व' नामक पुस्तकों की चर्चा करते हुए लिखा कि आलोचना साधारण पाठकों के लिए होनी चाहिए तथा आलोचना में गुण-कथन के साथ-साथ दोष-दर्शन का काम भी होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने बयालिस पृष्ठों में संस्कृत के प्राचीन कवियों की रचनाओं में दोष-दर्शन के कार्य किए जिसकी आलोचना बालमुकुंद गुप्त जैसे साहित्यकार ने भी की, क्योंकि तत्कालीन जनमानस तक यह भ्राँति व्याप्त थी कि महान् कवियों की रचनाओं में दोष-

दर्शन कार्य पाप-तुल्य है। द्विवेदी जी ने पहली बार यह साहसिक कदम उठाया और कालिदास से लेकर श्रीहर्ष और विल्हण जैसे कवियों की रचनाओं में दोषमूलक आलोचना दृष्टि से काम लिया।

द्विवेदी जी ने हिंदी-आलोचना को सदा प्रगतिशील तत्त्वों से जोड़े रखने और उन तत्त्वों को विकसित करने का काम किया। उदाहरण के लिए भारतेंदु-युग में बालकृष्ण भट्ट जैसे आलोचकों ने पण्डिताई दिखलाने वाली आलोचना पद्धति का विरोध किया था। पाण्डित्यसूचक समालोचना से तात्पर्य ऐसी आलोचना पद्धति से था जिसमे आलोचक रचना में व्याप्त छंद, अलंकार, गुण-दोष अथवा रीति-वृत्ति के संबंध में हुई भूलों को गिनाकर अपने पांडित्य का प्रदर्शन मात्र करता है। द्विवेदी जी इन बातों को गौण मानते थे। उनका मानना था कि- ''किसी पुस्तक या प्रबंध में क्या लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं-यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्राय: इन्हीं बातों पर ध्यान देना चाहिए।'' (संपादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्तव्य पृ.-45) स्पष्ट है कि द्विवेदी जी कोरे कलावादी नहीं थे।

द्विवेदीजी ने अन्य बड़े आलोचकों की तरह किसी खास कवि अथवा किसी खास कृति अथवा काव्य-संकलन पर कोई मुकम्मल पुस्तक नहीं लिखी, किंतु व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनके दो निबंध उल्लेखनीय हैं, पहला निबंध 'हिंदी-नवरत्न' पर लिखित पुस्तक समीक्षा के रूप में 'सरस्वती' में 1912 ई. में प्रकाशित हुआ। दूसरा निबंध 1927 ई. में 'आजकल के कवि और कविता' शीर्षक नाम से प्रकाशित हुआ और बाद में 'साहित्यालाप' में संकलित हुआ। पहले निबंध में हिंदी के नौ कवियों को मिश्रबंधुओं के द्वारा जो श्रेणीबद्ध करने का काम किया गया है, उसकी समीक्षा के रूप में लिखा गया है और दूसरा निबंध छायावादी कविता में जो अतिवादी तत्त्व हैं, उनके रेखांकन के रूप में रचा गया है। अब दोनों निबंधों की अलग-अलग चर्चा प्रासंगिक होगी। 'हिंदी-नवरत्न' के लेखकों ने हिंदी के नौ कवियों को चुनकर उन्हें तीन श्रेणियों में रखा था। पहली श्रेणी में सूरदास और तुलसीदास के साथ देव को रखा गया था जबकि तीसरी श्रेणी में मतिराम और चंदबरदायी के साथ

भारतेंदु को स्थान दिया गया। दूसरी श्रेणी में बिहारी, भूषण और केशवदास श्रेणीबद्ध किये गए। द्विवेदी जी ने इस प्रकार के विभाजन को तर्कसंगत न मानते हुए उसे एक निरर्थक और अवैज्ञानिक विभाजन करार दिया। उन्होंने कहा- ''यदि किसी को रामायण से आल्हा अच्छा जँचे तो वह उसे ही रत्न समझ सकता है। पर यदि वह चाहता हो कि और लोग भी उससे इस विषय में सहमत हों तो उसे अपने मत की पुष्टि में कुछ कहना चाहिए।'' (समालोचना समुच्चय पृ.-206) चूँकि द्विवेदी जी सामंती-कविता के विरुद्ध थे, फलतः उन्होंने देव की कड़ी आलोचना करते हुए उनके बारे में लिखा- ''जिसने उच्च भावों का उद्बोधन नहीं किया, जिसने समाज, देश या धर्म को अपनी कविता द्वारा विशेष लाभ नहीं पहुँचाया, जिसने मानव-चरित्र को उन्नत करने योग्य सामग्री से अपने काव्य को अलंकृत नहीं किया, वह भी यदि महाकवि या कविरत्न माना जा सकेगा तो प्रत्येक देश क्या, प्रत्येक प्रांत में भी, सैकड़ों महाकवि और कविरत्न निकल आवेंगे।'' (वही, पृ.-209) इसी प्रकार मतिराम की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा- ''हिंदी में कोई कविरत्न कहलाने योग्य कवि या महाकवि हुए तो वे सूर और तुलसी ही हैं। रस, भाव, छंद, अलंकारशास्त्र और नायिका-भेद के परिज्ञान से मनुष्य जाति का बहुत ही उपकार हो सकता है। इन विषयों पर दो एक छोटी मोटी पुस्तकें लिखनेवाले मतिराम जैसे कवि भी यदि 'रत्न' श्रेणी में परिगणित हो सकेंगे तो यही कहना पड़ेगा कि 'रत्न' शब्द अपने ठीक अर्थ में प्रयुक्त नहीं व्यवहृत हुआ।'' (वही, पृ.-210-211) द्विवेदी जी चंदबरदायी और भारतेंदु को एक ही तराजू को तोलने वाली आलोचना को बिल्कुल अव्यावहारिक मानते हैं। उनके अनुसार किसी भी कवि का मूल्यांकन उसके देशकाल के परिप्रेक्ष्य में होना चाहिए। हर कवि युगीन परिस्थितियों की उपज होता है, अपने युग की माँग होता है। यदि हम जीवन और साहित्य के शाश्वत मूल्यों और मानदण्डों के आधार पर ही किसी को 'कविरत्न' घोषित करना चाहते हैं तो इसके अधिकारी सिर्फऔर सिर्फ सूर और तुलसी ही हो सकते हैं। दूसरी बात यह कि आलोचना में केवल निर्णय देना ही पर्याप्त नहीं होता है, अपितु युक्तियों पर आधरित निर्णय का स्वागत आलोचना-जगत में होना चाहिए। यही कारण था कि मिश्रबंधुओं ने तुलसी के बारे में जो अत्युक्तियाँ प्रयुक्त की उसका विरोध द्विवेदी जी ने किया।

व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' शीर्षक निबंध में छायावाद की आलोचना उसकी रहस्यात्मकता, लाक्षणिकता और आत्मनिष्ठता जैसे बिंदुओं के आधार पर की थी। द्विवेदी जी कहते हैं- ''छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उसका मतलब है कि कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद कविता कहना चाहिए।'' (महावीरप्रसाद द्विवेदी संचयन, पृ. -86) स्पष्ट है कि भावों की छाया कहीं अन्यत्र जाकर पड़ने से उनका मतलब 'रहस्यात्मकता' से है। उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी ने भी इन्हीं बिंदुओं पर छायावादी कवियों की आलोचना की है जिसके आधार पर डॉ. रामविलास शर्मा ने भी कहा कि ''उसकी जिन विशेषताओं पर उन्होंने आक्रमण किया है, वे विशेषताएँ कल्पित नहीं, वास्तविक थीं यह मानना होगा और उनका आक्रमण सही था, यह भी मान लेने से ही कल्याण होगा।'' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ.-175) द्विवेदी जी ने छायावाद की दुरूह लाक्षणिकता पर प्रहार करते हुए कहा- ''आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविताएँ लिखते हैं उनकी कविताओं से तो उन लोगों की पद्य-रचना अच्छी होती है जो देशप्रेम पर अपनी लेखनी चलाते हैं। उनमें कविता के और गुण भले ही न हो, पर उनका मतलब तो समझ में आता है।'' (वही, पृ.-1) वस्तुत: द्विवेदी जी का विरोध सम्पूर्ण छायावाद से न होकर उसकी पतनशील प्रवृत्तियों से था।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी समीक्षा-दृष्टि विकसित करने के लिए भले ही संस्कृत की 'क्लासिक' कविताओं एवं शास्त्र-ग्रंथों का अवगाहन किया किंतु उनकी दृष्टि पुनरुत्थानवादी न होकर प्रगतिशील ही रही। उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य के मूल्यांकन के लिए जो नए मानदण्ड खड़े किए, वे सामान्य जन के पक्ष में तथा सामंती-सोच के विरोध में थे। पहली बार साहित्य के मूल्यांकन के लिए जो मानदण्ड तैयार किए गए, वे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं मनोविज्ञान जैसे साहित्येत्तर विषय से चुने गए। कविता में कथन-भंगिमा के चारुत्त्व के स्थान पर प्रतिपादित विषय की गुरुता को महत्त्व दिया गया। पहली बार स्वदेशानुराग एवं स्वदेशीपन की गरिमा को पद-लालित्य से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। द्विवेदी जी शृंगारिकता के

विरोधी न होकर उसकी अश्लीलता और पृष्ठपेषण के विरुद्ध थे। इसी प्रकार छायावाद जहाँ नवजागरण का स्वर बुलंद कर रहा था वहाँ वे उसके साथ थे, वही छायावाद जहाँ अतिशय आत्मनिष्ठ, वायवीय और काल्पनिक हो जाता है वहा वे उसके विरोध में खड़े दिखते हैं। द्विवेदी जी ने हिंदी आलोचना को कविता केंद्रित भले ही रखा, किंतु उन्होंने पूर्व में स्थापित नाटक एवं नवागत उपन्यास विधा की विवेचना के लिए भी नई दृष्टि दी। उन्होंने नाटक की मंचीयता और उसके साहित्यिक स्तर को बनाये रखने की बात कही, वहीं औपन्यासिक चरित्रों की सृष्टि में मनोवैज्ञानिकता के सम्यक् निर्वाह पर बल दिया। उपन्यास के पात्र मानवीय मूल्यों के वाहक और विश्वसनीय हों। द्विवेदी जी ने हिंदी आलोचना के विकास के लिए हमेशा प्रजातांत्रिक रवैया अपनाए रखा। इसका प्रमाण यह है कि वे अपने द्वारा स्थापित मानदण्डों पर दृढ़तापूर्वक अडिग तो रहते थे किंतु किसी भी मुद्दे पर तर्क-वितर्क के लिए सदैव तत्पर रहते थे। उन्होंने अपने समकालीन लगभग सभी आलोचकों से 'सरस्वती' एवं अन्य पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आजीवन अंतहीन शास्त्रार्थ किया। इसका प्रतिफल यह हुआ कि परवर्ती हिंदी आलोचना में रुढ़िवादी आलोचना-परंपरा कमजोर पड़ती गई और आधुनिक जीवनबोध वाली प्रगतिशील आलोचना का मार्ग प्रशस्त होता चला गया।

द्विवेदी जी की समीक्षा-सृष्टि-आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने समकालीन आलोचकों की आलोचना दृष्टि को दूर तक प्रभावित किया। उनकी आलोचना-दृष्टि की आधारभूमि भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट और बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की आलोचना-दृष्टि बनीं। भारतेंदु ने 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चंद्रचंद्रिका' की संपादकीय टिप्पणियों एवं अपने स्वतंत्र लेखों के माध्यम से भारतेंदु-मण्डल के साहित्यकारों को दिशा निर्देश देते हुए युग-निर्माण का काम किया था। द्विवेदी जी ने युग-निर्माण के इस कार्य को 'सरस्वती' के माध्यम से आगे बढ़ाया। आचार्य बालकृष्ण भट्ट अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार थे और हिंदी गद्य के स्वरूप को खड़ा करने में उनकी भूमिका भारतेंदु मण्डल के किसी भी गद्यकार से बढ़-चढ़कर रही। कहा जा सकता है कि भाषा-परिष्कार से लेकर गंभीर और सुचिंतित निबंध-लेखन की परंपरा जो बालकृष्ण भट्ट से चली, द्विवेदी जी ने उसी काम को आगे बढ़ाया। इसी प्रकार बद्रीनारायण

चौधरी 'प्रेमघन' ने पुस्तक-समीक्षा के माध्यम से आधुनिक हिंदी-समीक्षा का जो सूत्रपात किया, उसको प्रभावशाली ढंग से आगे बढ़ाने का काम द्विवेदी जी ने किया। इस समीक्षा-पद्धति के विकास के दो फायदे हुए-पहला यह कि रीति-निरूपण और नायिका-भेद वाली परंपरा हमेशा-हमेशा के लिए अवरुद्ध हो गई और दूसरा लाभ यह हुआ कि किसी भी रचना की आलोचना उस रचना में निहित गुण-दोष के विवेचन के आधार पर होने लगा तथा रचना का मूल्यांकन देश काल की कसौटी पर कसते हुए किया जाने लगा। इस आलोचना-परंपरा का विकास द्विवेदी जी एवं उनके बाद के आलोचकों की आलोचना में हुआ।

जहाँ तक द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि का परवर्ती आलोचकों पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रश्न है तो उसका सर्वाधिक प्रभाव आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पर पड़ा। डॉ. नदंकिशोर नवल यह मानते हैं कि ''भारतेंदु युग के आलोचकों ने आलोचना की जिस जनवादी परंपरा को जन्म दिया और पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिसका विकास किया, उसकी चरम परिणति आचार्य रामचंद्र शुक्ल-1884-1941 ई. की आलोचना में हुई।'' (हिंदी आलोचना का विकास- डॉ. नंद किशोर नवल, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, पृ. सं.-97) महावीरप्रसाद द्विवेदी का शुक्ल जी पर गहरे प्रभाव के कई कारण थे- पहला कारण यह था कि शुक्ल जी ने आलोचक के रूप में अपनी सृजन-यात्रा द्विवेदी युग में ही आरंभ किया था भले ही उसका चरम विकास स्वच्छंदतावादी युग में देखने को मिला। दूसरी बात यह कि द्विवेदी जी और शुक्ल जी में कुछ आधारभूत वैचारिक साम्य भी थे जो उन्हें एक वैचारिक आधारभूमि पर लाकर खड़े करते हैं- जैसे द्विवेदी जी और शुक्ल जी सामंतवाद का पोषण करने वाली लेखन-धारा के खिलाफ थे। दोनो ने उपनिवेशवाद का प्रबल विरोध करते हुए स्वदेशी की पक्षधरता की थी। कविता के कलात्मक स्तर को लेकर दोनो उच्च स्तरीय सोच रखते थे। यही कारण था कि द्विवेदी जी को कालिदास, विल्हण, भर्तृहरि, जयदेव और पंडितराज जगन्नाथ प्रिय थे। शुक्ल जी ने जायसी, सूर और तुलसी को अपना आदर्श माना था। आधुनिक कविता में दोनों ने रहस्यवादी कविताओं की तुलना में यथार्थवादी कविताओं को अधिक महत्त्व दिया था। गुण-निरूपण एवं दोष-दर्शन के मामले में द्विवेदी जी 'कालिदास की निरंकुशता'

जैसे निबंध में बिल्कुल बेलाग और निरंकुश दिखते हैं, शुक्ल जी में भी यह प्रवृत्ति जायसी या बिहारी के विवेचन के क्रम में खूब देखने को मिलती है। रचनाकार की प्रशंसा करते-करते उन पर कटाक्ष करना या उनकी कमजोरियों पर खुलकर प्रहार करना शुक्ल जी ने द्विवेदी जी से ही सीखा था।

हिंदी आलोचना को शुक्ल जी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने साहित्य के संबंध में एक सुसंगत दृष्टिकोण के निर्माण का प्रयत्न किया। डॉ. नंदकिशोर नवल के अनुसार-''इस दृष्टिकोण का आधार ज्ञान का भौतिकवादी सिद्धांत है।'' (वही, पृ.-101) शुक्ल जी यह स्वीकारते हैं कि ज्ञान या भाव का आधार यह भौतिक जगत ही है, और कुछ नहीं है। शुक्ल जी ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'कविता क्या है' में लिखा है- ''ज्ञान ही भाव प्रसार के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य की चेतन-सत्ता अधिकतर इंद्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अंत:करण का विकास होता गया और सभ्यता बढ़ती गई, त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान बुद्धि व्यवसयात्मक होता गया।'' (चिंतामणि प्रथम भाग, आचार्य रामचंद्र शुक्ल पृ.-156) कहा जा सकता है कि शुक्ल जी भाव को कविता का मूल उपादान मानते हुए यह बतलाना नहीं भूलते कि इस भाव का आधार यह गोचर जगत् ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि शुक्ल जी को ज्ञान के भौतिकवादी सिद्धांत की प्रेरणा कहाँ से मिली। शुक्ल जी के पूर्व आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ज्ञान के इस भौतिकवादी स्वरूप की व्याख्या अपने वेदादि अध्ययन के संबंध में की थी। हमारे देश में वेदों को ज्ञान का अक्षय कोश माना जाता रहा है। ऐसा माना जाता है कि जो वेदों में नहीं है, वह इस संसार में नहीं है। यही नहीं, वेद अपौरुषेय हैं, ये आप्त वाक्य हैं। उनके मानने या न मानने के संबंध में तर्क की कोई गुंजाइश नहीं है। पहली बार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने वेदों की अपौरुषेयता का खण्डन करते हुए कहा कि वेद ब्रह्मा की वाणी नहीं हैं। हमें उनकी पूजा न कर के उनका गहन अध्ययन करना चाहिए ताकि हम वैदिक समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन दर्शन से अवगत हो सकें। वे लिखते हैं- ''वेद के विषय में हम हिंदुओं की श्रद्धा इतनी बढ़ गई है कि वेदों को भगवान की वाणी कहते-कहते हमने उन्हें खुद भगवान् ही बना डाला है। हम

बहुधा अखबारों में पढ़ते हैं-अमुक शहर में 'वेद भगवान' की सवारी निकली। अमुक तारीख को 'वेद भगवान' का षोडशोपचार हुआ।'' (महावीरप्रसाद द्विवेदी संचयन, पृ.-17) वस्तुतः द्विवेदी जी ज्ञान के भौतिकवादी सिद्धांत के इस हद तक पक्षधर थे कि उन्होंने ज्ञान को 'मुक्ति के लिए नहीं अपितु 'ज्ञान' की साधना भौतिक शक्ति को बटोरने के उद्देश्य से करने की वकालत की, उस भौतिक शक्ति की आराधना से जिसे साध्य बनाकर यूरोप के देशों ने खुद को भौतिक स्तर पर समृद्ध और शक्तिशाली बनाकर सारी दुनिया में अपना वर्चस्व स्थापित किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के ज्ञान का भौतिकवादी सिद्धांत द्विवेदी जी के इसी ज्ञान-दर्शन से प्रभावित है तथा विरासत के रूप में प्राप्त है।

हिंदी आलोचना को व्यापक समाजशास्त्रीय फलक प्रदान करने का श्रेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को जाता है। द्विवेदी जी ने साहित्य को सांस्कृतिक विकास की अविच्छिन्न धारा के रूप में देखने का काम तो किया ही, आलोचना के निकस तैयार करने में सामाजिक विज्ञान की अन्य शाखाओं से मदद लेने में भी गुरेज नहीं किया। यदि हम द्विवेदी जी की व्यापक लोकवादी दृष्टि और अगाध सांस्कृतिक निष्ठा की जड़ों की पड़ताल करें तो उसका सीधा सूत्र आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से जुड़ता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हजारीप्रसाद अपने पूर्ववर्ती महावीरप्रसाद से गहरे रूप से प्रभावित थे। देखा जाये तो दोनों आचार्यों में कई अद्भुत साम्य हैं। दोनों संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। दोनों के आदर्श कवि कालिदास थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यदि 'कालिदास की निरंकुशता' और 'कुमारसंभवसार' जैसी कृतियों कालिदास को आधार मानकर लिखीं तो हजारीप्रसाद ने 'कालिदास की लालित्य योजना' लिखकर ख्याति पाई थी। दोनों आचार्यों पर कालिदास के सौंदर्य-बोध का गहरा असर पड़ा था। दोनों कालिदास की तरह साहित्य को लोक-रुचि, लोकजीवन और लोक संस्कारों से जोड़कर देखते हैं। एक समय था जबकि महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली को जनभाषा के रूप में स्वीकारते हुए उसे कविता एवं अन्य विधाओं की भाषाओं के रूप में स्थापित करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। प्रसिद्ध आलोचक डॉ. मधुरेश ने ठीक ही कहा कि- ''आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी सांस्कृतिक परंपराओं के अनुशीलन के संदर्भ में जन-चेतना और लोक-जीवन को विशेष महत्त्व देते हैं। अपने इसी

दृष्टिकोण के कारण वे जैन और सिद्ध साहित्य की उदार धार्मिक और मानवीय प्रकृति को तो रेखांकित करते ही हैं, नाथ साहित्य को समाज-विरोधी समझने वाली दृष्टि का भी प्रत्याख्यान करते हैं।'' (हिंदी आलोचना का विकास- डॉ. मधुरेश, पृ.-118) द्विवेदी जी के इस महत्त्वपूर्ण अवदान को रेखांकित करते हुए डॉ. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- ''द्विवेदी जी जो बार-बार हिंदी साहित्य को लोकभाषा में हिंदी-भाषी जनता की चिंताधारा, अनुभूति और संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति करते हैं और हिंदी साहित्य के इतिहास को अधिकाधिक पूर्ण बनाने के लिए लोकगीतों लोक कथाओं और लोक-प्रचलित काव्य रूपों में अध्ययन पर जोर देते हैं।'' (साहित्य और इतिहास दृष्टि, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ.-163)

एक समय था जबकि महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' को ज्ञान की पत्रिका कहते हुए उसमें साहित्य के अलावे पुरातत्त्व, भूगोल, भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान, अंतरिक्ष विज्ञान आदि सभी विषयों की रचनाओं को इसलिए छापना शुरू किया था ताकि हिंदी में लिखने वाले और हिंदी पढ़ने वाले दोनों बहुज्ञ बनें। आलोचना में विविध विचारधाराओं का समावेश आलोचक अपने मौलिक चिंतन के दायरे में रहकर सामाजिक हित को ध्यान में रखकर करें। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक चिंतन में यह खूबी एक संतुलित आलोचना-दृष्टि के रूप में उभरी है। इस संबंध में प्रसिद्ध आलोचक डॉ. मधुरेश कहते हैं- ''संस्कृति और मानवीय विकास की द्विवेदी जी की अवधारणा मार्क्सवादी चिंतकों- राहुल सांकृत्यायन और भगवतशरण उपाध्याय की अवधारणाओं से आश्चर्यजनक रूप से मेल खाती है। यही कारण है कि वे सांस्कृतिक परंपराओं के अनुशीलन के संदर्भ में वे जन-चेतना और लोक-जीवन को विशेष महत्त्व देते हैं।'' (हिंदी आलोचना का विकास, डॉ. मधुरेश, पृ.-118) डॉ. नगेन्द्र का यह मानना है कि ''हजारीप्रसाद द्विवेदी में बोध और पाण्डित्य का अद्भुत सम्मिश्रण है।'' (हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेंद्र, पृ.-699) द्विवेदी जी यह युगबोध भले ही अर्जित हो किंतु उनका पाण्डित्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की विरासत है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। शायद यही कारण है कि हिंदी के इन आचार्यद्वय की गरिमामयी श्रेष्ठता के करीब भी कोई दूसरा आचार्य नहीं आ सका।

हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। डॉ. शर्मा के लिए कविता के क्षेत्र में निराला और कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद आदर्श रहे तो आलोचना के क्षेत्र में उनकी सर्वाधिक निष्ठा महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रति रही। डॉ. शर्मा ने पहली बार 1977 ई में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में यह स्थापित करने का प्रयास किया कि द्विवेदी जी महज एक भाषा-संशोधक या अनुशासनप्रिय सिद्धांतवादी संपादक मात्र नहीं थे अपितु हिंदी क्षेत्र में नवजागरण के अग्रदूत थे। डॉ. शर्मा की यह स्थापना सतही न थी। इसके लिए उन्होंने 'सरस्वती' के सैकड़ों अंकों का गहन् अध्ययन किया था और उन्होंने तर्क, तथ्य एवं प्रमाण के आधार पर अपनी बातें रखी हैं। स्वाभाविक है कि डॉ. शर्मा द्विवेदी जी की तार्किकता, वस्तुनिष्ठता, एवं साहित्येत्तर विषयों की गहन अध्ययनशीलता तथा पाण्डित्य से गहरे रूप से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। यही नहीं, द्विवेदी जी जिस तरह अपने विरोधियों पर निर्मम प्रहार करते थे या अपनी स्थापनाओं के लिए जिन रूपों में तर्क, तथ्य एवं प्रमाण जुटाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा देते थे, डॉ. शर्मा में ये सारे गुण मौजूद हैं। द्विवेदी जी की तरह उन्होंने भी देशी-विदेशी साहित्य का गहन अध्ययन किया था। मार्क्स से लेकर वैदिक साहित्य पर उनकी आधिकारिक पकड़ थी। जिस प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी खड़ीबोली हिंदी की जातीय परंपरा की पहली पंक्ति के कवि थे, उसी प्रकार डॉ. शर्मा को हिंदी की जातीय परंपरा के अंतिम अधिकारी आलोचक के रूप में देखा जाना चाहिए।

हिंदी में 'नई कविता' का उभार एक आंदोलन के रूप में भले ही बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के रूप में सामने आया किंतु 'नई-नई कविताएँ शब्द का प्रयोग द्विवेदी जी ने दिसंबर 1903 ई. की 'सरस्वती' में छपे 'कविता' शीर्षक निबंध में पहली बार किया था। द्विवेदी जी लिखते हैं-''जैसे मनुष्यों के लिए गाने की जरूरत है, वैसे ही देश के लिए कविता की जरूरत है। प्रति दिन नए-नए गीत बनते हैं और सब कहीं गाए जाते हैं। इसी नियमानुसार देश में नई-नई कविताएँ हुआ करती हैं।'' (महावीरप्रसाद द्विवेदी रचना संचयन- डॉ. भारत यायावर, पृ. -25) स्पष्ट है कि द्विवेदी जी यह मानते हैं कि कविता में वस्तु और रूप के स्तर पर परिवर्तन होते रहता है। एक समय की कविता

अपनी पूर्ववर्ती कविता से वस्तु और रूप के स्तर पर सर्वथा भिन्न होती चली जाती है। यही कारण है कि आज नई कविता के दौर की कविताएँ इतिहास का हिस्सा बनकर पुरानी पड़ चुकी हैं।

अंतत: कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना शैली में जिस वस्तुनिष्ठता, तार्किकता, स्पष्टता, निर्भीकता, खण्डन-मण्डन शैली और ठोस एवं प्रमाणयुक्त निर्णय देने की परंपरा का सूत्रपात किया उसका असर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से परवर्ती आलोचकों पर कई दशकों तक रहा। यह ठीक है कि परवर्ती प्रगतिवादी काल की आलोचना के केंद्र में मार्क्स और मनोवैज्ञानिक आलोचना के केंद्र में फ्रायड, युंग एवं एडलर रहे किंतु द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना में कई दशक पूर्व समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान का महत्व समझते हुए इनका प्रयोग करना शुरू कर दिया था। उनके द्वारा लिखित 'कवि कर्तव्य' निबंध आज किसी भी समकालीन बोध वाले कवि के लए 'गाइड-लाइन' बन सकता है। 'कविता का भविष्य' शीर्षक निबंध में आगामी कई दशकों तक हिंदी कविता का भविष्य तो प्रतिफलित हुआ ही, न्यूनाधिक रूप में आज भी उसकी प्रासंगिकता बनी हुई है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी का कवि-कर्म

गणेशचंद्र राही

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व बहुआयामी रहा है। विविध विषयों पर लिखा उनका साहित्य 'द्विवेदी-युग' की धरोहर है। लेकिन चिंता की बात यह है कि उनका समग्र लेखन आलोचकों की दृष्टि से उपेक्षणीय रहा। इनको केवल 'सरस्वती' के महान संपादक के रूप में याद किया जाता रहा।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कवि-कर्म और उनकी कविताओं पर चर्चा करना नये सिरे से बहस के लिए मानो आमंत्रण करना है। क्योंकि उनका कवि-कर्म और कविता को लेकर उनके समकालीनों में विवाद का विषय रहा है। इनकी कविताओं को उन्होंने सपाटबयानी एवं इतिवृत्तामक कह कर अस्वीकार कर दिया। इसका कारण यह बताया गया कि इनकी कविताओं में जीवन की गहराई नहीं है। स्वानुभूति की कमी है। गद्य लेखों एवं पुस्तकों को पढ़कर सुधारात्मक एवं उपदेशात्मक कविता लिखते थे। द्विवेदी जी का कविता के प्रति क्या दृष्टिकोण था, यह उनके 'कवि और कविता', 'कवि-कर्तव्य', 'कविता', 'कविता का भविष्य', जैसे निबंधों से समझा जा सकता है। ये सभी निबंध 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने इन निबंधों के माध्यम से रीतिकालीन काव्य प्रवृतियों का विरोध किया और आधुनिक यथार्थपरक परिस्थितियों के संदर्भ में कवियों को कविता लिखने के लिए प्रेरित किया। लेकिन वे कवि-कर्म को कठिन मानते थे। और स्वयं को इस लायक नहीं समझते थे। उन्होंने स्वयं एक जगह लिखा है-'' कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझें, हमें तो दु:साध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और विवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबंदी का अध्ययन किया था, पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का

अनाधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्राय: बंद कर दिया।'' इस स्वीकारोक्ति के अलावा और भी कई जगहों पर उन्होंने अपने कवि-कर्म पर संदेह जताया है और अपनी कविताओं को विश्व में लिखी जा रही कविताओं के समक्ष हेय समझा। उन्होंने अपनी कविताओं को साफ शब्दों में कहें तो कविता मानने से ही इनकार कर दिया। कवि-कर्म के जिस नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की आवश्यकता पर विद्वान जोर देते हैं, उसके समक्ष स्वयं को असमर्थ पाते थे।

बहरहाल, हिंदी साहित्य-जगत् ने द्विवेदी जी के 'कवि' को भले ही अस्वीकार कर दिया, लेकिन यहाँ कवि द्विवेदी के कवि-कर्म और उनकी कविताओं को ही प्रस्तुत करना हमारा लक्ष्य है। उनकी युगीन परिस्थितियों, साहित्य-सृजन एवं उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण पर चिार करते हुए उनकी कविताओं के संदर्भ एवं विशिष्टता को समझने की कोशिश करेंगे। हमारा मानना है कि द्विवेदी जी की कविताएँ भले हीं तात्कालीन सामयिक दबाव एवं प्रवृति विशेष के संदर्भ में लिखी गई हों, लेकिन इन कविताओं का सामाजिक एवं ऐतिहासिक मूल्य को नकारा तो नहीं जा सकता है। इनकी कविताएँ इतिवृतात्मक ही सही लेकिन उसकी स्थूलता में भी देश, विषमता से भरे समाज एवं जीवन की विकट परिस्थितियों का दारुण स्वर सुनाई पड़ते हैं। कलात्मक न सही, बात सीधे-सीधे ही कही गई है लेकिन इनके पीछे कवि का निहित उद्देश्य है। कोरा तर्क एवं किताबी बयान नहीं है। प्रेम, प्रकृति, देशभक्ति, भाईचारा, जन्मभूमि के प्रति अटूट प्यार, गरीबी, बेरोजगारी, साम्राज्यवादी लूट का विरोध, नारी शक्ति को आगे लाने और उन्हें समाज में प्रतिष्ठा दिलाने का संकल्प, समानता, स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, आधुनिक भारत के निर्माण का सपना, हिंदी खड़ीबोली को गद्य और पद्य की भाषा के रूप स्थापित करने को लेकर संघर्ष, इनकी कविताओं की विशेषताएँ कही जा सकती हैं। मौलिकता के अभाव के नाम पर इनकी कविताओं को पूरी तरह खारिज करना हिंदी साहित्य की विरासत से हाथ धोना है। अपने पूर्वज एवं युग-निर्माता साहित्यकारों की ज्ञानात्मक साधना, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक चेतना एवं उनकी मानवीय दृष्टि को समझने की भूल करना भी है।

कवि द्विवेदी प्राचीन संस्कृत साहित्य के गहरे अध्येता थे। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में ऐसे प्रकांड विद्वान, प्रतिभाशाली साहित्यिक चिंतक का होना, संपूर्ण हिंदी साहित्य के लिए गौरव की बात है। उनका कवि प्राचीन संस्कृति

साहित्य, मध्ययुगीन एवं रीतिकालीन चिंतन से पुष्ट है। आधुनिक हिंदी साहित्य को विकास के लिए उनकी वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त हुई है। दरअसल, उन्होंने संस्कृत, ब्रजभाषा, एवं हिंदी खड़ीबोली इन सभी भाषों में कविताएँ लिखी हैं। संस्कृत के तो आचार्य थे ही। वैदिक काल के साहित्य से लेकर अपने समय तक के लिखे जानेवाले संस्कृत-साहित्य का उन्होंने गंभीरतापूर्वक अवगाहन किया था। महाकवि कालिदास के 'कुमारसंभव सार' का उन्होंने ब्रजभाषा में अनुवाद कर उनके सौंदर्य की ओर हिंदी के साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट किया; वह अपने आप में अद्‌भुत है। वैसे उन्होंने 'सरस्वती' के संपादक के रूप में देश-विदेश की कई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों का स्वयं एवं अपने सहयोगियों द्वारा अनुवाद कराया। उनकी काव्य-यात्रा एवं रचनाओं के प्रकाशन पर गौर करें तो 1888 ई. में 'विनोद' से लेकर 1892 ई. में 'देवीस्तुतिशतक' तक द्विवेदी जी ने केवल ब्रजभाषा में कविताएँ लिखीं। 1902 ई. में उनकी कविताओं का संकलन काव्य-मंजुषा जैन वैद के सहयोग से छपा। इसमें 1897 से लेकर 1902 तक की कविताएँ संग्रहीत हैं। लेकिन इन कविताओं में कवि की हिंदी एवं ब्रजभाषा दोनों में भाषा की कविताओं को संकलित किया गया है। चूँकि द्विवेदी जी हिंदी साहित्य के समग्र उत्थान में अपने को मानो झोंक रहे थे। 1900 ई का काल उनके लिए हिंदी खड़ीबोली भाषा के संघर्ष का काल था। इधर अयोध्याप्रसाद खत्री ने इसी समय हिंदी खड़ीबोली को स्थापित करने के लिए ब्रजभाषा के खिलाफ आंदोलन छेड़ रखा था। भाषा का यह संघर्ष ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली को लेकर था। और इस संघर्ष में द्विवेदी जी को सफलता मिली। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन की जिम्मेदारी तो उन्हें 1903 में दी गयी थी। जबकि खड़ीबोली को लेकर यह संघर्ष वास्तविक रूप से विचार किया जाए तो बाबू भारतेंदु के निधन के बाद 1885 से ही शुरू हो गया था। खैर द्विवेदी जी की 19 अक्टूबर 1900 में 'वलीवर्द' हिंदी खड़ीबोली की पहली कविता 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' में प्रकाशित हुई। इसी वर्ष उनकी एक और कविता 'मांसाहारी हंटर' 'हिंदीबंगवासी' पत्रिका में छपी। लेकिन इनकी समग्र कविताओं पर जब दृष्टिपात करते हैं तो कुछेक कविताएँ ही ब्रजभाषा में हैं, शेष सभी कविताएँ हिंदी खड़ीबोली में मिलती हैं। और ये सभी कविताएँ सरस्वती में लगातार प्रकाशित होती रही हैं। इस तरह उनकी सैकड़ों कविताएँ खड़ीबोली में लिखी गई हैं। उनकी कविताओं का एक संग्रह 'सुमन' नाम से

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त ने द्विवेदी जी की सविनय सवज्ञा करते हुए प्रकाशित करवाया था। तब द्विवेदी जी ने गुप्त जी से अपनी कविताओं के सबंध में इन शब्दों में कहा था-''मुझे अपने कोई पद्य पसंद नहीं।-आपकी सलाह है, इससे चुनकर कुछ भेजता हूँ। नाम पुस्तक का आप ही रख दीजिए। नाम में पद्य हो, काव्य या कविता नहीं। नाम बिलकुल महत्वहीनता सूचक होना चाहिए। एक छोटी-सी-भूमिका आप ही लिख दीजिए। पद्यों की तारीफ में कुछ न कहिए।'' द्विवेदी जी इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि वे अपने कवि-कर्म के प्रति विशेष गंभीर नहीं थे। कविता की जगह पद्य शब्द का इस्तेमाल करने को कहना उनकी कविता के प्रति धारणाएँ साफ झलकाता है। उनकी एक और पुस्तक की चर्चा करना चाहूँगा। पुस्तक का नाम है-'कविता-कलाप'। इसकी भूमिका द्विवेदी जी ने स्वयं फरवरी 1919 में लिखी है। इसमें चित्र के साथ कविता संकलित है। उन्होंने कविता और चित्र के भावों, रंगों, कल्पनाओं, विचारों एवं सौंदर्य पक्ष पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है।

द्विवेदी जी ने कविता के क्षेत्र में जो सबसे बड़ा तथा ऐतिहासिक काम किया वह यह कि उन्होंने हिंदी कविता को कल्पनालोक से जन-साधारण लोगों के जीवन के करीब लाया। जीवन के यथार्थ चित्रण कवियों का उद्देश्य बना। वर्षों से चली आ रही रीतिकालीन श्रृंगारिक चेतना, नायिकाओं का नखशिख वर्णन की परिपाटी को उन्होंने तोड़ा। उसकी जगह पर देश की गंभीर समस्याओं, यथा गरीबी, आकाल, बाढ़, भुखमरी, बेरोजगारी, भिक्षाटन, नारी जागरण, अशिक्षा, अंधविश्वास, जड़ता को तोड़ने, राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति, प्रेम, भाईचारा को मजबूत करना, सांप्रदायिक सद्भावना के विकास, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लूट के प्रति देश की जनता को जागरूक करना और नये समाज एवं राष्ट्र का निर्माण जैसे विषय के प्रति अपने समकालीन साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट नहीं कराया बल्कि उस पर लिखने के लिए प्रेरित किया। भारतीय इतिहास और संस्कृति का गौरव-गान कवियों के लिए महत्त्वपूर्ण हुआ। इस तरह देखें तो द्विवेदी जी की कविताओं का मूल स्वर नवजागरण है। वे भारतीय संस्कृति और इतिहास की घटनाओं को बिल्कुल नई दृष्टि से देख रहे थे। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील थी। वह अपने समय के हालात और नवशिक्षित भारतीय मध्यवर्गीय युवापीढ़ी में जो वैचारिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन आ रहा था, उस पर उनकी पैनी दृष्टि थी।

नवशिक्षित युवा वर्ग भारतीय संस्कृति की केंचुल छोड़ कर पाश्चात्य संस्कृति-सभ्यता का मुरीद बन रहा था। पाश्चात्य रंगों का प्रभाव उनके रहन-सहन, पहनावा ओढ़ावा, खान-पान पर व्यापक प्रभाव पड़ रहा था। उनकी जीवन-शैली बदल रही थी। यह सारी चीजें उनकी और उनके समकालीनों की कविताओं में साफनजर आती है। कविता के विषय-क्षेत्र के विस्तार से हिंदी कविता आधुनिक जीवन की ओर मुखर होने लगी। रीतिकालीन संस्कारों से वह मुक्त होने लगी। द्विवेदी जी को यह सफलता विरोधियों का सामना करते हुए मिली।

जहाँ तक द्विवेदी जी के कवि-कर्म एवं उनकी कविताओं पर विचार करने की बात है तो हम यहाँ उनकी 'संस्कृत', ब्रजभाषा' और हिंदी 'खड़ीबोली' में लिखी कविताओं तक ही अपने लेख सीमित रखेंगे। उनकी अब तक की प्रकाशित कविताओं पर समग्र दृष्टि से विश्लेषण-विवेचन करेंगे। विशेषरूप से उनकी महत्त्वपूर्ण कविताओं की विषयु-वस्तु की ओर ध्यान केंद्रित रखेंगे। वह किस तरह की कविता लिखते थे और उनकी कविताओं की रोशनी आगे के कवियों की रचनाओं में कहाँ तक पड़ी है, इसकी भी पड़ताल करेंगे। सबसे पहले उनकी संस्कृत में लिखे कुछ पद्यों पर विचार करेंगे। इससे संस्कृत में कविता लिखने की उनकी प्रतिभा की झलक मिल सकेगी। उनकी संस्कृत में लिखी कविताओं में 'शिवाष्टकम्', 'प्रभातवर्णनम्' 'अयोध्याप्रशस्तिः', 'सूर्यग्रहणनम्' - समाचारपत्रसंपादकस्तवः एवं 'कथमहं नास्तिकः?' विशेष रूप से चर्चित हैं। इनमें से कुछ कविताओं का उल्लेख एवं अर्थ पर विचार करेंगे। उसके बाद क्रमशः ब्रजभाषा और हिंदी खड़ीबोली की कविताओं पर विचार करेंगे।

उनकी संस्कृत की 'शिवाष्टकम्' है। इसमें शिव-पार्वती की महिमा का गुणगान है। कवि उनके रूप एवं सौंदर्य का वर्णन इन पंक्तियों में करता है-

''शीतांशुशुभ्रकलया कलितोत्तमांग,
ध्यान स्थितं धरणिभृतनयार्चितं
कालानलोपमहलाहलकृष्णकंठं
विशेश्वरं कलिमलापहरं नमामि''

कवि द्विवेदी शिव-पार्वती को नमस्कार करते हुए कहते हैं- शिवचंद्रमा की शुभकला से सुशोभित हैं। जिनके शिरोभाग योगध्यान में मग्न है। जिनकी पार्वती ने पूजा की है। जिनका कालानल के समान हलाहल से कृष्ण-वर्ण हो गया

है उनका कंठ और ये कलि के मल का नाश करने वाले हैं। अर्थात् दुर्गुणों को मिटानेवाले हैं। संस्कृत की इनकी दूसरी कविता है-'प्रभात वर्णनम्'। इसमें सुबह का बहुत सुंदर ढंग से उन्होंने वर्णन किया है। इसमें सूर्य, अँधेरे और तारों को प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। कविता की पंक्ति है-

''मृगाधिपस्यागमनेन सर्वे
यथाल्पसत्वा विपिनं त्यजन्ति
तथा भयेनेव विभाकरस्य
तारागण लोपपरा बभूव:''

अर्थात् जंगल में सिंह के आते ही जिस प्रकार सब छोटे-छोटे जंगली जीव जंगल छोड़ कर अन्य भाग जाते हैं, ठीक उसी प्रकार सूर्य के भय से भयभीत होकर तारों का लोप होने लगता है। यहाँ सूर्य सिंह का और तारे छोटे-छोटे जंगली जीवों का प्रतीक है। इसी कविता की एक और महत्त्वपूर्ण कविता की पंक्ति है जिसमें कवि ने सूर्य को अन्योक्ति के माध्यम से उसकी महिमा के बारे में कहता है-

''त्वया समस्तं तिमिरं निरस्तं
कृतो महानुग्रह एश देव?
खगा इदं बोधियतुं रविन्नु
तदुन्मुखा नीड़गृहेशुतस्यु:''

अर्थात् तूने सारे अंधकार का नाश कर हमारे उपर महान अनुग्रह किया है। क्या इस प्रकार सूर्य को कहने के लिए अपने अपने घोंसलों में उसकी ओर मुख करके ये सब पक्षी बैठे रहें? कहने का तात्पर्य है कि सुबह होने के बाद सभी पशु-पक्षी अपने आश्रय का त्याग देते हैं। और सूर्य के गुणमान करने की जगह अपनी उदरपूर्ति में जुट जाते हैं। क्योंकि केवल अनुग्रह का जाप जपते रहेंगे तो संसार का कार्य-व्यापार ही ठप्प हो जायेगा।

द्विवेदी जी सामाजिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों, पाखंडों एवं आध्यात्मिक जगत में व्याप्त ढेर सारी अंधभक्ति पर अपने लेखों से प्रहार करते रहते थे। उनकी आलोचना दृष्टि से ब्रह्मा भी नहीं बच सके। पंडितों की आस्था पर इसकी चोट लगी। उनकी मूर्खताओं पर व्यंग्य करते थे। इससे चिढ़कर एवं आहत होकर ब्राह्मण समाज द्विवेदी जी को नास्तिक कहने लगे। उनके आधुनिक चिंतन इन

रूढ़िवादियों से टकराने लगे। जिसका एक प्रकार से जवाब पंडितों को उन्होंने 'कथमहं नास्तिकः?' कविता में दिया है। उन्होंने नास्तिक कह जाने पर विश्वाधार के समक्ष अपना विनय रखते हैं और उससे जानना चाहते हैं मैं कैसे नास्तिक हूँ। ईश्वर से किया गया उनका यह प्रश्न आधुनिक साहित्यकारों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। कवि कहता है-

पत्रं न कंपयते धरणीरुहाणा
माज्ञां विनैव तव तत्वविदो वदन्ति।
जानामि सर्वमहमीश्वर! चेतसीदं
तर्हि प्रभो! कथमहो ननु नास्तिकोस्मि?

अर्थात् हे ईश्वर! आपकी आज्ञा के बिना पत्ता तक नहीं हिलता-यह बड़े-बड़े तत्वज्ञानी महात्मा कह रहे हैं। इस बात को हम भी भलीभाँति जानते हैं; अतः हे प्रभो! हम नास्तिक कैसे हैं। यह हमें समझ में नहीं आता है। वे अपने पक्ष में तर्क देते हैं कि जितने देव, मंदिर हैं, उनमें स्थापित मूर्तियाँ हैं, हम उनको नमस्कार करते हैं। लेकिन इस सत्य को हम सदैव स्मरण रखते हैं कि आप तो सारे जगत् में विद्यमान हैं। केवल प्रतिमाओं में मेरा अतिशय प्रेम नहीं है। और अंत में कवि आक्षेपों का उत्तर देते हुए निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि-

''किं भूयसास्ति? भगवान! न बिभेमि नूनं;
लोका ब्रुवन्तु नितरामहि नास्तिक माम।
विश्वमं विलोकयति नेत्रयुंगच याव-
ज्ञावद्भवाहि भुवनेश! न तादृश्योहम।

अर्थात् हे भगवान! और अधिक कहना-सुनना व्यर्थ है। हमको सब लोग यथेच्छ नास्तिक कहें; हम डरते नहीं। हे भुवनेश! जब तक हमारे दोनों नेत्र आपके निर्मित इस संसार-चक्र को देख रहे हैं, तब तक हम किसी प्रकार नास्तिक नहीं हो सकते। दरअसल, द्विवेदी जी की आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि व्यापक के साथ ही सूक्ष्म थी। आधुनिक जगत में होनेवाले नवीन परिवर्तन से उनकी चेतना जुड़ी थी। सदियों से भारतीय समाज, जिन धार्मिक रूढ़ियों, अज्ञानता एवं अंधविश्वास के कारागार में बंद होकर जी रहा था। उनको नई ज्ञान की रोशनी में बाहर निकालना चाहते थे। वे इस मामले में कबीर, गुरुनानक, रैदास जैसे प्रतिरोधी संत परंपरा के कवि ठहरते हैं। कविता भले ही संस्कृत में हैं लेकिन उनकी काव्य-चेतना व

तत्वज्ञान जड़ताओं से पूरी तरह मुक्त है।

द्विवेदी जी की संस्कृत की इन कविताओं के बाद उनकी ब्रजभाषा में लिखी कविताओं पर विचार करेंगे। ब्रजभाषा उनके काल की लोकप्रिय काव्यभाषा थी। और इसमें भक्तिकाल, रीतिकाल से लेकर आधुनिक काल के कवियों ने अपनी रचनाएँ की हैं। हिंदी खड़ीबोली कविता की भाषा नहीं बनी थी। भारतेंदु ने भी कविताएँ ब्रजभाषा में ही लिखी हैं। यह पूर्व से चली आ रही परिपाटी थी। क्योंकि इसमें लिखनेवाले कवियों को तुरंत पहचान मिलती थी। यह कवियों के जीवन-संस्कार में शामिल थी। द्विवेदी जी ने भी कुछ कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी हैं। इसका एक कारण यह था कि वह अपने समकालीनों को प्रोत्साहित करना चाहते थे कि आधुनिक संवेदनाओं को वहन करने में ब्रजभाषा भी सक्षम है। उनकी ब्रजभाषा की सबसे चर्चित कविता है -'भारत दुर्भिक्ष'। जो 11 मार्च 1897 ई. में 'हिंदोस्थान' में छपी थी। यह कविता उस दौर की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। यह कविता कवि की युग-चेतना के यथार्थ को बयाँ करती है। ब्रिटिश हुकूमत के तले देश की जनता की हालत कैसी थी, कितनी भयावह परिस्थितियों में उसे मरने के लिए छोड़ दिया गया था, इसका दर्दनाक चित्रण कवि ने किया है। अकाल, भुखमरी, बेरोजगारी के शिकार किसान, मजदूर, युवा, बच्चे एवं औरतें भूखों तड़प-तड़प कर काल के मुँह में समा रहे थे। भारतेंदु का नाटक 'भारत दुर्दशा' की व्यथा को द्विवेदी जी की यह कविता विस्तार देती सी जान पड़ती है। साधारण लोगों की दयनीय स्थिति एवं पीड़ा को कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है-

''शक्ति नहीं जिनके बोलन की तकि तकि मुख फैलावै
सींक समान पैर लीन्हें बहु रोवत गोबर खावै
गुठली खन हेत बेरन की ढूँढ़त सोउ न पावै
पग-पग पर चलै, गिरै पग-पग पर आरत नाद सुनावै।''

मौत का तांडव-नृत्य मानो कवि की आँखों के सामने हो रहा था, अपने स्नेहियों को काल-कराल के मुँह में जाने से कोई बचा नहीं पा रहे थे। इस भीषण परिस्थितियों की एक झलक इन पंक्तियों में देख सकते हैं-

''अतिहि कराल काल के मुख ते किहि किहि कौन बचैं हैं,
मृतक देखि पति पुत्र प्राण सम नारी गरल अचैं हैं।

बैठि उलूक मंदिरन उपर बाँधी ध्वजा लचैं हैं,
वायस, श्वान, श्रृगाल पैठि घर हाहाकार मचैं हैं।।''

पशु-पक्षी सभी इस दुर्भिक्ष के शिकार हो रहे हैं। उनके बीच भी अन्न को लेकर हाहाकार मचा है। द्विवेदी जी की अकाल के इस करुणाजनक पंक्तियाँ हिंदी के प्रगतिवादी कवि बाबा नागार्जुन की कविता-'अकाल और उसके बाद' की दारुण चित्रण की याद दिलाती हैं। बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध में देश की जनता ने घोर अकाल का सामना किया है। जो भूमि के स्वामी थे, वह 'भिक्षुक' बन गये। कितने कुलीन परिवार की स्त्रियाँ अपनी प्रतिष्ठा नहीं बचा पा रही थीं। मर्यादाएँ लुट रही थीं। छायावादी महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की कविता 'भिक्षुक' इसी अकाल की भीषण परिस्थितियों की पैदाइश है। वरिष्ठ कवि-आलोचक भारत यायावर ने अपने शोधपूर्ण लेख- 'यह निराला का भिक्षुक कौन है?' में इस सत्य को स्थापित किया है। ये भिक्षुक पूर्व में भूमि के मालिक थे। उनकी आर्थिक दशा सुदृढ़ थी। उनको भिक्षुक बनने पर पछतावा होता है। द्विवेदी जी की मार्मिक पंक्तियों में साम्राज्यवादी लूट और प्राकृतिक प्रकोप की युगलबंदी से उत्पन्न मानवविरोधी कष्टप्रद जीवन स्थितियों का मानो स्कैन है। इसी सिलसिले में ब्रजभाषा में लिखी उनकी एक और बेहद ह्रदय-विदारक कविता- ''त्राहि! नाथ!! त्राहि!!!'' है। इसका जिक्र करना अनिवार्य है। यह कविता 29 नवंबर 1897 में 'हिंदी बंगवासी' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। कवि इस कविता में जगत-नियंता स्वामी जगदीश को संबोधित करते हुए भारत के वर्तमान हालत पर आँसू बहाता है। ईश्वर से देश की जनता को भयंकर विपत्ति से बाहर निकालने की याचना करता है। कविता अकाल, भूकंप, युद्ध की स्थितियों में देशवासियों की चिंता, परेशानी, भुखमरी, रोग से पीड़ित जनता के मर्म को छूती है। अकाल एक प्राकृतिक प्रकोप है। लेकिन इसका प्रहार जो सहता है, वहीं इसकी भयावहता का अनुभव कर सकता है। इंसान को जिंदा रखनेवाले अन्न, पानी कुछ भी नहीं मिलता है। नदी, तालाब, कुआँ तक सूख जाते हैं। सपरिवार जिंदगी और मौत से दिन-रात जूझते रहते हैं। कीमती पशु-'धन को कोई कौड़ियों के मोल नहीं खरीदना चाहता है। सबको अपनी-अपनी जिंदगी को बचाने की चिंता सता रही है। द्विवेदी इस कविता में मानो आँखों देखा हाल बता रहा है-

''अन्न अन्न अवसन्न पुकारते भरों प्रज्ञा अकुलाई,

खाल बाल अरु अस्थिजालमय भये शरीर सुखाई।
पुत्र प्राण प्रिय सेर चून लगि गए अनेक बिकाई,
दयानिधे! सेउ सकाल दीख तुम पै हिय दया न आई।''

स्थिति इतनी विस्फोटक हो गई है कि अकाल में इंसान के लिए मानो कुछ नहीं बचा है। खाने को भूसा नहीं मिल रहा है। मूसा घर छोड़कर भाग गये हैं। कुल-मर्यादा, धर्म सब नष्ट हो गये हैं। कवि ईश्वर की ओर दृष्टि ले जाना चाहता है-

''मिलै घास भेसा नहिं ढूँढे, मूसा घर तजि भागे,
रुपया अश्व अठन्नी, महिषी बैल चवन्नी लगे।
भए सुजाति कुजाति धर्म बिंदु कुल मर्यादा त्यागे
सुख से सोवत रहे शेष पै तौहू तुम नहिं जागे।

अकाल के बाद दूसरी विपदा बाढ़ आई तो कई जिंदगियों को निगल गयी। गाँव और शहर इसकी चपेट में आने से श्मशान बन गया। चारों ओर मौत का आतंक व हाहाकार छा गया। इसका कविता में कवि मार्मिक चित्रण करता है-

''यह जो भयो, भयो सो सब, अब मरी मरी है आई,
धरि त्रिविक्रम रूप आदि महं प्रतिदिन बाढ़त जाई।
मुंबापुरी, कराची, पूना, सूरत सारी खाई,
तौहू तृप्ति भई याकि नहिं, अधिक अधिक अधिकाई।''

'मेघोपालंभ' कविता 4 सिंतबर 1889 में 'बंगवासी' में प्रकाशित हुई थी। इसमें कवि बादल से अपना दुखड़ा सुनाता है। क्योंकि उसके कारण लोग स्वयं को दीन-हीन समझ रहे हैं। किसानों की दशा खराब हो गई है। खेतों में लगी फसल तुम्हारे जल के बिना मर रही है। पशुओं को पीने का पानी और खाने को कहीं चारा नहीं मिल रहा है। कवि अपने चारों ओर के विभीषक परिदृश्य से मेघ को अवगत कराता है। फिर उससे वर्षा करने के लिए याचना करता है। मेघ धरती की समस्त वनस्पतियों का जीवनदाता है। उसके जल से यह धरती हरी-भरी लगती है। यह सभी प्राणियों का आधार है। इससे सृजन और ध्वंस दोनों होता है। इस कविता की पंक्तियों में आप निराला की 'बादल राग' कविता का स्वर भी सुन सकते हैं। कवि मेघ को उपालंभ देने के बहाने कृषि जीवन से जुड़ी चिंताओं और मानवीय संबंधों के दर्द को व्यक्त करता है-

''देखै कहूँ-कहूँ जु श्यामलता-वितान,
ज्वारी, तिली, मृदुल मुदगल, मोठ, धान।
ज्यों-ज्यों सुखाहिं नित ते, दुखिया किसान,
त्यों-त्यों करैं रुदन, सूखत जात प्रान।''

बारिश नहीं होने पर वापी, तालाब, कुआँ सूखने लगे हैं। पशु-पक्षी बिलबिलाने लगे हैं। रोग बढ़ रहे हैं। लोग बिना पानी के स्वयं को अभागा समझ रहे हैं। जीवन में त्राहि-त्राहि मचा हुआ है। घास सूख गई है। कवि यह दृश्य देखकर इन पशु-पक्षियों एवं छोटे-छोटे जीव-जंतु करुणार्द्र हो उठता है-

''वापी, तड़ाग अरु कूप सुखाने लगे,
पशु-पक्षी अबहिं तो बिलबिलाने लगे।
रोग प्रजाविपिन-तीक्ष्ण-कुठार जागे
पानी बिना न बचिहै इकहू अभागे।''

ब्रजभाषा में ही उन्होंने हिंदी खड़ीबोली को लेकर हिंदी भाषा की समस्या और उसकी गरिमा-महिमा पर-जून 1898 ई 'नागरी! तेरी यह दशा!!' कविता लिखी। द्विवेदी जीं हिंदी खड़ीबोली को काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृति दिलाने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से आंदोलन चला रहे थे। ब्रजभाषा में कविताएँ लिखी जा रही थीं। लेकिन खड़ीबोली की उपेक्षा की जा रही थी। जबकि इसमें मानव जीवन के भावों, विचारों, कल्पनाओं एवं चिंतन के हर पक्ष को अभिव्यक्त करने की योग्यता है। हिंदी की दीन-हीन दशा पर कवि काफी दुखित होता है। क्योंकि इस भाषा में कई महाकवियों की वाणी रचना के रूप में सुरक्षित एवं संरक्षित है। कवि की पीड़ा इस प्रकार व्यक्त हो रही है-

''श्रीयुत नागरि! निहारी दशा तिहारी,
होवै विषाद मन माहिं अतीव भारी।
हा! हन्त लोग कत मातु तुम्हैं बिसारी,
रौवैं अजान उरदू उर माहिं धारी।''

कवि नागरी के पक्ष में अपना तर्क देता है कि भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन कवियों-तुलसी, सूरदास, खानखाना, क्षेमेद्र, केशव ने अपनी कीर्ति इसी भाषा में पाई। उनके काव्यों की महिमा इसी भाषा फैली है। फिर भी नागरी को आज सम्मान नहीं मिल रहा है। उसे अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है,

यह चिंता की बात है-

''श्री सूरदास, तुलसी, अरु खानखाना,
क्षेमेंद्र, केवश, कवीद्र, कवीश नाना।
छायों दिगंत यश जो इनको अपारा,
सो है प्रसाद तव नागरि! देवी! सारा।।

इसी भाषा प्रेम और समर्पण का दूसरा रूप उनकी एक और कविता- 'नागरी का विनय पत्र' में दिखाई पड़ता है। नागरी अपना विनय विद्वानों से करती है कि मेरा प्रचार-प्रसार तो खूब हुआ लेकिन मुझे न्यायालयों में प्रवेश करने नहीं दिया गया। शासकों के कामकाज की भाषा बनने से वंचित रखा गया। ब्रिटिश सरकार ने भी नागरी के उत्थान के लिए कोई प्रयास नहीं किया। अदालतों की भाषा फारसी रही। बोलचाल में उर्दू का दबाव रहा। नागरी अपनी दयनीय दशा पर विनय करती है कि-

''मेरे प्रचार हित यत्न भए अनेका
पै हा! अभाग्यवश सिद्ध भयो न एका।
न्यायालयादि महं होय न मत्प्रवेश;
कासों काहौं अपनि दीनदशा महेश!
मेरे सुयोग्य सुत जे, तिन धैर्य धारी,
कीन्हे उपाय बहु, देखि दशा हमारी।
काहू सुनी न अबलौं मम दुख गाथा;
आवै हिए मरहुं आपन फोरि माथा।''

इसी तरह द्विवेदी जी ब्रजभाषा में लिखी कविताओं में- 'अयोध्या का विलाप', 'श्रीधर सप्तक', 'कृतज्ञताप्रकाश', 'मांसाहारी को हंटर', बाल-विधवा', 'महिला परिषद के गीत' कविताएँ नवीन चेतना से भरी हैं। द्विवेदी जी समाज में नारी को पुरुषों के समान अधिकार दिलाना चाहते थे। वे महिलाओं की स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय के पक्षधर थे। उन्हें सुशिक्षित देखना चाहते थे ताकि वे सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, जड़ताओं से मुक्त होकर जीवन को सुंदर बनाने की दिशा में सोच सकें। उनकी नारी से संबंधित कविताओं में 'द्रौपदी वचन बाणावली', 'कुमुद सुंदरी', 'रंभा', 'महाश्वेता', 'उषा-स्वप्न', 'कान्यकुब्ज अबला विलाप', 'इंदिरा', 'गौरी', प्रियंवदा' जैसी इतिहास प्रसिद्ध और धार्मिक

ग्रंथों की चर्चित नारियों के रूप, रंग, सौंदर्य एवं गुणों पर लिखी कविताएँ शामिल हैं। इन कविताओं में नारी के प्रति कवि की प्रतिशील दृष्टि झलकती है। उन्होंने सुप्रसिद्ध चित्रकार राजारवि वर्मा द्वारा इन महिलाओं पर बनाये गये चित्रों को देखने के बाद अपनी भावनाओं का उद्‌गार इन कविताओं में व्यक्त किया है। जो सुंदर है। आज भी कवि किसी चित्र को देख कर कविता करते हैं। द्विवेदी जी ने भारत की इन आदर्श नारियों को सम्मान देकर अपनी कविता में जीवंत बना दिया है। यहाँ उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताओं पर विचार करना चाहेंगे। 'बाल-विधवा' भारतीय हिंदू समाज के लिए किसी अभिशाप से कम नहीं है। असमय विवाह और पति की मृत्यु से किशोरावस्था में ही नारियों के जीवन में वैधव्य भुगतना पड़ता है, वह अतिदारुण है। उनके लिए यह जीवन किसी मौत से कम नहीं होती है। बाल-विवाह ने ही बाल-विधवा की चिंताजनक स्थितियों को जन्म दिया। द्विवेदी जैसे संवेदनशील कवि भला उनकी पीड़ा को देख कर चुप कैसे रह सकते थे। कवि ने बाल-विधवा के मुख से ही उनकी वेदना को प्रकट कराया है। वे अपने बारे में कहती हैं-

''गर्भपात कत हा! विधना न कीन्हा?
काहे न जन्मतहि मो कहं मृत्यु चीन्हा?
रोगादिहू न अबलौं मम जीव लीन्हा?
रे दैवनिस्करुण! दुसह दु:ख दीन्हा!!
धिक्कार तोहिं भारतदेश
धिक्कार सभ्य सुदायहु निर्विशेष!
धिक्कार बुद्धिबलवैभव को हमेशा!
पावैं जहाँ निबल नारि इति कलेशा।''

'महिला परिषद के गीत' से द्विवेदी जी महिलाओं में नई जागृति पैदा कर रहे थे। महिलाएँ आधुनिक समाज में स्वयं ज्ञान, शिक्षा से समृद्ध होना चाहती है। यह कविता 1905 ई. में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। महिलाएँ अपनी बहनों को समय के बदलाव को समझने के लिए प्रेरित करती हैं। अज्ञानता के महा-अंधकार से निकलने की परिषद में चर्चा करती हैं। उनके लिए पहली आवश्यकता शिक्षा है-

''शिक्षामृत पान करो चित्त को लगाई

जीवित-साफल्य हेत अतिशय गुणदायी
विद्या की आदि देवी-स्त्री ही जग में प्रसिद्ध
देख के हमारी वह घोर मूर्खताई
आओ सप्रेम उसे नेम से प्रसन्न करें
अपनी उन्नति ही से है सभी की भलाई।''

ब्रजभाषा में लिखी इन कविताओं के बाद अब हम द्विवेदी जी की हिंदी में लिखी कविताओं पर विचार करेंगे। उनकी हिंदी की कविताओं में भी वही सब समस्याएँ हैं जो ब्रजभाषा की कविताओं के विषय रहे हैं। इनमें उनका मातृभूमि के प्रति अपार प्रेम, ऐतिहासिक गौरव गान, विराट सनातन संस्कृति की महिमा का गुणगान मिलता है। इनकी राष्ट्रीय चेतना काफी प्रगतिशील है। अतीत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों दृष्टि से भारत के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक उन्नति पर विचार करते दिखाई देते हैं। देश की पराधीनता का बोध और उससे मुक्ति का शंखनाद भी है। इनके यहाँ 'भारत', 'सरस्वती' पत्रिका स्वयं अपने देश की जनता के दुख, पीड़ा, अशिक्षा, पिछड़ापन, गरीबी, अकाल, भुखमरी पर चिंता करते हैं। वहीं कवि भी भारत एवं यहाँ की जनता की बदहाली के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। उनकी कविताओं में 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना', 'सरस्वती की विनय', 'जन्मभूमि', 'स्वदेशी वस्त्र स्वीकार', 'वंदे मातरम्', 'प्यारा वतन', 'आर्यभूमि', 'देशोपालंभ', 'जै जै प्यारे भारत देश', 'वर्तमान दुर्भिक्ष', 'हमारे प्रतिनिधि, 'आपदाओं का स्वागत', 'स्वार्थ सप्तक' 'ज्ञानोदय', 'मेरे प्यारे हिंदुस्तान' जैसी कविताएँ उल्लेखनीय कही जा सकती हैं। शीर्षक से ही इन कविताओं की अर्थध्वनि हो रही है। इनमें नवजागरण एवं राष्ट्रीय भक्ति भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

फरवरी 1902 में 'सरस्वती' में 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' कविता प्रकाशित हुई थी। इसमें भारत स्वयं अपनी दुर्दशा और लोगों की पीड़ा का बयाँ करता है। वह ईश्वर से विनती करता है कि-

''आलस्य, मोह, मद, मत्सर, में हमारे
जो ये मनुष्य सब डूब गये बिचारे,
सो तौ गये; न उनका अब आसरा
हे नाथ! हाल इनका अति बुरा है।''

भारत अपने देशवासियों को श्रम, शिल्प, कला, सिखाने, धन-धान्य से संपन्न करने, निरोग और बलवान होने की प्रार्थना करता है-

''उद्योग और व्यापार शिल्प कला सिखाओ
व्यापार में मन सदा इनका लगाओ
विद्या विवेक, धन-धान्य सभी बढ़ाओ
आरोग्य और बलवान इन्हैं बनाओ''

यह विनती भारत की नहीं, इसमें रहनेवाले संपूर्ण भारतवासियों की भी है जो उस वक्त आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा, स्वास्थ्य, समृद्धि हर तरह से कमजोर थे। एक संपन्न भारत को ब्रिटिश साम्राज्य ने यहाँ का धन लूट कर, कल-कारखाने को चौपट कर एवं किसानों को दरिद्र बना कर विपन्न कर दिया था। इस दर्द का स्वर सबसे पहले भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक 'भारत दुर्दशा' में सुनाई पड़ा। 'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई/ हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई' उनकी प्रसिद्ध पंक्ति आज भी भुलाए नहीं भूलती।

इसी तरह कवि द्विवेदी ने एक और प्रयोग किया है कि 1903 में 'सरस्वती' का दायित्व सँभालने के बाद उसकी प्रगति एवं गुणवत्ता पर विचार करने लगे। बेहतर अंक निकालना उनका लक्ष्य हुआ। लेकिन कैसे निकलती यह सुंदर रीति से। उनके सामने कई समस्याएँ थीं। ग्राहकों की संख्या बढ़ाना उनकी पहली प्राथमिकता थी। 'सरस्वती की विनय' कविता में सरस्वती स्वयं अपनी दशा के साथ ही जन-जन के कष्टों को वाणी देती है। वह वाचकवृंद, ग्राहक, विज्ञापनदाता, संपादक के सुख की कामना करती है। पत्रिका हिंदी प्रदेश के पाठकों की समस्याओं के साथ ही ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों से ईश्वर को अवगत कराती है। प्रकाशन में आनेवाली हर प्रकार की बाधाओं पर विश्वाधार से दूर करने को कहती है। 'सरस्वती' कविता की ये पंक्तियाँ इसकी साक्षी हैं-

''पड़ता कहीं अकाल वर्ष भर जगदीश्वर!
कितना दारुण दु:ख लोग जाते हैं भू-पर।
तीन वर्ग से कष्ट उसी विध मैं सहती हूँ,
शपथ तुम्हारी नाथ! सत्य यह मैं कहती हूँ।''

सरस्वती सभी के सहयोग की आकांक्षी है। क्योंकि वह स्वयं को अबल-अबला हितकारक कहती है। इसका कारण है कि अभी-अभी उसका

जन्म हुआ है। वह अभी बालिका है। कवि द्विवेदी ने 'सरस्वती की विनय' के माध्यम से अपने जमाने की हर साहित्यिक पत्रिका की समस्याओं एवं बाधाओं को उठाया है। पत्रिका स्वहित एवं देशहित दोनों पर आनेवाली विपत्तियों से मुक्ति की प्रार्थना भगवान से करती है।

'जन्मभूमि' कविता फरवरी 1903 में 'सरस्वती' में छपी थी। कवि इस कविता में अपनी मातृभूमि के प्रति प्यार और मानवता के प्रति निष्ठा प्रदर्शित करता है। देश के प्राचीन गौरव को स्मरण करता है। वे यहाँ रहनेवाले सभी प्रकार के प्राणियों से रागात्मक संबंध रखते हैं। पशुओं एवं पक्षियों में भी यह रागात्मक प्रेम है। यह प्रेम इस बात से समझा जा सकता है कि पशु-पक्षी दिन भर विचरण करते हैं, लेकिन शाम को अपने आश्रय की ओर लौट आते हैं। कवि अपनी मातृभूमि को दुनिया में सबसे अधिक प्यार करता है-

''यह जो भारत भूमि हमारी,
जन्मभूमि हम सबकी प्यारी
एक नेह सम, विस्तृत भारी
प्रजा कुटुंब तुल्य है सारी
यदि कोई पीड़ित होता है
उसे देख सब घर रोता है
देश दशा पर प्यारे भाई!
आई कितनी बार रुलाई।''

कवि की इन पंक्तियों में मानवीय संवेदना काफी ईमानदारी पूर्वक व्यक्त हुई है। भारीय जनता की करुणा के महत्व को दर्शाया गया है। 'यदि कोई पीड़ित होता है/ उसे देख कर सब घर रोता है' इस पंक्ति में व्यापक भाव व्यंजना है। जैसे लोगों की आत्मा ही भारतीय आत्मा है। एक दुख, सबका दुख, एक का आँसू, सबका आँसू। यह कवि की गहरी मानवीय संवेदना से उपजा भाव है। भारतीय संस्कृति के दया, प्रेम, करुणा, जैसे मानवीय मूल्यों को राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने में कवि कामयाब दिखता है। करोड़ों ह्रदय की एकता का भाव ही यथार्थ का श्रेष्ठ सौंदर्य है।

द्विवेदी जी की प्रसिद्ध कविता है-'स्वदेशी-वस्त्र स्वीकार'। यह कविता सरस्वती में 1903 ई. में छपी थी। यह कविता उस समय लिखी गयी थी, जब

महात्मा गाँधी का भारतीय राजनीतिक मंच पर उदय नहीं हुआ था। कविता स्वदेशी सामानों को खरीदने एवं विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने जनता को जागरूक करती है। बाद में यही स्वदेशी अपनाओं की भावना गाँधी जी की राष्ट्रीय-चेतना में ढल कर एक व्यापक जन-आंदोलन बन गयी थी। पूरा राष्ट्र आंदोलित हुआ था। क्योंकि अंग्रेज यहाँ से कच्चा माल अपने देश ले जाते थे। और वहाँ से निर्मित माल महँगे दामों पर हमारे देश में बेचते थे। इससे देश का आर्थिक दोहन हो रहा था। जनता कंगाल हो रही थी। द्विवेदी जी की स्वदेशी-चेतना इन पंक्तियों व्यक्त हुई है-

''विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं?
न सूझे है अरे भारत भिखारी!
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी!''

देश में हजारों लोग भूखे मर रहे हैं। चारों तरफ महा-अन्याय हो रहा है। अपने देश के लोग निर्धन हो रहे हैं। वहीं अंग्रेज लोगों के घरों में मानो सालों भर दीवाली है। हमारे देश के मशहूर काशी, चँदेरी की साड़ियों, ढाका का मलमल, नागपुर के सुंदर कपड़े का कोई नामलेवा नहीं है। सब नष्ट हो गये। देशवासियों को यह विपन्नता नहीं सूझ रही है। कवि इस कविता के माध्यम से स्वदेशी-वस्त्र खरीदने के लिए देशवासियों को प्रेरित करते हैं। यहाँ तक कि लोगों को धिक्कारते तक हैं-

''स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र को त्यागो,
न जावो पास, उससे दूर भागो।''

यही स्वदेशी की चेतना एक दिन पूरे भारत की जनता में लहर बन कर दौड़ गई थी। देश के चौक-चौराहों पर विदेशी कपड़ों की होली जला रहे थे। हम आज इस बदले भारत की जनता की स्वदेशी चेतना से जोड़ कर देखें तो कितना हास्यास्पद लगता है। हर व्यक्ति के घर में विदेशों कंपनियों के उत्पादों से भरा है। विदेशी वस्तुओं का विरोध आज केवल दिखावा और राजनीतिक स्टंट बनकर रह गया है। इसका एक कारण है कि उस समय भारत ब्रिटिश हुकूमत के अधीन

था। उसके हाथों में राजनीतिक सत्ता थी। लेकिन आज भारत स्वाधीन है। वैश्विक वातावरण में यहाँ के लोग रहे हैं। विदेशी वस्तुओं को लेकर कोई प्रतिरोध नहीं है। विश्व के साथ-साथ आत्मनिर्भरता की राह पर देश चल रहा है।

भारत वर्ष की भाग्यहीनता, उसकी पतनशीलता, पराधीनता, कीर्तिमान को लेकर कवि द्विवेदी 'देशोपालंभ' कविता में अपना दर्द एवं चिंता को जाहिर करता है। क्योंकि इतने विशाल देश का गुलाम होना बीसवीं सदी की सबसे बड़ी त्रासदी है। ऐसा दुर्भाग्य देशवासियों ने कभी नहीं देखा था। कवि भारत की दीनता पर मानो शोक प्रकट करता है। वह कहता है-

''स्वाधीनता-सदृश्य वस्तु न और प्यारी,
हे दीन-देश! वह भी न रही तुम्हारी।
व्यापार एक तुमको कर खूब आया,
आलस्य-मोह-मद-मत्सर-मंत्र भाया।''

दरअसल, यह पराधीनता देशवासियों को सुई से लेकर दियासलाई तक विदेशों से खरीदने के लिए विवश करती थी। इससे अपार धन बाहर चला जा रहा है-

''सुई, छड़ी तक, निकृष्ट दियासलाई
लेता सदैव सुख से फिरता पराई।
निर्लज्ज! सोच मन में कर क्या रहा है?
क्यों व्यर्थ ही धन अपार लुटा रहा है?''

इन पंक्तियों में भारतेंदु की पीड़ाभरी वह प्रसिद्ध पंक्ति भी शामिल है जिसमें वह कहते हैं- 'पै धन विदेश चलि जात, यहै है ख्वारी।' द्विवेदी जी 'छद्म' नाम से भी लिखा करते थे। उनकी 'एक ग्रामीण' में छद्मनाम से 'हमारे प्रतिनिधि' कविता 1915 में प्रकाशित हुई थी। यह कविता इक्कीसवीं सदी में भी उतनी ही प्रासंगिक लगती है, जितनी उनके जमाने में थी। जनता के बहुमत से चुनाव जीतने वाले जनप्रतिनिधि कितने धोखेबाज होते हैं कवि ने इस कविता में उनके चरित्र का यथार्थ चित्रण किया है। उनका चरित्र हमेशा दागदार रहा है। दुखी-भूखी, पीड़ित जनता की समस्याओं की ओर ये जनप्रतिनिधि कभी ध्यान नहीं देते हैं। लोगो को बुनियादी समस्याएँ हमेशा सताती रहती हैं वहीं नेता इनका हक मार कर शहरों में मौज उड़ाते हैं। विकास की जगह इनका खून ही चूसते हैं। जनता यहाँ

अपनी बदहाल परिस्थितियों एवं अपने जन-प्रतिनिधियों की नीयत पर सवाल करती है। उनकी कविता जनविरोधी रुख का पर्दाफाश करती है-

''न पूछें आप हम हैं कौन? क्या हैं?
दुखी हैं दीन भारत की प्रजा हैं।
कृपा यद्यपि बड़ी सरकार की है,
निरंतर दृष्टि हम पर प्यार की है।
हजारों कर्मचारी घूस लेते,
रुधिर सम धन हमारा चूस लेते।
न जो बेगार भुगतें मार पड़ती
नहीं इस जिंदगी पर क्षार पड़ती।''

जनता की शिकायतों की कोई सीमा नहीं है। जनता कहती है कि मेरी शिकायतें उतनी हैं, जितने हमारे शरीर में रोम हैं। जनप्रतिनिधि जनता के सुख-दुख में साथ नहीं देते हैं। जबकि ये हमारे सबसे करीब होते हैं। हमारे कष्टों को दूर करने के लिए कोई उपाय नहीं करते हैं। हमारी जिंदगी गम से भरी है-

''कहाँ तक हम कहें कष्ट कितने,
न होंगे देह भर में रोम इतने!
मगर प्रतिनिधि हमारे सो रहे हैं,
उन्हें क्या गम कि हम क्या हो रहे हैं।''

इसी तरह 'वर्तमान दुर्भिक्ष' कविता' में धनी लोगों की द्विवेदी जी खबर लेते हैं। 1914 में प्रकाशित यह कविता कठोर यथार्थ का परिचय देती है। धनवान व्यक्ति एक ओर अपनी दौलत को ऐश-मौज पर उड़ाते हैं, वहीं आम आदमी, किसान अपार कष्ट भोगते हैं। सामाजिक विषमता का यह चित्र मन को झकझोर कर रख देता है-

मनमाना विवाह आदिक में जो निज द्रव्य उड़ाते हैं;
रंडी-भड़ुओं को जो अपना अति औदार्य दिखाते हैं।
जो सहर्ष आपस के झगड़े में सर्वस्व लुटाते हैं;
वे ही जमींदार कृषकों पर जरा न दया दिखाते हैं।

उनकी एक और कविता का जिक्र करूँगा-'आपदाओं का स्वागत'। यह 1916 ई में 'सरस्वती' पत्रिका में छपी थी। यह कविता द्विवेदी की जिंदगी प्रति

मौलिक दृष्टि को प्रस्तुत करती है। व्यक्ति दुख, आपदा एवं परेशानी से दूर भागना चाहता है। जबकि सच्चाई यह है कि वह इससे कभी मुक्त नहीं हो सकता है। वह डरता है। घबराता है। जबकि द्ववेदी जी की जिंदगी में आपदाएँ विभिन्न वेश धरके आई हैं। लेकिन उन्होंने उनका स्वागत किया है। यही इस कविता का केंद्रीय भाव है। वे आपदाओं से घबराते नहीं हैं बल्कि उनका स्वागत करते हैं। क्योंकि ये आपदाएँ, परेशानियाँ, चिंताएँ मनुष्य को जागरूक करती हैं। उसके विवेक की परीक्षा लेती हैं। बचाव के लिए नये मार्ग खोजने को विवश करती हैं। प्राकृतिक एवं मानवीय दोनों प्रकार के दुख, समय एवं परिस्थिति को समझते हुए उससे उबरने की सीख देते हैं। वह आपदाओं को अपने प्रति पूरी निष्ठुरता से व्यवहार करने को कहते हैं। जो कोई साजिश रचना चाहता है, उसको वह उकसाने के लिए प्रेरित करते हैं। कहते हैं कि मेरे प्रति कभी द्रवित मत होना। तुमसे मेरा कभी अहित नहीं होगा। क्योंकि तुम जिसके पास गई हो, उस व्यक्ति को नई दृष्टि दी हो। कवि कहता है–

''जी भर के मुझे सताना; हरगिज तुम बाज न आना।
साहस, कर्म, सिखलाओ; मत कहीं द्रवित हो जाना।
बस मुझको धीर बनाओ,
आती हो आओ! आओ!
मैं जी का बड़ा कड़ा हूँ; मत कहना धृष्ट बड़ा हूँ।
स्वागत के लिए खड़ा हूँ; निज हठ पर आज अड़ा हूँ।
मुँह घूँघट में न छिपाओ।
आती हो आओ! आओ!

कवि का कहना है कि राम, ईसा को आज जो दुनिया में सम्मान प्राप्त है, इसकी वजह उनका कष्ट ही तो है। राम को वन गमन करना पड़ा तो ईसा को सूली पर चढ़ना पड़ा। इसलिए मैं निर्भय हूँ। वह आपदाओं को पाहुनी कहते हैं। उन्हें प्यारी, मित्र, प्रिय, धृति कह कर संबोधित करते हैं।

निष्कर्ष रूप में द्विवेदी जी की समग्र कविताओं का आकलन इतने छोटे–से आलेख में संभव नहीं है। उनकी कविताओं में बीसवीं सदी के भारतीय नवचेतना की विभिन्न अनुगूँजें हैं। नवजागरण के कई ज्ञानात्मक संवेदना के पक्ष में दर्ज हैं। उनका सामाजिक, साहित्यिक, भाषिक एवं राजनीतिक सुधारवादी दृष्टिकोण

इन कविताओं में बार-बार उभर कर आता है। यह उनके समय की माँग थी। वह अपनी बातों को कभी-कभी गद्य में कहने के बजाय पद्य में कहते थे। नागरी प्रचारिणी सभा के अधिवेशन में पढ़ी गई 'संदेश' कविता इसका उदाहरण है। इसे कविता न कह कर अपने विचारों को रखने का काव्यात्मक व्याख्यान कहना ज्यादा अच्छा है। बावजूद, द्विवेदी जी की ये कविताएँ उपेक्षित नहीं कही जा सकती हैं। आधुनिक हिंदी कविता को काल्पनिक लोक से जमीन पर लाने वाले पहले कवि द्विवेदी जी हैं। भारतेंदु युग में कविता की भाषा ईश्वरीय भक्ति एवं निवेदन तक सिमटी थी। द्विवेदी जी ने राष्ट्रीय चेतना को विस्तार देते हुए उसे यथार्थवाद के करीब पहुँचा दिया। सुमित्रानंदन पंत ने यथार्थ के संबंध में जो घोषणा की है, वह द्विवेदी जी की यथार्थ दृष्टि के बाद की घटना है। इनकी कविताएँ नवजागृति की कविताएँ हैं। इतिहास, संस्कृति, धर्म, शिक्षा एवं समाज के प्रति देश की करोड़ों जनता को जगाना इनका लक्ष्य रहा है। वहीं अंग्रेजी हुकूमत का भारत भूमि से उखाड़ फेंकने का संकल्प भी है। प्राकृतिक आपदाओं ने भारतीय जनता को एक अभिशाप की तरह तबाह किया है। अकाल, बाढ़, भुखमरी यहाँ की जिंदगी की मानो दंतकथाएँ हैं। बहरहाल, द्विवेदी जी की कविताओं के विषय आज के कवियों की कविताओं के भी विषय हैं। सदी के अंतराल में भारतीय समाज बहुत कुछ अभी भी रूढ़ियों का दास बना है। उनकी सदी की अनेक समस्याएँ आज भी जीवित हैं। उनका निदान नहीं कर पाया है। हाँ, जहाँ तक इनकी कविताओं के शिल्प पक्ष की बात है, वह शुरू से ही कमजोर रहा है। अपने विचारों, भावों एवं चिंतन को कविता के माध्यम से लोगों के बीच केवल प्रस्तुत करना मुख्य उद्देश्य रहा है। इस लिए इनकी कविताओं में विषयवस्तु पर अधिक बल है और कलापक्ष गौण है। कुल मिला कर द्विवेदी जी हिंदी नवजागरण काल के जागरूक कवि हैं। इनका काव्य-व्यक्तित्व भारतीय परिवेश के प्रति बेहद संवेदनशील दिखाई पड़ता है। कविता का सौंदर्य पक्ष मावनता को कलंकित होने से बचाना है। सुखी-संपन्न भारत की जनता के जीवन में खुशहाली एवं प्रेम की हरियाली देखना उनका सपना रहा है।

हिन्दी भाषा के संस्कारक 'आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी'

डॉ. भूपेन्द्र हरदेनिया

खड़ी बोली हिंदी के उन्नायक, हिन्दी भाषा के उद्धारकर्ता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का जन्म 1921 वैशाख शुक्ल को जिला रायबरेली उत्तर प्रदेश के एक छोटे से ग्राम दौलतपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम हनुमंत द्विवेदी था और वे संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। लेकिन जब महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म हुआ तब उनके घर में दारिद्रय पसरा हुआ था। उनकी पढ़ाई लिखाई की शुरुआत संस्कृत भाषा के अध्ययन से हुई। घर पर ही उन्होंने शीघ्र बोध, अमरकोश, विष्णु सहस्त्रनाम और मुहूर्त चिंतामणि अपने चाचा से पढ़कर कंठस्थ कर लिए थे। 13 वर्ष की अवस्था में 18 कोस पैदल चलकर भी पढ़ने जाते रहे परंतु अंग्रेजी स्कूल की पढ़ाई पूरी नहीं कर सके। उसके बाद वह मुंबई गए, वहाँ उन्होंने गुजराती और मराठी जैसी विभिन्न भाषाओं के साथ टेलीग्राफी भी सीख ली। फिर रेलवे में नौकरी की, उसके बाद विवाह हुआ। दस रुपए तनख्वाह में से पाँच रुपए घर पर भेजते थे और पाँच रुपए में जीवन निर्वाह करते थे, वे अपनी ईमानदारी से चीफ क्लर्क तक पहुँच गए थे लेकिन एक दिन अपने साहब के व्यवहार से अप्रसन्न होकर उन्होंने एक सौ पचास रुपए मासिक की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। पत्नी से परामर्श किया तो वह बोली 'थूककर क्या कोई चाटता है भला' और बस उस क्षण से हिंदी के सौभाग्य सूर्य का उदय हो गया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी वह मनीषी थे, जिन्होंने हिंदी साहित्य को अपार निधि प्रदान की। उनके बारे में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी का कथन है कि 'यदि कोई मुझसे पूछे के द्विवेदी जी ने क्या किया तो उसे मैं समग्र आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। कुछ

लेखक ऐसे होते हैं जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से नहीं जानी जा सकती, द्विवेदी जी की साहित्य सेवा उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव हिंदी के समस्त साहित्य पर पड़ा है। हिंदी का वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।'

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी के एक ऐसे रचनाकार थे जिनकी उद्भट लेखकीय शैली, समालोचनात्मक दृष्टि, सम्पादन कला, साहित्य मर्मज्ञता और मार्गदर्शक के रूप में भूमिका देखते ही बनती थी। वे युग प्रवर्तक साहित्यकार थे। हिंदी को परिष्कृत, परिमार्जित, परिपुष्ट, प्रौढ़ और प्रांजल बनाकर खड़ी बोली को काव्य की सुसंस्कृत टकसाली भाषा बना देने का संपूर्ण श्रेय द्विवेदी जी को है। उन्होंने एक ओर गद्य भाषा खड़ी बोली को व्याकरण संगत और परिष्कृत रूप दिया तो दूसरी ओर भारतेन्दु और रीतिकालीन ब्रजभाषा के प्रभाव से काव्य भाषा को मुक्त करके गद्य और पद्य की एक ही भाषा खड़ी बोली को सरस्वती के माध्यम से इतना सशक्त और अनुशासित नेतृत्व दिया कि उनके मार्गदर्शन में जो हिंदी पनपी, वह हिंदी आज भारत की राष्ट्रभाषा है और राजभाषा भी। तीसरी ओर उन्होंने गद्य साहित्य के विभिन्न अंगों कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना आदि में स्वयं बड़ी गंभीरता से लिखा और अपने चारों ओर इसकी प्रेरणा देकर नए लेखक तैयार किए, अनुवाद में भी उन्होंने बराबर हस्तक्षेप किया। उन्होंने हिंदी काव्य में खड़ी बोली की स्थापना की और गद्य में भी खड़ी बोली को उच्चतम स्थान तक जाने योग्य बनाया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी को कविता लिखने की प्रेरणा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की तत्कालीन प्रसिद्ध पत्रिका 'कवि वचन सुधा' से मिली। वह ऐसा समय था जब लोग क्षेत्रीय बोली को हिंदी समझते थे इसे कुछ लोग स्टुपिड हिंदी कहते थे। तब हिंदी विकलांग थी, उसमें शब्दों का अकाल था तथा हिंदी उर्दू और हिंदी ब्रजभाषा का वैमनस्य चल रहा था। द्विवेदी जी ने 1891 ई. तक कविता की छोटी-छोटी 6 पुस्तकें लिखी। 1896 ई. में कुमारसंभव की भाषा, 1897 में ऋतुसंहार भाषा, मेघदूत और रघुवंश की समालोचनाएँ प्रकाशित की। 1901 में हिंदी 'कालिदास की समालोचना' ने उन्हें कीर्ति के शिखर तक पहुँचा दिया। 1903 में उनका काव्य संग्रह 'काव्य मंजूषा' और 'कुमार संभव सार' (अनुवाद) प्रकाशित हुए। 'बेकन विचार रत्नावली' और 'यामिनी विलास' अनुवाद किए।

16 जुलाई 1893 ई. को नागिरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई और 1900 ई. में उत्तर प्रदेश के न्यायालयों में हिंदी के प्रवेश और उर्दू के साथ समान अधिकार विषयक आंदोलन में द्विवेदी जी ने बड़ा सहयोग किया। 1900 ई. में सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, और 1903 ई. में वे सरस्वती के संपादक नियुक्त हुए। बस इसी समय से आचार्य द्विवेदी ने अपनी नयी संपादन कला से हिंदी का नेतृत्व किया। अपने अडिग संकल्प से शुद्ध हिंदी खड़ी बोली में काव्य रचना करने की नींव रखी उन्होंने मजदूर की तरह श्रम करके यह हिंदी का महल खड़ा किया। नयी काव्य भाषा को जीवन दिया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के विषय में कहा है कि ''पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुत सफाई आई। बहुत से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग ब्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में उनकी प्रेरणा से बहुत से नए लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा आदि दुरुस्त करके वे 'सरस्वती' में छाप दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीर-धीरे बहुत से कवियों की भाषा साफ हो गई।''

आचार्य द्विवेदी जैसा एकव्रत, निडर, स्पष्टवादी, स्वाभिमानी, हिंदी का सेवक दूसरा नहीं दिखाई देता। गौरवर्ण उन्नत ललाट, घनी मूँछें, विशाल देह, गम्भीर वाणी, क्रोधी और अनुशासन प्रिय, सरल निर्मल, सादा रहन-सहन, ईश्वर में दृढ़ विश्वास और अभिमान शून्य, लगनशील, द्विवेदी जी जितने विनम्र थे उतने ही कठोर भी थे। 1906 ई. में मेकडोनल्ड ने एक लेख में लिखा था कि 'भारत वर्ष के नालायक पंडितों से संस्कृत पढ़ने से विशेष लाभ नहीं'। तब द्विवेदी जी ने बड़ी निर्ममता से मेकडोनल्ड की आलोचना की और उसकी दलीलों का खंडन भी किया। लेकिन उनकी महानता का आधार उनका संयम था। उनका व्यक्तित्व ही शील था। वे हिंदी के क्षेत्र में डिटेक्टर और डिक्टेटर दोनों ही थे। हिंदी में फैसले लिखते थे। व्यवस्था पसंद व्यक्ति थे। उनकी बैठक, बड़े करीने से सजी होती थी। वे सत्यनिष्ठ, विनोदी और अतिथि प्रेमी थे। संतानहीन थे। पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने अपने घर में एक मंदिर बनाया। जिसमें लक्ष्मी और सरस्वती की मूर्ति के बीच में अपनी पत्नी की मूर्ति स्थापित की। लेखकों पर बहुत कड़ा अंकुश रखते थे। नीति, मर्यादा, सदाचार, धर्म, दर्शन और भारतीय मानदंडों को आधार बनाकर

लिखी गई रचनाएँ ही छापते थे। मान-सम्मान से दूर भागते थे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिंदी खड़ी बोली के उन्नायकों में अन्यतम हैं। वे भाषा सुधारक और साहित्य निर्माता के सर्वोच्च स्थान के एक मात्र अधिकारी हैं। राजनीति में जो स्थान गाँधी जी का था वही स्थान हिंदी में द्विवेदी जी का है। डॉ. श्यामसुंदर दास का यह कथन उचित ही है कि :- ''द्विवेदी जी ने किसी संस्था की स्थापना नहीं की परन्तु सरस्वती की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक तीन-तीन संस्थाओं का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया। हिंदी खड़ी बोली को व्याकरण संबंधी अराजकता से मुक्त करके उसे गद्य-पद्य की भाषा बनाने का श्रेय द्विवेदी जी को ही है।'' द्विवेदी जी ने ललकार कर कहा कि - ''सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपने निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। अपनी माँ को निस्सहाय निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा सुश्रुषा में रत रहता है। उस अधम की कृतज्ञता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।''

द्विवेदी जी युगान्तरकारी व्यक्ति थे। उन्होंने मौलिक और अनूदित लगभग 81 ग्रंथों की रचना। 20 हजार पृष्ठों का साहित्य लिखा। उनकी भाषा क्षमता, विषयों का गम्भीर अध्ययन तथा शैलियों पर उनकी पकड़ अद्भुत थी। उनकी पहली गद्य पुस्तक ''भामिनी विलास'' है। 19 अक्टूबर 1900 ई. में श्री वेंकटेश्वर समाचार में उनकी प्रथम खड़ी बोली की रचना 'बलीवर्द' प्रकाशित हुई थी। द्विवेदी जी ने सही मायने में हिंदी की कविता का चोला बदल दिया। उसे क्षेत्रीय प्रभावों से ब्रज, अवधी, बुंदेली आदि से मुक्त कर खड़ी बोली में ला दिया। वे व्यंग्य चित्रों के साथ समीक्षाएँ छापते थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, कामताप्रसाद गुरु, केशव प्रसाद मिश्र, ज्योतिप्रसाद निर्मल, निराला और अनेक बड़े-बड़े कवि और आलोचक उनसे प्रेरणा लेते रहे। बाबूलाल मुकुंद गुप्त, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, काशी प्रसाद जायसवाल, श्यामसुंदर दास और लक्ष्मीधर वाजपेयी से उनका भाषायी संघर्ष चला लेकिन द्विवेदी जी अडिग रहे और स्थिर रहे। उनके अथक परिश्रम से ही हिंदी में जनसुलभ सामान्य जातीय शैली का विकास हो सका। भाषा की शुद्धि को

लेकर निरंतर संघर्ष किया। वे सरस्वती के पर्याय बन गए थे।

द्विवेदी जी भाववादी रचनाकार थे और रस को महत्व देते थे। उनका मत था कि अंत:करण की वृत्तियों का नाम कविता है। वे मानते थे कि महाकवि का काव्य उच्च, पवित्र एवं मंगलकारी होता है। उन्होंने छंद को कविता का अनिवार्य लक्षण नहीं माना। छंदों की नवीनता पर जोर दिया। संस्कृत वृत्तों और उर्दू के छंदों के प्रयोग के वे पक्ष में थे। अर्थ सौरस्य को वे कविता का प्राण मानते थे। कविता को अश्लीलता और ग्राम्यता से बचाना चाहते थे। कविता को उन्होंने नारी की मांसल चेष्टाओं से बाहर निकालकार व्यापक जीवन से जोड़ दिया। 'सरस्वती' उनकी कर्मशाला थी। उस कर्मशाला में उन्होंने बड़े-बड़े लेखक और कवि, समीक्षक और संपादक तैयार किए तथा हिंदी की आधारशिला रखी। पंत जी ने ठीक ही लिखा है द्विवेदी जी के लिए कि -

अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार
द्विवेदी जी हिंदी के प्रहरी थे, सूत्रधार थे।

उन्होंने 'कल्लू अल्हैत', 'गजानन गणेश', 'गर्वखंडे', 'पर्यालोचक', 'कमल किशोर त्रिपाठी' आदि कई छद्म नामों से लिखा।

भारतेन्दु खड़ी बोली में कविता नहीं कर सके। वे ब्रजभाषा के कवि थे। द्विवेदी जी ने ब्रजभाषा को अपदस्थ करके खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाया। द्विवेदी जी के उन अथक प्रयासों के कारण ही हिंदी आज राष्ट्रभाषा है। अस्तु यह द्विवेदी जी की चेतना के फलस्वरूप ही आज हिंदी छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद, और नई कविता की जीवन दृष्टियाँ प्राप्त कर सकी है। यह द्विवेदी जी की आत्मशक्ति के कारण ही संभव हुआ है। उन्होंने भारतेन्दु युग की चुनौतियों को भी झेला और यथानुरूप भाषा विषय वस्तु तथा शैली को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत भी किया। द्विवेदी जी का साहित्य और सरस्वती मंडल के रचनाकारों का लक्ष्य सामाजिक प्रयोजन रहा।

1873 ई. में भारतेन्द्र ने 'कालचक्र' में लिखा है कि 'हिंदी नये चाल में ढली। 1903 ई. में द्विवेदी जी ने एक ऐसा दर्पण सामने रख दिया कि उसमें देख-देखकर खड़ी बोली सँवरने लगी। द्विवेदी जी की आत्मशक्ति ने खड़ी बोली को चलना और दौड़ना सिखाया। द्विवेदी जी स्वयं 1900 ई. के पूर्व 1892 ई. तक ब्रजभाषा में लिख रहे थे, लेकिन सरस्वती का संपादकत्व ग्रहण करने के साथ ही

उन्होंने खड़ी बोली को ही हमजोली बनाया और उसी पर काम किया। उन्होंने सरस्वती में ब्रज पर लगभग अंकुश लगा दिया था। द्विवेदी जी के अंकुश और प्रेरणा से 1900 से 1920 की अवधि में निराला की 'जूही की कली', प्रसाद का चित्राधार, करुणालय, कानन कुसुम, प्रेम पथिक, झरना, महाराणा का महत्व, गुप्त जी की भारत भारती, जयद्रथ वध, किसान, पंत की वीणा, ग्रंथि, पल्लव, हरिऔध की प्रियप्रवास, रामनरेश त्रिपाठी का पथिक की भाषा और खड़ी बोली के तेवर देखन लायक हैं।

द्विवेदी जी को हिंदी-उर्दू विवाद के बीच से हिंदी खड़ी बोली को साफ निकाल लेने में सफलता मिली। उन्होंने भाषा में तत्समता और भारतीयता को उचित स्थान देकर खड़ी बोली को जातीय शैली प्रदान कर दी। भारतेन्दु ने हिंदी को बड़े विशाल पैमाने पर भावकल्प दिया और द्विवेदी जी ने उस भावकला को भाषा दी। खड़ी बोली दी तथा गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से उसमें अभिव्यक्ति मंत्र दिया।

द्विवेदी जी अपने समय के सचेता लेखक थे, उन्होंने स्वयं अपने समय की अनेक समस्याओं पर लिखा। अबलाओं की दुर्दशा, दुर्भिक्ष, बीमारी, और सामाजिक पतन पर लिखा-

अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा जाता है।
दुख सागर में डूब रहा है अबलाओं का जीर्ण जहाज।

स्वदेशी प्रेम को लेकर उन्होंने लिखा-

विदेशी वस्त्र हम क्यों ले रहे हैं
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं।
हजारों लोग भूख से मर रहे हैं।

'सरस्वती' राष्ट्रीय धारा की पत्रिका थी। द्विवेदी जी का प्रभाव बहुमुखी था। देश की हर समस्या पर उनका ध्यान था। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, भाषा संबंधी या किसी भी प्रकार के विचार उनसे नहीं छूटे पाये। परिणाम यह हुआ कि उनका प्रेरित साहित्य राष्ट्र के उत्थान का स्रोत बन गया। लोगों का स्वाभिमान जाग उठा।

द्विवेदी जी प्रकृति प्रेमी भी थे। वे समाज सुधार कुरीति निवारण और अनेक सामाजिक समस्याओं के प्रति बहुत सचेत थे।

छोड़ो सब कुरीतियाँ कुल की। छोड़ो अब तो निठुराई
बहुत हो चुका कनवाजिथापन, सुनिए हे प्यारे भाई।।

द्विवेदी जी सच्चे मानवधर्मी थे। उनके काव्य की आत्मा राष्ट्रीय और सामाजिक थी। परन्तु उसका परिधान धार्मिक था। सर्वधर्म समन्वय, मानव प्रेम, और मानव एकता के वे प्रबल पक्षधर थे। लोक कल्याण, नैतिकता, आदर्शों की प्रतिष्ठा और मानव प्रेम से उनकी रचनाएँ भरी पड़ी हैं।

गद्य साहित्य को महावीर प्रसाद द्विवेदी की देन भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दुकाल में कथा, नाटक, उपन्यास, निबंध, आलोचना की भूमि बड़ी ऊबड़-खाबड़ थी। जासूसी उपन्यास, तिलिस्मी और चमत्कारी घटनाओं से भरे पड़े थे। नाटकों पर पारसी थियेटर के हल्के मनोरंजन का प्रभाव था। भाषा खिचड़ी थी। आलोचना भी वस्तुपरक और गुणपरक रह गई थी। भारतेन्दु की तमाम कोशिशों के बावजूद भी भारतेन्दु युग में हिंदी गद्य परिष्कृत और परिमार्जित नहीं हो सका। उसमें संकरता और अशुद्धियाँ थीं। खड़ी बोली पर ब्रज और अवधी छाई हुई थी। द्विवेदी जी ने भाषा के गद्य रूप को सँवारा। संस्कृत के अनेक ग्रंथों का आख्यायिका रूप में अनुवाद किया। हिंदी गद्य के रिक्त कोष को भरा। इसके अलाव भारतेन्दु पूर्व और भारतेन्दु युग में व्याप्त भाषिक अराजकता को समाप्त कर हिन्दी गद्य भाषा को व्याकरणसम्मत बनाने के प्रयत्न में लगे और कई अहम् निर्णय लिये, कई बातों का विरोध किया। यथा-

1. द्विवेदी जी का मानना था कि संस्कृत के दो प्रत्ययों का एक साथ प्रयोग हिन्दी में भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। उन्होंने एक उदाहरण में बताया कि जैसे 'चातुर्यता' या 'सौन्दर्यता' दोनों ही शब्द अशुद्ध हैं। इसके लिए या तो 'सुन्दरता' लिखें या 'सौन्दर्य'। इसी तरह 'चतुरता' लिखें या 'चातुर्य' लिखना चाहिए।

2. कर्ताकारक में 'जिन्हों' शब्द के प्रयोग को और अन्य कारकों के लिए 'जिन' शब्द रूप ठीक माना। इस तरह उन्होंने 'जो', 'जिन', 'जिन्हों', तथा 'विन्हों' के स्थान पर 'जिनका' और 'उनका' शब्दरूप प्रयुक्त करने का सुझाव दिया।

3. उन्होंने वाक्य में क्रिया अन्तिम क्रिया के अनुसार होने के नियम को अपनाने का आग्रह किया।

4. द्विवेदी जी भाषा के व्याकरण सम्मत होने पर भी उसके सरलीकरण और उसकी सहजता पर बल देते थे। इसीलिए उन्होंने संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर 'मृदुता', मृदुत्व तथा मृदुपन' के प्रयोग करने का आग्रह किया।

5. गद्य की भाषा में पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में स्थिरता लाने का उद्यम उन्होंने किया। ब्रजभाषा के प्रभाव से हिन्दी गद्य में 'आय', 'जाय' के स्थान पर 'आकर', 'जाकर' प्रयोग करने पर उन्होंने बल दिया।

6. यही नहीं, लिंग-वचन की अशुद्धियों पर उन्होंने विशेष ध्यान आकृष्ट कराया।

द्विवेदी जी ने अनेक मौलिक और अनूदित ग्रंथों की रचना की। विविधि विषयों पर मौलिक रचनाएँ लिखी गईं। निबंध को निबंधता दी और आलोचना को समीक्षा दृष्टि दी। उन्होंने साहित्य और साहित्यकारों के नवीन युग का निर्माण किया। उन्होंने संपादक के पद से ही निबंध, आलोचना, भाषा सुधार और संपादन की नयी कला हिंदी गद्य को दी। वे पत्रकार थे। उनके साहित्य, जीवन चरित्र, विज्ञान, इतिहास भूगोल, उद्योग, शिल्प, भाषा और अध्यात्म संबंधी निबंधों का ऐतिहासिक महत्व है। आज भी 'प्रतिभा', साहित्य की महत्ता और हिंदी भाषा की आपत्ति, निबंध पठनीय है। वे कला के लिए नहीं बहुजन हिताय और उपयोगिता के लिए लिखते थे। द्विवेदी ने छः प्रकार की पद्धतियों पर आलोचनाएँ भी लिखीं-

1. आचार्य पद्धति-रसज्ञ रंजन, नाट्यशास्त्र
2. टीका पद्धति-नैषध चरित्र चर्चा और कालिदास की वैवाहिकी कविता
3. शास्त्रार्थ पद्धति-भद्दी कविता, प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना
4. सूक्ति पद्धति-महिष शतक की समीक्षा
5. खंडन पद्धति-कालिदास की निरंकुशता और हिंदी नवरत्न
6. लोचन पद्धति-मेघदूत रहस्य, रघुवंश आदि।

इन्हीं सारी पद्धतियों का आगे रामचंद्र शुक्ल में विकास हुआ। उनकी आलोचना में जहाँ प्राचीन कवियों की विशेषताएँ, पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का निरूपण है वहाँ उनके अपने युग के हिंदी लेखकों की उद्देश्यहीनता, संकुचित दृष्टि, नैतिकता और व्याकरण की अव्यवस्था तथा मातृभाषा हिंदी के प्रति उदासीनता पर चिंतन और चोटें हैं। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली में आधुनिक आलोचना का प्रवर्तन किया। वे युग निर्माता आलोचक थे। उन्होंने जहाँ पद्य की भाषा खड़ी

बोली को प्रतिष्ठित किया वहाँ गद्य भाषा को स्थिरता, प्रौढ़ता और शुद्धता प्रदान की। उन्होंने विभिन्न गद्य शैलियों को व्यापक और व्यवस्थित रूप देकर हिंदी की महान सेवा की।

हिंदी गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में द्विवेदी जी की महान सेवा उनका भाषा सुधार है। खड़ी बोली को परिष्कृत और परिमार्जित किया। संपादक के पद से दूसरे लेखकों की रचनाओं का कड़ाई से संशोधन किया। अपने लेखों, भाषणों, भूमिकाओं और संपादकीयों में बड़े-बड़े नये पुराने लेखकों के दोषों का के प्रति अपने युग के साहित्यकारों को सावधान किया। उन्होंने मिश्रबंधुओं, कामताप्रसाद गुरु, पूर्ण सिंह, बदरीनाथ भट्ट, गणेश शंकर विद्यार्थी, रामचरित्र उपाध्याय, वृंदावनलाल वर्मा, रामचंद्र शुक्ल, काशीप्रसाद जायसवाल, गिरधर शर्मा आदि बड़े-बड़े लेखकों की रचनाओं में संशोधन किए। अनेक शैलियों में वे एक से अधिकार से लिख सकते थे। भाषा के प्रति उनमें गम्भीर पूजा भाव था।

द्विवेदी जी अपने संपादकत्व के प्रति इतने गंभीर थे अगर उनके पास किसी लेखक का लेख छपने हेतु आता तो उस लेख की भाषा में प्रयुक्त एक-एक शब्द के प्रयोग को बड़े ही सूक्ष्म और सतर्क दृष्टि से निरीक्षण करते थे, जो कुछ उन्हें अशुद्ध या अनुचित लगता उसे प्रामाणिक तर्क देकर गलत ठहराते थे। ऐसे अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं-जैसे मिश्र बन्धुओं की पुस्तक 'हिन्दी नवरत्न' की भाषा में त्रुटियों को दिखाते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है-''भाषा इसकी परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों की रचना व्याकरणच्युत भी है। अच्छे लेखक की भाषा जैसी होनी चाहिए, वैसी भाषा इस पुस्तक की नहीं।'' द्विवेदी जी ने अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए 'हिन्दी नवरत्न' से कई उदाहरण देकर उसमें सुधार करने का सुझाव दिया है। जैसे-''हिन्दी कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव और श्रुतिमधुर नहीं है।'' द्विवेदी जी ने लिखा है कि किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव नहीं है, यह बिल्कुल अशुद्ध है। 'सौष्ठव' की जगह 'सुष्ठ' होना चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की भाषाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है। जो उन सबको जानता है। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं।

द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा में होने वाली अशुद्धियों पर ध्यान आकर्षित करने के लिए 'भाषा और व्याकरण' नाम से एक निबंध लिखा जो सर्वप्रथम

नवम्बर 1905 ई. में सरस्वती में प्रकाशित हुआ। उन्होंने अपने इस निबंध में शब्दों, विभक्तियों, वर्तनीगत अशुद्धियों तथा अक्षरगत पार्थक्य पर कई प्रश्न उठाते हुए अनेक निबंध लिखे। कई लेखकों को सुझाव स्वरूप पत्र लिखकर भाषागत सुधार करने हेतु मार्गदर्शित करते थे। उन्होंने 'बिहारबन्धु' के सम्पादक पं. केशवराम भट्ट की पुस्तक 'हिन्दी व्याकरण' में प्रयुक्त 'चाहिये' शब्द के लिए 'चाहिए' शब्द लिखने का सुझाव भट्ट जी को दिया। पं. विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की कहानियों के गद्य देखकर उन्हें पत्र लिखा-''आप 'सरस्वती' ध्यान से नहीं पढ़ते। पढ़ते होते तो 'सरस्वती' की लेखन-शैली की ओर आपका ध्यान अवश्य जाता। 'सरस्वती' की अपनी निजी लेखन-शैली है। वह मैं आपको बताता हूँ। देखिये लेने के अर्थ में जब 'लिये' शब्द लिखा जाता है तक 'यकार' में लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है तब 'एकार' में लिखा जाता है। जो शब्द एकवचन में यकारान्त रहते हैं, वे बहुवचन में भी यकारान्त ही रहेंगे। जैसे-'किया-किये, गया-गये, परन्तु स्त्रीलिंग में 'गयी' न लिखकर ईकार से 'गई' लिखा जाता है।

अंतत: कहा जा सकता है कि यदि द्विवेदी जी हिंदी साहित्य जगत में न आये होते तो यह हिंदी जो आज विश्व की एक शुद्ध, स्वच्छ और मानक भाषा का रूप ले चुकी है, वह बहुत पिछड़ जाती। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इस हिंदी खड़ी बोली की स्थिरता, गद्य-पद्य में एक स्वरूपता और शुद्धता के लिए सदा ही स्मरणीय रहेंगे। वे हिंदी जगत के युग प्रवर्तक थे, अवतारी भाषा सेवक के साथ वे सचमुच ही महावीर थे। रूप नारायण पांडेय ने द्विवेदी जी के विषय में एक छोटी सी कविता लिखी थी -

शिल्पी पर प्रवीण मातृ मंदिर निर्माता।
अभिनव लेखन कला, के विज्ञ विज्ञाता।
उपयोगी साहित्य आपने लिखा, लिखाया।
सेवा में ही सरस्वती की जन्मा बिताया।
हिंदी भाषा के सदा लगे रहे उद्धार में
कवि दधीचि सम अस्थियाँ दे दीं पर उपकार में।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्य-सिद्धान्त

डॉ. कृष्णगोपाल मिश्र

संस्कृत शब्दस्रोत से प्राप्त पुल्लिंग संज्ञा शब्द 'आचार्य' अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। शब्दकोशों में इसके अर्थ गुरु, शिक्षक, उपनयन संस्कार सम्पन्न कराने और वेद पढ़ाने वाला व्यक्ति, उच्चशिक्षा के क्षेत्र में किसी विषय का अध्यापन करने वाला प्रधान प्राध्यापक, असाधारण विद्वान, पूज्य पुरुष, मत प्रवर्तक आदि बताए गए हैं। धार्मिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में बहुप्रयुक्त आचार्य शब्द काव्यशास्त्रीय साहित्यिक संदर्भों में ऐसी प्रतिभाशाली साहित्यिक विभूति का विभूषण बनता है जो अपनी नवनवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा से साहित्य क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित करती है, साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में परम्परा से प्रचलित सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या अथवा नए युगानुरूप नवीन मान-मूल्यों का प्रवर्तन कर साहित्य सृजन एवं साहित्यालोचन की दिशा परिवर्तित करती है। संस्कृत में भरतमुनि, भामह, दण्डी, उद्भट, रूद्रट, मम्मट, विश्वनाथ आदि और हिन्दी में रीतिकालीन कवि केशवदास आदि इसी आधार पर आचार्य संज्ञा से विभूषित हुए। पं. रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि विद्वान लेखकों और समीक्षकों के नाम से पूर्व विशेषण रूप में प्रयुक्त आचार्य शब्द का औचित्य भी इसी अवधारणा पर आधारित है। इसी दृष्टि से महावीरप्रसाद द्विवेदी का आचार्यत्व भी असंदिग्ध है। उन्होंने विभिन्न प्रचलित साहित्यिक मानक-मूल्यों को अपनी देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप पुनर्गठित और पुनर्व्याख्यायित कर रीतिकालीन रूढ़ियों और भारतेन्दुयुगीन प्रभावों से मुक्त कर हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास की सकारात्मक-स्वस्थ दिशाएँ अनावृत्त की। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में उन्होंने 'सरस्वती' के

माध्यम से भाषा और साहित्य में युग-प्रवर्तन कर जो मानक-मूल्य प्रस्थापित किए। हिन्दी भाषा, साहित्य और समालोचना का परवर्ती विकास उन्हीं प्रतिमानों से पाथेय पाकर पुष्ट हुआ है। अत: उनके समकालीन और परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा उनका आचार्यत्व अधिक सार्थक है।

आचार्य भद्रबाहु ने 'उत्तराध्ययन, नियुक्ति' में आचार्य शब्द को व्याख्यायित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशमान होता हुआ अपने स्पर्श मात्र से अन्य सैकड़ों दीपकों को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार आचार्य न केवल स्वयं ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित होते हैं अपितु दूसरों को भी प्रकाशमान बना देते हैं। उन्होंने लिखा है-

'जह दीवा दीवसय, पईप्पए सो य दीप्पए दीवो।

दीवसभा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति।।' (वृहत विश्व सूक्ति कोश (खण्ड-एक) पृ.-71 (संपादक-डॉ. श्यामबहादुर वर्मा, मधु वर्मा-प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-110006 -प्रथम संस्करण 1985 ई.))

स्वयं प्रकाशित होकर अन्य को प्रकाशित करने का उपर्युक्त आचार्य-कार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संदर्भ में अक्षरश: सत्य सिद्ध होता है। उन्होंने खड़ीबोली में स्वयं कविता करने के साथ-साथ अपने समय के असंख्य कवियों लेखकों का मार्गदर्शन किया। हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त जैसे स्वनामधन्य हिन्दी कवियों ने उनसे ही प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त कर अपना सारस्वत साधना को चरम उत्कर्ष प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। कविता के स्वरूप, कविता की रागात्मकता, अतुकान्त कविता, छन्द, प्रयोग, छन्दमुक्ति, काव्य हेतु, काव्यप्रयोजन, काव्य का प्रतिपाद्य, काव्य का जीवन, काव्य-तत्त्व, कविता की नवीनता, काव्य में रस-सृष्टि, अलंकार-प्रयोग, काव्यभाषा, कविता की शक्ति आदि विभिन्न काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं पर उनकी समसामयिक-दृष्टि भी उनके सफल आचार्यत्व का पुष्ट प्रमाण है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में उनके आचार्य-रूप और काव्यादर्शों की चर्चा नगण्य है। उन पर केन्द्रित अन्य शोध-समीक्षा ग्रन्थों में उनकी साहित्य एवं काव्य विषयक अवधारणाओं का मूल्यांकन नहीं हो सका है। अत: उनके काव्यादर्शों-अवधारणाओं पर विचार किया जाना आवश्यक हो जाता है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता को मनुष्य की सहज अभिव्यक्ति

मान्य किया है। दिसम्बर, 1903 में सरस्वती में प्रकाशित 'कविता' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं- 'हँसना, रोना, क्रोध करना और विस्मित होना आदि व्यापार मनुष्यों में आप ही आप उत्पन्न होते हैं। उन व्यापारों के लिए जो सामग्री दरकार होती है उस सामग्री के यथासमय प्राप्त होते ही वे व्यापार आप ही आप आविर्भूत हो जाते हैं। इसके लिए और कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कविता का भी प्रकार ऐसा ही है। (साहित्य-विचार-पृ. 33 संपादक भारत यायावर, वाणी प्रकाशन 21-ए दरियागंज, नई दिल्ली-110002, द्वितीय संस्करण -2005 ई.) इसके लिए और कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता आचार्य द्विवेदी का यह विचार प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की स्वत: स्फूर्त्त रचनाओं के संदर्भ में सत्य सिद्ध होता है। क्रौंच-वध की घटना पर आदिकवि वाल्मीकि के स्वर में प्रस्फुटित पीड़ा कविता की ऐसी ही अनायास अवतारणा थी। अंग्रेजी के कवि वड्र्सवर्थ के कथन कि काव्य शक्तिशाली भावनाओं की सहज बाढ़ है-से भी द्विवेदी जी की उपर्युक्त अवधारणा को बल मिलता है किन्तु काव्य में सर्वाधिक सुलभ व्युत्पत्ति और अभ्यासजनित रचनाएँ स्वत: स्फूर्त्त नहीं होतीं। वे प्राय: प्रयास-सृजित होती हैं। अत: कविता को सर्वथा स्वयं ही आविर्भूत मान लेना तथ्यसम्मत नहीं है।'

द्विवेदी जी ने कविता को परिभाषित करते हुए लिखा है- 'अन्त:करण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। वहीं कविता है। चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक।' (साहित्य-विचार-पृष्ठ-33 कविता शीर्षक निबन्ध) काव्यगत संदर्भों में अनेक कवि किसी रस-विशेष के लिए जाने जाते हैं, जैसे चंदवरदायी, भूषण, श्यामनारायण पाण्डेय आदि की पहचान वीर रस के कवि के रूप में है जबकि सूरदास भक्ति, श्रृंगार और वात्सल्य रस के लिए प्रख्यात हैं। कवियों के रचना संसार की पारस्परिक भिन्नता और विविधता का रहस्य उनके अन्त:करण की वृत्तियों में भाव-विशेष की अधिकता अथवा न्यूनता में निहित है। इस आधार पर कविता अन्त:करण की वृत्तियों का चित्र सिद्ध होती है और, ये वृत्तियाँ पद्य अथवा गद्य की किसी भी विधा में व्यक्त हो सकती हैं। इस स्थिति में गद्य-पद्य का विधागत

भेद प्राय: समाप्त-सा प्रतीत होता है किन्तु मनोभावों के आवेग की तीव्रता गद्य और कविता के मध्य की इस सूक्ष्म रेखा को स्पष्ट कर देती है। अन्त:करण की वृत्तिगत प्रधानता कवि और लेखक, पद्य और गद्य दोनों को समानत: आधार प्रदान करती है किन्तु भावधारा का तीव्रतर आवेगमय प्रवाह जैसा काव्य में मिलता है वैसा गद्य में नहीं रहता, जहाँ गद्य में भी आ जाता है वहाँ उस रचना की संज्ञा 'गद्य काव्य' हो जाती है। इस प्रकार कविता का स्वरूप निबन्ध, कहानी, जीवनी आदि अन्य गद्य-विधाओं से भिन्न हो जाता है।

'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध में द्विवेदी जी ने कविता और पद्य को परस्पर भिन्न बताया है। उन्होंने लिखा है-'आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेजी की पोइट्री और वर्स में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द स्थापना मात्र है।' (साहित्य-विचार-पृ.-31 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध)

उपर्युक्त अवतरण की प्रथम पंक्ति में कविता और पद्य को स्पष्ट रूप से अलग-अलग बताया गया है तथा छन्दबद्ध रचना को पद्य कहा गया है, कविता नहीं। यदि द्विवेदी जी की यह मान्यता स्वीकार करें तो संस्कृत और हिन्दी का बहुलांश जो छन्दबद्ध है, कविता की संज्ञा से वंचित हो जाता है तथा इन भाषाओं के बड़े-बड़े महाकवि कवि कहलाने के अधिकारी नहीं रह जाते। फिर उनकी संज्ञा 'कवि' नहीं 'पद्यकार' होनी चाहिए किन्तु साहित्य शास्त्र में उनको सर्वत्र 'कवि' ही कहा गया है, 'पद्यकार' नहीं कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि 'पद्य' ही 'कविता' भी है। शर्त यह है कि उस पद्य में पाठक और श्रोता के चित्त को प्रभावित करने की क्षमता होनी चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण की अंतिम पंक्तियों से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है। अत: पद्य को कविता से भिन्न कहना भ्रान्ति निर्मित करना है। वस्तुत: प्रभाव-सामर्थ्य-सम्पन्न पद्य भी कविता है और छन्दों के नियमों-बन्धनों से मुक्त प्रभावहीन पंक्तियाँ (वर्स) भी कविता नहीं है। 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध में स्वयं द्विवेदी जी ने 'सत्कवि की सीधी-सादी कविता' का जो उदाहरण प्रस्तुत किया

है वह छन्दबद्ध पद्य रचना है। अत: प्रभावित करने वाली छन्दबद्ध पद्य रचना भी कविता है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य-सृजन को कठिन कार्य कहा है। 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं- 'आजकल हिन्दी के कवियों ने बड़ा जोर पकड़ा है। जिधर देखिए उधर कवि ही कवि। जहाँ देखिए वहाँ कविता ही कविता। कवि बनाने के कारखाने भी दिनरात जारी हैं। कोई कहता है हमारे पिंगल के प्रचार से गाँव-गाँव में कवि हो सकते हैं, कोई कहता है हमारा 'काव्य-कल्पद्रुम' पढ़ लेने से सैकड़ों कालिदास पैदा हो सकते हैं। ...शायद इन्हीं लोगों के उद्योग का फल है जो हिन्दी में आजकल इतने कवियों का प्रादुर्भाव हो गया है। पर इन कविता कुबेरों के प्रादुर्भाव से सरस हृदय सज्जन बहुत तंग हो रहे हैं। जो काम बहुत कठिन समझा गया है, वह इन कवियों के लिए खेल हो रहा है। कविता करना अन्य लोग चाहे जैसा सहज समझें हमें तो यह एक तरह दु:साध्य ही जान पड़ता है।' (साहित्य-विचार-पृ. 38 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन' शीर्षक निबन्ध)

हिन्दी के कवियों और उनकी कविताओं के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी जी की यह टिप्पणी आज सौ वर्ष बाद भी प्रासंगिक और विचारणीय है। मुक्तछन्द की छूट, प्रयोगवाद के प्रयोग तथा नयीकविता और तत्सम्बंधित असंख्य काव्यान्दोलनों के कारण काव्य-गंगा में प्लावन-प्रवाह का संकट और भी बढ़ा है। कविता अपने रचयिता से व्युत्पत्ति एवं अभ्यास पोषित प्रतिभा की अपेक्षा रखती है जबकि इन कारक तत्त्वों से सर्वथा शून्य जन भी आज कवि-यश के प्रार्थी हो रहे हैं। इस से कविता अपना प्रभाव खोकर हाशिए पर जा रही है, समाज में अपनी शक्ति प्रदर्शित करने में असमर्थ हो रही है। वास्तव में काव्य सृजन शब्द की साधना है, ज्ञान की आराधना है जिसके लिए हृदय की कोमलता और संवेदनशीलता के साथ-साथ, विशद ज्ञान और व्यापक अनुभव की आवश्यकता रहती है। इनके अभाव में शब्द-संस्थापन हो सकता है, कविता नहीं।

काव्य कला है। कला स्वयं से सम्बन्धित मान मूल्यों के ज्ञान की अपेक्षा करती है। यहाँ तक कि सिलाई, बुनाई कढ़ाई, वास्तु, मूर्त्ति, चित्र इत्यादि से सम्बन्धित कलाकृतियों की सृष्टि कोई व्यक्ति तब तक नहीं कर

सकता। जब तक कि वह उनके सृजन से सम्बन्धित ज्ञान अर्जित न कर ले। अर्थात् प्रत्येक कलाकार के लिए उसकी कला से सम्बन्धित मान-मूल्यों एवं कारक तत्त्वों का ज्ञान होना कला-सृष्टि की अनिवार्य शर्त है। व्यावहारिक दृष्टि से भी चित्रकार, मूर्त्तिकार, कुम्भकार आदि कोई भी सर्जक उसी कला-क्षेत्र में सृजन करता है जिसमें उसे दक्षता प्राप्त होती है। सीखा पहले जाता है, रचा बाद में जाता है। यह अत्यंत आश्चर्य का विषय है कि काव्य-सृजन में प्रवृत्त बहुत से तथाकथित कविजन बिना काव्यशास्त्रीय अध्ययन और अनुभव के सीधे सृजन के क्षेत्र में पदार्पण कर जाते हैं और 'कुछ भी' लिखकर कवि होने का दंभ पाल लेते हैं। द्विवेदी जी ने आचार्य क्षेमेन्द्र की रचना 'कवि कण्ठाभरण' के संदर्भ प्रस्तुत करते हुए ऐसे कवियों को कवि बनने के लिए सापेक्ष साधनों से परिचित कराने का प्रयत्न किया है। उनकी दृढ़ अवधारणा है-'कवि होने के लिए पाँच बातें अपेक्षित हैं। वे पाँच बातें ये हैं-(1)कवित्व शक्ति (2) शिक्षा (3) चमत्कारोत्पादन (4) गुण-दोष-ज्ञान (5) परिचय चारुता।' (साहित्य-विचार-पृ. 39 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन' शीर्षक निबन्ध)

कवित्व-शक्ति से तात्पर्य जन्मजात काव्य-प्रतिभा से है इसके अभाव में श्रेष्ठ कवि बन पाना संभव नहीं होता। कवि-कर्म के लिए काव्यशास्त्र की शिक्षा अपेक्षित है। इससे काव्य-सृजन की जन्मजात शक्ति 'प्रतिभा' और 'शिक्षा' से समृद्ध कवि को अपनी रचना में चमत्कार (प्रभाव) उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। कवि को काव्य के गुण-दोष से भी परिचित होना चाहिए तथा रचना में गुणों की सृष्टि और दोषों का परिहार करने का प्रयत्न करना चाहिए 'परिचय-चारुता' से आशय कवि की बहुज्ञता से है। तुलसी, बिहारी आदि कवियों की ख्याति का प्रमुख आधार 'परिचय-चारूता' है।

काव्य-हेतु के रूप में द्विवेदी जी ने भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वाधिक अधिमान्य प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को महत्त्व दिया है। 'कवि सम्मेलन' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है-'सत्कविता की प्राप्ति बड़े पुण्य से होती है। हृदय में कवित्व बीज होने ही से मनुष्य सत्कवि हो सकता है। उस बीज की प्राप्ति पूर्वजन्म के संस्कार और परमेश्वर की कृपा विशेष ही से होती है। बीज होने से थोड़े से परिश्रम और शिक्षा की बदौलत वह अंकुरित हो उठता है। फिर उस अंकुर को बढ़ते और पूर्ण मर्यादा तक पहुँचने में देर नहीं लगती। जिनको

यह सौभाग्य प्राप्त होता है वे ही सुकवि या महाकवि की पदवी पाते हैं और संसार में अपना नाम ही नहीं अमर कर जाते अपितु समाज को बहुत कुछ लाभान्वित भी कर जाते हैं। तथापि इससे यह मतलब नहीं कि अन्य जन कवि हो ही नहीं सकते। जिनके हृदय में कवित्व का बीज नहीं वे भी परिश्रम, अध्ययन, अभ्यास और सत्संग की कृपा से कुछ न कुछ कवित्व शक्ति अवश्य ही प्राप्त कर लेते हैं। ...परन्तु एक बात है। वह यह कि ये बने हुए कवि प्रकृत कवि की समकक्षता नहीं कर सकते। प्रकृत कवि थोड़े ही परिश्रम और परिशीलन से अपनी कवित्व शक्ति को विकसित कर सकता है, बना हुआ कवि बहुत परिश्रम और परिशीलन से भी थोड़ी ही कवित्व शक्ति प्राप्त कर सकता है। पर श्रम, शिक्षा और अध्ययन की आवश्यकता दोनों ही के लिए होती है।' (साहित्य विचार पृ.- 56-57 'कवि सम्मेलन' शीर्षक निबन्ध) इस प्रकार द्विवेदी जी ने प्रकारान्तर से काव्य हेतु के रूप में प्रतिभा, व्युत्पत्ति ओर अभ्यास की एकान्विति पर बल दिया है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजन पर विस्तार से चर्चा हुई है। आचार्य मम्मट ने यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, अमंगल से रक्षा, कान्ता सम्मित उपदेश और शीघ्र ही उच्चकोटि की आनन्दानुभूति को काव्य का प्रयोजन बताया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इन समस्त उद्देश्यों की सफलता का आधार कविता की प्रासादिकता में सन्निहित बताया है। उनका अभिमत है- 'कविता किस उद्देश्य से की जाती है? ख्याति के लिए, यश-प्राप्ति के लिए, धनार्जन के लिए या दूसरों के मनोरंजन के लिए। इसके सिवा तुलसीदास की तरह 'स्वान्तः सुखाय' भी कविता की रचना होती है। परमेश्वर का सम्बोधन करके कोई-कोई कवि आत्म निवेदन भी कविता द्वारा ही करते हैं। पर ये बाते केवल भक्त कवियों के ही विषय में चरितार्थ होती हैं- अस्मदादि लौकिक जन तो और ही मतलब से कविता करते या लिखते हैं- और उनका वह मतलब ख्यातिलाभ और मनोरंजन आदि के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। इन सभी उद्देश्यों की सिद्धि तभी हो सकती है जब कवि की कविता का आशय दूसरों की समक्ष में झट आ जाए। क्योंकि जो बात समझ में ही न आवेगी उसकी दाद कौन देगा? न उससे किसी का मनोरंजन ही होगा, न उसे सुनकर सुनने वाला कवि का अभिमनन्दन ही कर सकेगा और जब उसके

हृदय पर कविता का कुछ असर ही न होगा तब वह कवि को कुछ देगा क्यों?' (साहित्य-विचार-पृ. 69 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध) इस प्रकार काव्य का कोई भी प्रयोजन उसकी सुबोधता पर निर्भर करता है। द्विवेदी जी ने जन सामान्य की दृष्टि से यश अर्थ और आनन्द को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है तथा कविता की सार्थकता उसकी सुबोधता जनित प्रयोजन-सिद्धि में स्वीकार की है।

द्विवेदी जी कविता का अंतिम प्रयोजन मनुष्य के कल्याण को मानते हैं। जो कविता कवि को यश, अर्थ, आनन्द आदि प्रदान कर दे और श्रोता अथवा पाठक को भी आनन्दित कर दे किन्तु मनुष्य के मंगल का पथ प्रशस्त न कर सके, मानवीय भावनाओं का परिष्कार कर, उसे नकारात्मक भाव बोध से उबारकर उसमें उदात्त मानवीय संवेदनाओं और महत मूल्यों को समृद्ध न कर पाए वह कविता प्रयोजन की दृष्टि से अधूरी है। द्विवेदी जी 'कला कला के लिए' इस विचार के पक्ष में नहीं हैं, वे 'कला मुनष्य के लिए' इस मान्य करते हैं और उसी को काव्य-कला का सर्वोत्तम स्वरूप कहते हैं। उनके अनुसार- 'बास्य प्रकृति के बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत की ओर दृष्टिपात करता है तब साहित्य में कविता का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य 'मनुष्य' हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है। तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह शान्त में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिण्ड में असीम ज्योति का आभास पाता है।' (साहित्य-विचार-पृ. 49 'कविता का भविष्य' शीर्षक निबन्ध) इन पंक्तियों में कविता के लक्ष्य के रूप में मनुष्य की प्रस्तुति कविता की वैयाक्तिक एवं सामाजिक उपादेयता को संकेतित करती है। अत: यह मौलिक अवधारणा विशेष महत्त्व की है। अपनी इस अवधारणा को उन्होंने 'रसज्ञ-रंजन' शीर्षक से प्रकाशित निबन्ध-संग्रह में और भी स्पष्ट किया है- 'कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कतिवा ही के लिए कविता करना एक तमाशा।' (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा-पृ. 375 संपादक-डॉ. नगेन्द्र-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, दिल्ली-110002, तृतीय संस्करण-1975 ईसवी) यहाँ 'ऊँचा उद्देश्य' का आशय व्यक्तिगत यश-अर्थ की प्राप्ति न होकर लोकमंगल के लिए किए गए प्रयत्न से है। इस प्रकार द्विवेदी जी के

लिए कविता जगत के हित की आराधना है। इसी आराधना में रचयिता का यश-अर्थ और पाठक-श्रोता का आनन्द-स्रोत समाहित है।

कवि के कार्यक्षेत्र पर द्विवेदी जी ने विभिन्न कोणों से विचार किया है। उनकी मान्यता है- 'सभी देशों में, सभी कालों में कवियों का कार्यक्षेत्र एक सा नहीं रहता। सच तो यह है कि कवि का कार्यक्षेत्र क्या है, यह कहना बड़ा कठिन है। आज तक जितने कवि हुए हैं, उन्होंने एक ही पथ का अनुसरण नहीं किया। सबके आदर्श भिन्न-भिन्न थे। महाकवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण की रचना में जो आदर्श रक्खा था वह कालिदास और भारवि के महाकाव्यों में नहीं। यूरोपीय साहित्य में होमर का जो आदर्श था वह पोप, वड्र्सवर्थ अथवा टेनिसन की रचनाओं में नहीं पाया जाता। ...यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि कवि का कार्यक्षेत्र क्या है।' (साहित्य-विचार-पृ. 47 'कविता का भविष्य' शीर्षक निबन्ध) वस्तुत: प्रत्येक कवि अपने अध्ययन, अनुभव, रुचि, संस्कार, परिवेश, जीवनदर्शन, संगति, देश-काल आदि के अनुरूप अपना विशिष्ट कार्यक्षेत्र चुनता है। इस चयन में उसकी रुचि और उसका प्रयोजन विशेष महत्त्व रखता है। इस आधार पर एक ही युग में बिहारी और भूषण, पंत और प्रसाद की कविता का कार्यक्षेत्र भिन्न हो जाता है। अत: द्विवेदी जी की उपर्युक्त मान्यता युक्तियुक्त है।

कविता की सफलता और प्रयोजन सिद्धि के संदर्भ में कविता का प्रतिपाद्य अर्थात् वर्ण्य विषय भी महत्त्वपूर्ण होता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस संदर्भ में उदार और व्यापक दृष्टि दी है। उन्होंने लिखा है- 'कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के गतागत की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत ...सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।' (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा-पृ.-373) द्विवेदी जी की इस दृष्टि का प्रभाव परवर्ती छायावादी युग में कविवर पंत की रचना 'चींटी को देखा है' और महाप्राण निराला की कविता

'भिक्षुक' में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और नयी कविता के युग में तो कविता के नए-नए प्रतिपाद्यों को विकास का और भी खुला आकाश मिला है।

भारतीय काव्यशास्त्र में कवि को 'दृष्टा' कहा गया है। कवि-समीक्षक अपने युग की गति-मति पहचानकर भविष्य के साहित्य की दिशा का भी सही-सही अनुमान कर लेता है। सितम्बर, 1920 की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कविता का भविष्य' 'शीर्षक लेख में द्विवेदी जी ने भविष्य की कविता के संदर्भ में जिन वर्ण्यविषयों की चर्चा की, उनके परवर्ती युग में वहीं विषय कविता का प्रतिपाद्य बने। इस निबन्ध में उन्होंने लिखा है- 'भविष्य के कवि का लक्ष्य इधर ही होगा। अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखाने से निकले हुए मैले मजदूरों को अपने काव्य का नायक बनाना नहीं चाहता था। वह राजस्तुति, वीरगाथा अथवा प्रकृति-वर्णन में ही लीन रहता था। परन्तु अब वह क्षुद्रों की भी महानता देखेगा और तभी जगत का रहस्य सबको विदित होगा।' (साहित्य-विचार-पृष्ठ 49 कविता का भविष्य शीर्षक निबन्ध)

कहने की आवश्यकता नहीं है कि परवर्ती युग में 'लघु की प्रतिष्ठा' नयी कविता की प्रमुख विशेषता बनी। 'रथ का टूटा पहिया' 'टूटी काँच की चूड़ियाँ तथा 'रोटी' जैसे विषय कविता का आधार बने। रीतिकालीन घोर-शृंगारिकता और कामुकता-केन्द्रित भोग-विलासपूर्ण कविता, नायिका भेद वर्णन आदि चित्त को अशान्त और सामाजिक नैतिक मान-मूल्यों को ध्वस्त कर स्वेच्छाचारिता पूर्वक व्यभिचार को बढ़ावा देने वाले विषयों को द्विवेदी जी काव्य का विषय बनाने के पक्ष में नहीं हैं। इसीलिए वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं 'इस विस्तृत विश्व में ईश्वर ने इतने प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, वन, निर्झर, नदी, तड़ाग आदि निर्माण किए हैं कि यदि सैकड़ों कालिदास उत्पन्न होकर अनन्तकाल तक उन सबका वर्णन करते रहें तो भी उनका अन्त न हो। फिर हम नहीं जानते कि अन्य विषयों को छोड़कर नायिका भेद सदृश अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए? इस प्रकार की कविता करना वाणी की विगर्हणा है। (साहित्य-विचार-पृ. 52 'नायिका भेद' शीर्षक निबन्ध)

गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी प्रकार के सदंर्भों में प्राकृत जन के गुणगान अर्थात् अनेक दोषों-दुर्गुणों से भरे राजाओं की प्रशस्ति को वाणी का

पश्चाताप कहा है। तथ्य यह है कि कविकृत रुचिवाले मर्यादाहीन व्यभिचारियों के लिए भले ही ऐसे स्थल रुचिकर और आनन्दप्रद हों किन्तु सुरुचि-सम्पन्न नैतिक-मूल्यों के संवाहक जनों के विस्तृत समूह के लिए वे व्यर्थ ही होते हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता में अर्थगौरव को महत्त्व दिया है और उसे ही काव्य का जीवन कहा है। उनकी अवधारणा है कि 'अर्थ-सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता नहीं। कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता। विलाप-वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है और वर्णित दुख का स्वयं अनुभव कर रहा है। प्राकृतिक वर्णन लिखने के समय उसके अन्त:करण में यह दृढ़ संस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत अथवा वन के सम्मुख वह स्वयं उपस्थित होकर उनकी शोभा देख रहा है। जब कवि की आत्मा का वर्ण्यविषयों से इस प्रकार निकट सम्बंध हो जाता है तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ़कर पढ़ने वालों के हृदय में तद्वत भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।' (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा - पृ. 371-372) यही कवि के भावों का उसके पाठक-श्रोता वर्ग में साधारणीकरण है। इसके लिए भी कविता में प्रासादिकता की अनिवार्यता वांछित है। जब तक वर्ण्य-विषय का प्रस्तुतीकरण पाठक-श्रोता की समझ में नहीं आएगा तब तक वह उसकी चमत्कारिता के बावजूद उससे प्रेरित और प्रभावित नहीं हो सकेगा।

प्रसाद गुण-पोषित अर्थ-सौरस्य से कविता में रस की पुष्टि होती है। रस की पुष्टि को ही द्विवेदी जी ने कवि-कर्म की सफलता बताया है। उनके अनुसार-'कविता की सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता। जिसे पढ़ने वाले के मुख से 'वाह' न निकले अथवा उसका मस्तक न हिलने लगे, अथवा उसकी दंत-पंक्ति न दिखलाई देने लगे, अथवा जिस रस की कविता है, उस रस के अनुकूल वह व्यापार न करने लगे, तो वह कविता कविता ही नहीं, वह तुकबन्दी मात्र है। कविता के सरस होने ही से ये उपर्युक्त बातें हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।' (भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा - पृ. 372-373)द्विवेदी जी ने

काव्य में रस की निष्पत्ति के लिए विभावादि के सम्यक संयोग की रूढ़ि को समर्थन नहीं दिया है। वे प्रस्तुत भाव-दृश्य आदि में प्रमाता की तल्लीनता को ही रसानुभूति की परिपक्वता स्वीकार करते हैं- 'एक तत्त्वज्ञानी ने तो यहाँ तक कहा है कि रस-परिपक्वता ही कविता है। उसे मुख से कहने की आवश्यकता नहीं। यदि नट रंगभूमि में उपस्थित होकर, अपना मुँह ऊपर की ओर उठाकर और गर्दन हिलाकर, सभासदों को हँसा दे, तो उसके व्यापार को भी कविता कहना होगा। आजकल के विद्वानों का मत है कि अन्त:करण में रस को उत्पन्न करके और थोड़ी देर के लिए बातों को भुलाकर, उदार विचारों में मन को लीन कर देना ही कविता का सच्चा पर्यवसान है। कविता द्वारा यह भासित होना चाहिए कि जो बात हो गई है वह अभी हो रही है और जो दूर है वह बहुत निकट दिखलाई देती है।' (साहित्य-विचार-पृ. 36 'कविता' शीर्षक निबन्ध) यह शासित होना ही रस दशा में तल्लीन होना है। इसी में कविकर्म की सार्थकता है और काव्यानुशीलन की सफलता है।

द्विवेदी जी ने रस-ग्राह्यता के संदर्भ में सहृदय की ग्रहण सामर्थ्य अर्थात् पात्रता और रुचि पर भी विचार किया है- 'शब्दात्मक मनोभाव अपनी शक्ति के अनुसार सुनने वाले पर अपना प्रभाव जमाते हैं। कथा, पुराण अथवा संकीर्तन आदि के समय भक्ति-भावपूर्ण पदों को सुनकर कोई-कोई प्रेमी आनन्द में लीन हो जाते हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है, यहाँ तक कि वे अपने को भूल जाते हैं। परंतु वहीं पर उनके पास बैठे हुए कोई महात्मा, निकटस्थ नटखट लड़कों की शरारत देखकर हँसते रहते हैं, किंवा ऊँचा करते हैं। इसका यह कारण है कि उन पदों में भरे हुए भक्तिरस को स्वीकार अथवा उपभोग करने की सामर्थ्य उनमें नहीं होती। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। खून के समान भारी घटनाएँ जिस जगह हो जाती हैं, उस जगह सब मनुष्य घबरा उठते हैं परन्तु तीन-चार वर्ष के छोटे-छोटे लड़के वहीं आनन्द से खेला करते हैं। उन पर उस घटना का कुछ भी असर नहीं होता। अज्ञानता के कारण खून के समान भयानक घटनाओं की भयंकरता का विचार ही जब उन लड़कों के मन में नहीं आता तब उनको उस विषय में भय कैसे मालम हो सकता है। (साहित्य-विचार - पृ. 33 'कविता' शीर्षक निबन्ध) आचार्य द्विवेदी जी ने उदाहरण देकर यह तथ्य प्रतिपादित कर दिया है कि

रस-निष्पत्ति का प्रमुख कारण सहृदय की सामर्थ्य-संवेदना और भावुकता पोषित ज्ञानानुभव है। इनके साथ ही उसकी रुचि भी रस-ग्राह्यता का महत्त्वपूर्ण कारण है। रस की संस्थिति केवल रचना में ही नहीं है, रचना का अनुशीलन करने वाले की रुचि में भी है। जब रचना में निहित रसात्मकता अनुशीलनकर्ता की रुचि, सामर्थ्य, संवेदना आदि से मेल खाती है तब रसानुभूति की प्रक्रिया पूर्ण होती है। द्विवेदी जी लिखते हैं- 'सबकी रुचि एक-सी नहीं होती। देवदत्त जिसे कुरुचिपूर्ण समझेगा, भवदत्त शायद उसे वैसा न समझे।' एक बात ओर भी है। कविताओं में अनेक रसों की योजना हो सकती है।' (साहित्य-विचार-पृ. 59 'कवि सम्मेलन' शीर्षक निबन्ध) इस प्रकार रसानुभूति में सहृदय की रुचि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में सफलता के लिए द्विवेदी जी ने बाल-सुलभ सहज कौतूहल और भोलेपन को आवश्यक बताया है। ज्ञान का गुमान तथा तर्क का पैनापन भावानुभूति के कौशेय वसन को तार-तार कर देते हैं। इन्द्रधनुष बनने की जटिल वैज्ञानिक प्रक्रिया से अनजान भोले शिशुओं के लिए इन्द्रधनुष जितना आनन्द दायक होता है उतना आनन्दप्रद वह विज्ञान-ज्ञान से समृद्ध प्रबुद्धजनों के लिए नहीं होता। इसीलिए द्विवेदी जी लिखते हैं- एक पण्डित का मत है कि कविता एक भ्रम है परन्तु वह सुखदायक है। उसका अच्छी तरह उपभोग लेने के लिए थोड़ी देर तक अपनी सज्ञानता भूल जानी चाहिए। जो कुछ सीखा है उसका विस्मरण कर डालना चाहिए। और कुछ काल के लिए बालक बन जाना चाहिए। कमल के समान आँख नहीं होती, कोकिल का-सा कण्ठ किसी का नहीं होता, जो कुछ इसमें लिखा है, झूठ है- इस प्रकार की बात मन में आते ही कविता का सारा रस जाता रहता है। कविता में जो कुछ कहा गया है उसे ईश्वर वाक्य मानकर उसका रस लेना चाहिए।' (साहित्य-विचार-पृ. 36-37 'कविता' शीर्षक निबन्ध) इस प्रकार रस-सिद्धान्त के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने भारतीय काव्यशास्त्र की पारम्परिक मान्यताओं को यथावत स्वीकृति न देकर उनका युगानुरूप पुनराख्यान किया है। उनकी मान्यताएँ और निष्कर्ष तथ्य सम्मत तर्क संगत और युक्तियुक्त होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं।

काव्याचार्यों ने मुख्यरूप से कविता के चार तत्त्वभाव, विचार (बुद्धि),

कल्पना और शैली पर विचार किया है किन्तु द्विवेदी जी ने इनके अतिरिक्त भावुकता सात्विकता और भोलेपन को भी काव्य के लिए आवश्यक बताया है-'कविता के लिए एक प्रकार की भावुकता, एक प्रकार की सात्विकता और एक प्रकार का भोलापन दरकार होता है। वह समय के परिवर्तन से प्रतिदिन कम हो जाता है, इसीलिए पहले की जैसी कविता अब नहीं होती।' (साहित्य-विचार-पृ. 37 'कविता' शीर्षक निबन्ध) समय का यह परिवर्तन पाठक-श्रोता की आयु में वृद्धि के साथ उसके अनुभव ज्ञान आदि में परिवर्तन जनित रुचि-परिवर्तन के कारण प्रभावी होता है, कविता के रचयिता के साथ भी परिवर्तन की यह स्थिति मिलती है। युवावस्था में श्रृंगारिक पद रचने वाले, उनमें आनन्द पाने वाले विद्यापति का स्वर 'माधव हम परिनाम निराशा' में बदल जाता है। 'हिमालय' और 'हुंकार' जैसी ओजस्वी कविताएँ रचने वाले दिनकर 'हारे को हरिनाम' लिखने लगते हैं। परिवर्तन की यह प्रक्रिया कवि और पाठक-श्रोता के जीवन-स्तर पर ही नहीं काल के व्यापक फलक पर भी प्रभावशील होती है और तब कविता का युग परिवर्तित होता है। भक्तिकाल रीतिकाल में और रीतिकाल आधुनिक काल में बदल जाता है, कविता की प्रकृति और प्रवृत्ति परिवर्तित हो जाती है।' तथापि भावुकता और सात्विकता कविता की वे ऐसी अपूर्व निधियाँ हैं जो व्यक्तिगत स्तर पर आयु और सामाजिक-सामूहिक स्तर पर काल का अतिक्रमण कर काव्य को शाश्वत एवं सशक्त आधार प्रदान करती हैं।

अच्छी कविता की कसौटी के रूप में द्विवेदी जी ने उसकी प्रभावान्विति को बताया है-'कविता यदि यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं। अच्छी कविता सुनकर कवितागत रस के अनुसार दुख, शोक, क्रोध, करुणा और जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। ...रोम, इंग्लैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें सम्भव कर दिखाई हैं। जहाँ परस्त हिम्मती का दौर-दौरा था वहाँ जोश पैदा कर दिया है। जहाँ शान्ति थी वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है।

परंतु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। (साहित्य-विचार-पृ. 22-23 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध) कविता की कसौटी के रूप में प्रासादिकता को स्वीकृति देते हुए वे लिखते हैं- 'कविता का सबसे बड़ा गुण है उसकी प्रासादिकता। वही जब नहीं तब कविता सुनकर श्रोता रीझ किस तरह सकेंगे और उसका असर उन पर होगा क्या खाक!' (साहित्य-विचार-पृ. 73 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध) अच्छी कविता की कसौटी और उसके गुणों की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने मई, 1927 में सरस्वती में 'श्रीयुत सुकवि-किंकर' नाम से प्रकाशित लेख 'आजकल के छायावादी कवि और कविता में रचना के श्रुति-माधुर्य और चमत्कारपूर्ण होने पर बल दिया है- 'किसी कविता में यदि कुछ हृदयहारी भाव न हो तो कम से कम वह श्रुति-सुखद तो होनी चाहिए। यदि उसमें कुछ चमत्कार हो तो और भी अच्छा। चमत्कार को भी अच्छी कविता का एक अंग समझना चाहिए।'' (साहित्य-विचार-पृ. 74 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध) इस प्रकार सुबोधता, प्रासादिकता, कर्ण-प्रियता तथा चमत्कारिकता को द्विवेदी जी ने अच्छी कविता का गुण, उसकी कसौटी कहा है।

कविता की उपादेयता और नवीनता पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है- 'कविता से विश्रान्ति मिलती है। वह एक प्रकार का विराम-स्थान है। उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है। चक्की पीसने के समय स्त्रियाँ, काम करने में मजदूर आदि परिश्रम कम होने के लिए गीत गाते हैं। जैसे मनुष्यों के लिए गाने की जरूरत है वैसे ही देश के लिए कविता की जरूरत है। प्रतिदिन नए-नए गीत बनते हैं-और सब कहीं गाये जाते हैं। इसी नियमानुसार देश में समय-समय पर नई-नई कविताएँ हुआ करती हैं। यह स्वाभाविक किंवानैसर्गिक योजना है।' (साहित्य-विचार-पृ. 37 'कविता' शीर्षक निबन्ध) वास्तव में कविता की उपादेयता और नवीनता का यह सत्य शाश्वत है। अत: महत्त्वपूर्ण भी है।

साहित्य को समाज का दर्पण स्वीकार किया गया है। आचार्य द्विवेदी भी इस स्वीकृति का समर्थन इन शब्दों में करते हैं- 'भाषा की उन्नति के साथ-साथ कविता की उन्नति होती है। कविता है भावों की अभिव्यक्ति। कवि अपने समय का प्रतिनिधि-स्वरूप होता है। इसलिए उसकी कृति में उस समय के

भावों का प्रतिबिम्ब लक्षित हो जाता है। अभी जितने काव्य उपलब्ध हैं उनके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि किस समय किस भाव की प्रधानता थी।' (साहित्य-विचार-पृ. 45 'कविता का भविष्य' शीर्षक निबन्ध) काव्य-साहित्य के इतिहास का अनुशीलन करने पर यह तथ्य प्रमाणित होता है।

द्विवेदी जी ने काव्य-सत्य की व्याख्या कविता में निहित शाश्वत-संदेश के रूप में की है। वे काव्य को किसी मत विशेष के प्रचार का साधन बनाने के पक्ष में नहीं हैं। इस दृष्टि से उनका यह विचार उदाहरणीय है- 'इसमें संदेह नहीं कि कविता का सत्य दर्शनशास्त्र या विज्ञान का सत्य नहीं है और न उसमें वह सत्य है जो किसी धर्म अथवा मत विशेष से स्पष्ट किया जाता है। उसमें सत्य का प्रकाश कुछ दूसरी ही रीति से होता है। कवि किसी भी मत का अनुयायी हो, कोई भी सिद्धान्त मानता हो, पर ज्यों ही वह अपने सिद्धान्तों को पद्यबद्ध करता है अथवा वर्ड्सवर्थ या ड्राइडन के समान पद्यों में धार्मिक शिक्षा देना चाहता है त्यों ही वह कवि के उच्च आसन से गिर जाता है। कवि का काम न तो शिक्षा देना है और न दार्शनिक स्थलों की व्याख्या करना है। उसके हृदय से तो वह ज्ञान हृदगत होना चाहिए जिससे समस्त मानव जाति की हृतन्त्री में विश्ववेदना का स्वर बज उठे।' (साहित्य-विचार-पृ. 48 'कविता का भविष्य' शीर्षक निबन्ध) इस प्रकार द्विवेदी जी की दृष्टि में कविता शाश्वत-सत्य का उद्‌घाटन है, व्यक्तिगत मान्यताओं-रुचियों के प्रचार-प्रसार का माध्यम नहीं।

आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार कवि का यश अक्षय और उसकी शक्ति अपरिमेय होती है। 'कवि सम्मेलन' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है- 'राजे और चक्रवर्ती राजे कुछ सृष्टि रचना तो कर सकते नहीं। कुछ ही समय तक वे अपने बल और वैभव, यश और प्रताप की कला का चमत्कार दिखाकर इस लोक से तिरोहित हो जाते हैं। और कवि? कवि की कीर्ति तो अनन्त काल तक बनी रहती है। नद, नदी, देश, महादेश और गगनचुम्बी पर्वत नष्ट हो जाते हैं, परन्तु वह नष्ट नहीं होती। हाँ, वह अनुकूलता की प्राप्ति की मुखापेक्षिणी जरूर होती है। कवि की शक्ति और प्रभुता की इयत्ता नहीं। प्रकृत कवि क्या नहीं कर सकता? वह रोते हुओं को हँसा सकता है और हँसते हुओं को रुला सकता है। कायरों की रगों में वह वीरता का संचार कर सकता है, सोते हुओं को जगा सकता है, देशद्रोहियों को देशभक्त बना सकता है। ...ऐसे विश्वबन्ध

कवि की महत्ता को सभी बंधुवर स्वीकार करते हैं।' (साहित्य-विचार-पृ. 55 'कवि सम्मेलन' शीर्षक निबन्ध) द्विवेदी जी की उपर्युक्त अवधारणा समर्थ कवि की यश-अक्षयता के संदर्भ में अक्षरक्षः सत्य है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि असंख्य कवियों का यश काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर आज भी अक्षुण्ण है किन्तु कविता का प्रभाव वाचक और श्रोता पर सदा अचूक प्रभाव नहीं डालता। कवि की वाणी केवल संवेदनशील भावुक सहृदयों को ही प्रभावित कर पाती है, सबको नहीं। यदि कर पाती तो हमारे देश में कोई भी नागरिक भ्रष्ट, देशद्रोही और अपराधी नहीं होता क्योंकि हमारा साहित्य असंख्य समर्थ कवियों की प्रेरक उक्तियों से सर्वत्र समृद्ध है। अतएव कवि का कार्य प्रभावपूर्ण प्रस्तुति तक ही सीमित है, प्रभावग्रहण का सम्बंध पाठक, दर्शक एवं श्रोता की ग्राह्यता पर निर्भर करता है।

काव्य-भाषा के सदंर्भ में द्विवेदी जी ने 'रसज्ञ रंजन' ग्रंथ में व्यापक चर्चा की है। वे काव्य की भाषा को सुबोध, व्याकरण सम्मत और लाक्षणिकतायुक्त बनाने के पक्ष में रहे। सुबोधता से प्रासादिकता और रसानुभूति का उद्देश्य पूर्ण होता है। व्याकरण-सम्मतता भाषा की शुद्धता और एकरूपता को संरक्षण देकर उसे बिगड़ने नहीं देती तथा लाक्षणिक-प्रयोगों से काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है। इसलिए उनकी स्पष्ट मान्यता है कि 'कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए, जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयंगम कर सके। पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढ़ने में जी लगता है।' ...

कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का उतना नहीं होता। व्याकरण का विचार न करना कवि की तद्विषयक अज्ञानता का सूचक है। ...जहाँ तक संभव हो शब्दों का मूलरूप न बिगड़ना चाहिए। मुहावरे का भी विचार करना चाहिए। बे-मुहावरा भाषा अच्छी नहीं लगती मुहावरा ही भाषा का प्राण है, उसे जिसने नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना। उसकी भाषा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।' (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा -पृ. 370) द्विवेदी जी ने विषयानुकूल शब्दचयन पर विशेष बल दिया है। वे काव्य की भाषा में अक्षर-मैत्री को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। शब्दों का यथास्थान प्रयोग, जब तक विषयवस्तु का विशेष

आग्रह न हो तब तक रूक्षाक्षरों क्लिष्ट शब्दों, संयुक्त व्यंजनों के प्रयोग से भी बचना आवश्यक है, क्योंकि ऐसी प्रयुक्तियाँ रसनीयता को बाधित करती हैं।

कविता में चमत्कार उत्पन्न करने में अलंकारों की भूमिका सदा महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। द्विवेदी जी भी कविता में चमत्कार उत्पन्न करने पर बल देते हैं। इसलिए वे भी अलंकार-प्रयोग के विरोधी नहीं हैं किन्तु वे अलंकारों के सहज स्वाभाविक प्रयोग को ही उचित मान्य करते हैं-'अलकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए। विषय वर्णन के झोंके में जो कुछ मुख से निकले उसे ही रहने देना चाहिए। बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाये उसे ही पद्य-बद्ध कर देना अधिक सरल और आह्लादकारक होता है।' (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा-पृ. 372) अलंकारों के संतुलित प्रयोग के संदर्भ में द्विवेदी जी का यह मत युक्तियुक्त है और आधुनिक काल के कवियों-आचार्यों की दृष्टि एवं सृष्टि के अनुरूप भी है।

द्विवेदीयुग के अनन्तर छायावादी युग में महाप्राण निराला ने छन्दमुक्ति की जो अवधारणा प्रस्तुत की और मुक्त छन्द का आविर्भाव किया उसकी पृष्ठभूमि द्विवेदी जी की छन्द प्रयोग विषयक मान्यताओं में विशेषत: व्यंजित है। वे लिखते हैं-'अनुप्रास युक्त पादान्त सुनते-सुनते हमारे कान उस प्रकार की पंक्तियों के पक्षपाती हो गए हैं। इसीलिए अनुप्राय हीन रचना अच्छी नहीं लगती। बिना तुक वाली कविता के लिखने अथवा सुनने का अभ्यास होते ही वह भी अच्छी लगने लगेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। ...अनुप्रासों का विचार न करने से कविता लिखने में सुगमता भी होती है और मनोभिलषित अर्थ व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती। अतएव पादान्त में अनुप्रास हीन छन्द हिन्दी में लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है।' (भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा -पृ. 369-370)

द्विवेदी जी ने पद्य और कविता को अलग बताया है। वे पद्य के लिए मात्रिक-वर्णिक नियमों का निर्वाह मान्य करते हैं कविता के लिए नहीं। 'कवि और कविता' निबन्ध में वे लिखते हैं- ...पद्य के लिए काफिये वगैरह की जरूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उल्टी हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक अनुप्रास आदि

ढूँढ़ने से कवियों के विचार स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वतंत्रता पूर्वक प्रकट करें।' (साहित्य-विचार-पृ. 26 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध) जुलाई 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित द्विवेदी जी के उपर्युक्त निबन्ध की ये पंक्तियाँ निराला-प्रवर्तित मुक्त छन्द का अरुणोदय हैं। बीसवीं शताब्दी की द्विवेदी युग के बाद की कविता का बहुलांश इसी पुष्ट पीठिका पर प्रतिष्ठित है। प्रयोगवाद, नयी कविता और अन्य परवर्ती काव्यान्दोलनों के प्रवर्तन के बीज आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के इन्हीं काव्यादर्शों की सुचिन्तित भावभूमि में विकसित हुए हैं। द्विवेदी युगीन काव्य की प्रबन्धात्मकता की अधिकता के कारण प्राय: उन्हें हिन्दी काव्य की परम्परागत मान्यताओं के पोषक के रूप में जाना जाता है जबकि उनकी उपर्युक्त अवधारणाएँ उनके काव्य चिन्तन में पोषित प्रगतिशीलता की परिचायक हैं, साक्षी हैं।

आचार्य द्विवेदी का साहित्य सृजनः रचनावली के गवाक्ष से

डॉ. आशीष पाण्डेय

भारतीय वाङ्मय में ज्ञान की राशि का विकास ऋषि परम्परा से जुड़ा हुआ है, चाहे वह संस्कृत हो या हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाएँ। हिन्दी में ऋषि परम्परा का अवगाहन करने पर जो नाम सबसे प्रगल्भता के साथ द्रष्टव्य होता है, वह है आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का। आचार्य द्विवेदी को हिन्दी साहित्य का भगीरथ कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज से निकली भाषा की संकुचित सी धारा, जिसे भारतेंदु मंडल ने सहेजा, उसे गंगा की प्रवाहमयी और निर्मल धारा में परिवर्तित किया। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी के परिष्करण और परिमार्जन का महनीय कार्य किया। भाषा के निरूपण में उनका योगदान इतना महत्त्वपूर्ण है कि आचार्य द्विवेदी के सृजन के लिए वह लक्ष्मण रेखा सी बन गयी। हिन्दी जगत आचार्य को एक युगानुकूल सजग साहित्य सर्जक के बजाय सरस्वती के यशस्वी संपादक और भाषा के परिमार्जक तक ही जानता रह गया। आचार्य को हिन्दी साहित्य की परम्परा में उनके सम्पूर्ण कृतित्व के साथ दिखाने के कार्य उनके 'नल-नील' ने किया, जिन्होंने उस सेतु का निर्माण किया, जिसके माध्यम से उनके विशाल कृतित्व तक पाठकों को पहुँचाने में सफलता मिली। उनके नल और नील हुए डॉ. रामविलास शर्मा और भारत यायावर।

डॉ. रामविलास शर्मा ने सर्वप्रथम 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और नवजागरण' पुस्तक के माध्यम से आचार्य द्विवेदी के अवदानों को भाषा के सुधारक की सीमा से आगे रेखांकित किया। उन्होंने भारतेंदु की नवजागरण परम्परा से जोड़ते हुए ज्ञान राशि के संचित कोष के संचयिता के रूप में उनकी विशिष्टता के पक्षों को उद्घाटित किया, पर वास्तव में इस भागीरथी महावीर के लिए हनुमान बनकर आते

हैं प्रख्यात आलोचक भारत यायावर। भारत यायावर जिन्होंने अपने जीवन के अष्टादशाध्याय यानी 18 वर्ष के अथक परिश्रम और अनुशीलन के जरिये आचार्य के साहित्य की तलाश की। उनके छद्म नामों तक से छपे साहित्य को तलाशा और पंद्रह खंडों में विशाल 'महावीर सागर' को हिन्दी जगत को सौंपा। भारत यायावर ने आचार्य द्विवेदी के विशाल साहित्य में उनके सर्जक के विविध आयामों को सामने लाया, जिनमें वे व्यवस्थित संपादक, भाषा वैज्ञानिक, इतिहासकार, पुरातत्ववेत्ता, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, तत्व चिंतक, संस्कृत साहित्य के अन्वेशक-विवेचक, भारतीय एवं वैश्विक राजनीति के विश्लेषक, अनुवादक, कवि आदि रूपों को सामने रखा। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की सेवा न जाने कितने छद्म नामों से लिखे गये लेखों के जरिये की थी, वे दुर्लभ लेख भी भारत यायावर ने खोजे, अब इस अनुशीलन में उनका कितना अथक परिश्रम रहा होगा, यह कहने की बात नहीं है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी युग निर्माता थे, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्ष में ही आकर मानो उन्होंने उसका सारथ्य सँभाल लिया था। मनु की तरह उन्होंने सृष्टि निर्माण की भाँति हिन्दी की नौका को तट पर पहुँचाया था।

महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली का हिन्दी साहित्य में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान इसलिए है कि इसने एक युग पर पूर्वाग्रह से बने दावों को खारिज किया। द्विवेदी युग के सम्बंध में बहुत सी स्थापनाएँ जो जड़ बनकर हिन्दी साहित्येतिहास के लेखकों ने अपने काल विभाजन में लगातार दोहराया, उनको रचनावली के माध्यम से भारत यायावर ने सुधारा। उन्होंने द्विवेदी जी के लिए सही संज्ञा का प्रयोग किया है, 'दधीचि'। वास्तव में दधीचि की तरह इस साधक ने हिन्दी की साधना में अपनी हड्डियाँ गलाई हैं, और युग निर्माण किया है। आचार्य द्विवेदी जी के जिन रूपों को भारत यायावर के कुशल संपादन ने रचनावली में उभारा है, वह भाषा सुधारक से कहीं बहुत आगे है। हिन्दी का सामान्य पाठक या विद्यार्थी द्विवेदी युग को गद्यात्मक इतिवृत्तात्मकता और भाषा के परिष्करण और परिमार्जन के रूप में ही जानता है, जबकि वास्तव में सरस्वती के वे 18 वर्ष और आचार्य का विपुल लेखन बीसवीं शताब्दी की नींव रखने वाला था, नींव के पत्थर टेढ़े-मेढ़े होते हैं, पर यह भी ध्यान रहे कि नींव में उन पत्थरों को रखा जाता है, जो ठोस होते हैं, आचार्य का साहित्य यही ठोस रूप था। भारत यायावर एक विलक्षण संयोग

की चर्चा भी करते हैं, 1885 का वर्ष। जिस वर्ष भारतेंदु के रूप में एक युग निर्माता का अवसान हुआ, उसी वर्ष एक नये युग निर्माता की साहित्य साधना प्रारंभ हुई। मानो दैवीय रूप से भारतेंदु अपना हिन्दी ध्वज और मशाल, द्विवेदी जी को सौंप गये। यह संयोग खोजना निरी भावुकता कही जा सकती है, पर है यह सच कि द्विवेदी जा का लेखन 1885 में प्रारंभ हुआ।

रचनावली में भारत यायावर ने जिन विवेचनाओं को सामने रखकर द्विवेदी जी के व्यक्तित्व को पूर्णता से उभारा है, साथ ही यत्र-तत्र बिखरे साहित्यपुंजों को जब परागकणों की भाँति समेटकर सहेजा तो उसकी दिव्य सुगंध से बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों के हिन्दी उपवन का वास्तविक अभिज्ञान हो सका है। डॉ. नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है कि 'महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली उस तप:पूत साहित्य साधक, हिन्दी के अनन्य आराधक और युग विधायक संपादक का सच्चा सारस्वत स्मारक है। इस भव्य स्मारक के कुशल शिल्पी हैं भारत यायावर। अपनी लुप्तप्राय साहित्यिक विरासत की तलाश में पुराने पुस्तकालयों और निजी संग्रहों की खाक छानने वाले एक अथक अन्वेशी। यह रचनावली असाध्य को भी साध्य साबित कर दिखाने का एक चमत्कार ही है। अनुपलब्ध समाग्री का श्रमसाध्य अनुसंधान, छद्म नाम से प्रकाशित रचनाओं का विवेकपूर्ण समाकलन, फिर उन सबका विषयानुसार वर्गीकरण और कालक्रमानुसार संयोजन करते हुए आवश्यक संदर्भसूचक टिप्पणियों और विश्लेषणात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुतीकरण सचमुच ही गहन संपादकीय दायित्व-निर्वाह का दुर्लभ उदाहरण है।' नामवर जी रचनावली संपादक की ईमानदारी का भी तकाजा देते हैं, जैसा कि भारत यायावर ने स्वीकारा कि द्विवेदी जी की तमाम रचनाएँ और पत्र अप्राप्य रहे, उनके मिलने पर और खंड तैयार हो सकते हैं, उससे इन खंडों के विपुल साहित्य के आधार पर उस युगबोध का विवेचन और स्पष्ट ही होता, पर यह हिन्दी का दुर्भाग्य है। ज्ञान राशि के इस संचित कोष के कारण आचार्य द्विवेदी के बारे में हिन्दी साहित्य के इतिहास में दर्ज पन्नों में इतिहासकारों को संषोधित करना पड़ेगा। क्योंकि रचनावली के आधार पर जब उनका विपुल साहित्य सामने आता है, तो वे पथकर्ता आचार्य नहीं बल्कि युग निर्माता की भूमिका में उभरकर सामने आते हैं।

संस्कृत की प्राच्य परंपरा से लेकर अंग्रेजी के आधुनिक ज्ञान का वैज्ञानिक विवेचन कर उसे हिन्दी के पाठकों तक पहुँचाने का महनीय कार्य किया है द्विवेदी

जी ने। उनके अनुदित साहित्य के सूक्ष्म पर्यायलोचन के बिंदु इस रचनावली में मिलते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने अनुवाद कार्य शब्दों के रूपांतरण के रूप में नहीं किया बल्कि भावार्थ के स्तर पर किया। बेकन, मिल, हर्बर्ट स्पेंसर हों या कालिदास, व्यास और भारवि, इनके अनुवादों को उन्होंने अपनी तत्विक दृष्टि पर हिन्दी के पाठकों की उपयोगिता की कसौटी पर परखा और तत्पश्चात् भावों को पाठक तक पहुँचाया। द्विवेदी जी के अनुवादों में जो पाद-टिप्पणियाँ दी गयी हैं, उससे साफ पता चलता है कि उनका अनुवाद केवल पुस्तक भर लिखना नहीं है, न ही वह पुनर्रचना मात्र है, बल्कि हर पाठक तक उस ज्ञान राशि को पहुँचाने का माध्यम है, इसीलिए वह इन टिप्पणियों के माध्यम से अर्थ को और सहज करते चलते हैं। जाहिर सी बात है कि अनुवाद करते समय उनके सामने हिन्दी के पाठक रहा करते थे। उनका संपादन 'बहुत मोटी-मोटी बातें, बहुत मोटे तौर' पर कहने का संग्रह नहीं था, बल्कि एक सागर था, जहाँ विश्व भर की ज्ञानगंगाओं का आह्वान उन्होंने किया। शिक्षा, स्वाधीनता, राष्ट्रवाद जैसे तथ्यों पर उनके विचार और लेख क्रांतिकारी थे। एक और मुख्य बात जो उभर कर सामने आई कि काव्य के स्तर पर उनके पद्य, हिन्दी कविता के आने वाले युगों के बीजारोपण रूप में विद्यमान हैं। परमानंद श्रीवास्तव ने स्पष्ट किया है कि छायावाद के कई रूप थे, नवजागरण, किसान समस्या, जमींदारी प्रथा और मजदूरों के शोषण आदि के संदर्भ में लिखी निराला की कविताएँ द्विवेदी जी के कथ्य और भाव का ही विस्तार थीं। ब्रजभाषा के सात सौ साल के आधिपत्य में जन्मी भक्ति और असिस्टेंट प्रोफेसर हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान श्रृंगारिकता, समस्या पूर्ति और अलंकारवादिता को हटाकर उन्होंने काव्य को नये गौरव के अनुरूप बनाया, नये भावों का संवाहक बनाया, जैसे भारतेंदु ने गद्य के रूप में तथाकथित मुश्तर्का जुबान उर्दू के स्थान पर हिन्दी गद्य का किया था।

आचार्य द्विवेदी की रचनावली अपने विशाल साहित्य और विविधता के कारण अनुपम है, उसमें भारत यायावर का कुशल संपादन जो कि इस विपुल साहित्य को न जाने कहाँ-कहाँ से खोजकर लाया होगा, वह अप्रतिम है। इन दोनों का संयोजन इतना सुखकर है कि रचनावली के संबंध में अतिरिक्त कुछ कहा ही नहीं जा सकता। रचनावली के प्रत्येक खंड इतने संतुलित ढंग से संकलित और

व्यवस्थित हैं, कि मानो स्वयं मुखर हो उठे हों। पाठक स्वयं आचार्य के विराट व्यक्तित्व के कारण रचनावली की प्रवाहमयता में सराबोर हो जाता है, फिर भी रचनावली के खंडों का एक विवेचित परिचयात्मक अनुशीलन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के इस अंक में आवश्यक जान पड़ता है।

पहला खण्ड : द्विवेदी युग को भाषा के सुधारकाल के रूप में जाना जाता है, ये आचार्यत्व की प्रतिष्ठा पर स्थापित भी बहुत कुछ भाषा सम्बंधी भूमिका के कारण रहे हैं। रचनावली का प्रथम खंड भारत यायावर जी ने आचार्य के सृजन की भाषा समस्या और लिपि निर्धारण, लेखों, रचनाओं, वक्तव्यों के संकलन से सम्बद्ध रखा है। प्रथम खंड को भारत यायावर ने तीन भागों में क्रमबद्ध रूप से विभाजित करके सूक्ष्म पर्यावलोचन करते हुए आचार्य की ऐतिहासिक भूमिका की स्थापना की है। भाग एक में 'साहित्यालाप' की भूमिका, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, हिन्दी, हिन्दी भाषा और उसका साहित्य, हिन्दी की वर्तमान अवस्था पर लेखों का संकलन किया गया है। ये वे सामग्रियाँ हैं, जो 'सरस्वती' में लगातार प्रकाशित होती रही हैं।

पहले खंड के दूसरे और तीसरे भाग में भाषा के साथ लिपि पर लिखे गये उनके लेखों का संकलन है। उन्होंने लिपि और व्याकरण के शुद्ध रूप से सम्बंधित लेखों को सरस्वती में प्रकाशित किया, जिससे उच्चारण के साथ ही लेखन के भी तथ्यों को सुधारा जा सके। इसी खंड के प्रथम परिशिष्ट में भारत यायावर ने हिन्दी साहित्य के उस पहले चर्चित विवाद का भी जिक्र किया है, जोकि भाषा की अनस्थिरता को लेकर खड़ा हुआ था। उस युग के तीन दिग्गजों और दो युगों के पक्ष-प्रतिपक्ष में लिखे गये लेखों में और अप्रत्यक्ष रूप से न जाने कितने अन्य लेखकों के शब्द संधानों का यह विवाद हिन्दी का बहुत कुछ भला भी कर जाता है। आचार्य द्विवेदी का जो स्वप्न स्वराज्य और एक राष्ट्र की जातीय एकता को लेकर था, उसके लिए मातृभाषा और उसके प्रति ईमानदार संघर्ष का आह्वान और हिन्दी आंदोलन की जातीय चेतना के विकास का अवगाहन प्रथम खंड में देखा जा सकता है।

दूसरा खंड : रचनावली का द्वितीय खंड आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सर्जक रूप पर आधारित है। भारत यायावर जी ने इस खंड में साहित्य की विविध विधाओं यथा नाटक, कहानी, काव्य, निबंध आदि पर लिखे गये उनके

लेखों का संकलन किया है, जो समय-समय पर सरस्वती में प्रकाशित होते रहे। इसमें उन्होंने द्विवेदी जी के छद्म नाम से लिखे गये लेखों को भी संकलित किया है। आचार्य द्विवेदी ने एक संपादक के रूप में हिन्दी भाषा और लिपि ही नहीं हिन्दी में क्या लिखा जाये, यानी कि उसके कथ्य का भी निर्धारण किया है। उनकी भूमिका युगांतरकारी की रही है, जो अपने देशकाल की परिस्थिति के अनुरूप साहित्य को प्राचीन जड़ताओं से मुक्त कर नवीन वैज्ञानिक प्रवृत्ति से संलग्न करना चाहते थे, ताकि भारत भूमि का वास्तव में उद्धार हो सके, स्वतंत्रता संग्राम अपने मूलरूप को ग्रहण कर सके।

इस खंड के प्रथम भाग में उनके साहित्य विचार नाम से लेखों का संकलन किया गया है। द्वितीय भाग में पुस्तक समीक्षा के अंतर्गत सरस्वती में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओं का वर्णन है, जिसमें एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण नाम मिश्रबंधुओं द्वारा लिखित 'हिन्दी नवरत्न' का है। भाग तीन में पुस्तक परिचय के अंतर्गत उनके लेखों का संकलन है। भाग चार में विविध साहित्येतर विषयों पर उनके लेखों का संकलन है तो भाग पाँच में वाद-विवाद-संवाद के अंतर्गत उनके महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक लेख रखे गये हैं परिशिष्ट में मुक्त काव्य और समाचार पत्रों से संबंधित उनके वैचारिक लेख संग्रहीत हैं। इसी खंड में उनके काव्य संबंधी निबंधों का संकलन किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि द्विवेदी जी की स्थापनाएँ काव्य को लेकर न केवल अत्याधुनिक और भविष्य देखने वाली थीं, बल्कि वे तमाम अवधारणाएँ आगे चलकर आचार्य शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और नंद दुलारे बाजपेयी आदि आलोचकों में साफ देखी जा सकती हैं। नायिका भेद और समस्यापूर्ति जैसी ब्रजभाषा के संस्कारों से युक्त कविता और सामंतवादी विचारधारा की उन्होंने जमकर खबर ली है। द्वितीय भाग में विभिन्न विषयों पर उनकी समीक्षाओं का संकलन मिलता है। उन्होंने भारत की समृद्ध संगीत परम्परा और कला पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं, जिनका संकलन इसी खंड में किया गया है। इसके अंतिम भाग में भारत यायावर ने द्विवेदी जी के साथ हुई तीखी बहसों, आक्षेपों या आलोचना के प्रत्युत्तर में लिखे गये उनके निबंधों का संकलन किया है।

तृतीय खंड : आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ज्ञान राशि के संचित कोष को साहित्य माना था। ज्ञान बिना इतिहास के पंगु होता है। इतिहास की

परम्परा ही सभ्यता के गवाक्षों को खोलती है, जहाँ से इतिहास का आलोक वर्तमान को प्रकाशित करता है। ग्रंथावली के तीसरे खंड में उनके इतिहास से सम्बंधित गवेषणात्मक लेखों को रखा गया उनके युग में हिन्दी में इतिहास की ऐसी सामग्री की उपलब्धता नहीं के बराबर थी। यह भी एक कारण था एक सजग साहित्यचेता मनीषी का कि उन्होंने इतिहास और पुरातत्व सम्बंधी निबंधों से हिन्दी के पाठकों के ज्ञान के एक नये पंथ को स्थापित किया।

संपादक ने रचनावली के इस भाग को उनके इतिहासपरक लेखन के आधार पर व्यवस्थित करते हुए पाँच भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में पुरातत्व और इतिहास के सम्बंध में किये गये कार्यों का वर्णन है जिसमें भारतीय पुरातत्व, पुरातत्व का पूर्वेतिहास, मध्य एशिया के खंडहर, पुरानी इमारतों की रक्षा, भारत के पुराने दस्तावेज जैसे शोधपरक लेख हैं। भाग दो में विवेचनात्मक निबंधों को रखा गया है, जिन्हें सांस्कृतिक इतिहास कहना ज्यादा समीचीन रहेगा। तीसरे भाग में प्राचीन भारत की सभ्यता से जुड़े हुए आलेख हैं, जिनमें द्रविड़जातीय भारतवासियों की सभ्यता, प्राचीन भारत की युद्धव्यवस्था, प्राचीन भारत में राज्याभिषेक, प्राचीन भारत में जहाज, भारतवर्ष का नौका नयन, बौद्धकालीन भारत के विश्वविद्यालय, मौर्य साम्राज्य के नाश का कारण आदि महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक आलेख सम्मिलित हैं। चौथे भाग में मध्यकालीन एवं ब्रिटिश शासन में भारत को केंद्रित कर लिखे गये इतिहासपरक लेख हैं, मुगल बादशाहों की दिनचर्या, लोमहर्षक शारीरिक दंड, पुराना सती संवाद, महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र आदि लेखों के साथ ही शिवाजी और अंग्रेज, कलकत्ते की कालकोठरी, कांग्रेस के कर्ता आदि भी महत्त्वपूर्ण आलेखों को संग्रहीत किया गया है। पाँचवें भाग में प्राचीन शहरों, स्तूपों आदि पर लेख हैं, बनारस, ग्वालियर, साँची के स्तूप, जयपुर, चरकारी राज्य आदि। संसाधन विहीन युग में इन सामग्रियों का पुस्तकों और सर्वेक्षण रिपोर्टों आदि के आधार पर संकलन और उनको हिन्दी के आम पाठक तक पहुँचाने का प्रयास केवल एक साहित्यिक की कलम से नहीं हो रहा था, बल्कि इतिहास की पहचान के साथ वर्तमान अव्यवस्थाओं और पराजित मनोभावों को परे कर एक नये भारत के करवट बदलने की दास्ताँ भी बयाँ कर रहा था।

इस खंड के निबंधों से उनके ऐतिहासिक दृष्टिकोण को समझने में मदद

मिलती है, वे कोरे राजनीतिक पक्ष को इतिहास की दृष्टि में मानने के समर्थक नहीं थे, बल्कि तदयुगीन परिस्थितियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक प्रभावों के परिप्रेक्ष्य में इतिहास के आधुनिक युग में प्रासंगिकताओं को समझने के पक्षधर थे।

चौथा खंड : रचनावली के चौथे खंड में उनके वैश्विक साहित्य और समाज पर आधारित लेखों को संग्रहीत किया गया है। प्रथम भाग में उन लेखों को रखा गया है, जिसमें प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति का दूसरे देशों में होने वाले विकास को दिखाया गया था। दूसरे भाग में आचार्य के उन लेखों को रखा गया, जिसमें उन्होंने विदेशों में संस्कृत साहित्य पर होने वाले कामों की विवेचना की थी। तीसरे भाग में अनेक देशों के बारे में लिखे गये विविध लेख हैं। चौथे भाग में जीवन चरितात्मक संबंधी लेख रखे गये हैं। पाँचवें भाग में उत्तर और दक्षिण ध्रुव की यात्रा का रोमांचक वर्णन है। छठे भाग में उन सामाजिक लेखों को रखा गया है, जिसमें विभिन्न देशों की जनजातियों के बारे में विवेचना की गई है। परिशिष्ट में संपादक ने दो लेखों की महत्ता के कारण उन्हें स्थान दिया है जिसमें एक लाला हरदयाल के एक अंग्रेजी लेख का सारांश प्रस्तुत किया है, उसमें द्विवेदी जी ने अपने मत को भी रखा है, जो छद्म नाम से लिखा गया है।

पाँचवाँ खंड : पाँचवें खंड में भारतीय कवियों, महापुरुषों, राजा-महाराजाओं, पत्रकारों, कलाकारों आदि के जीवन चरित संकलित किये गये हैं। जीवनी के अतिरिक्त उन्होंने महापुरुषों की मृत्यु पर भी सरस्वती में संपादकीय लेख लिखे हैं। तिलक पर लिखा गया लेख उनके भाषा शैली की प्रवाहमयता के साथ ही ओज और आवेग के अद्भुत संगम को दर्शाता है। रचनावली के इस खंड के परिशिष्ट में सरस्वती के विषय में जो उन्होंने लिखा, उन लेखों को संग्रहीत किया गया है। 1921 में सरस्वती में उनके अंतिम लेख 'संपादक की विदाई' का संकलन है, परिशिष्ट 2 में 1933 में नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से अभिनंदन ग्रंथ प्रदान किये जाने के समय लिखा उनका लेख आत्म निवेदन भी संकलित है। जो बाद में जीवन रेखा के नाम से प्रकाशित हुआ। परिशिष्ट चार में संपादक ने उनके जीवन चरित सम्बंधी पुस्तकों की भूमिकाओं को संकलित किया है, जिनमें सुकवि-संकीर्तन, वनिता विलास, कोविद कीर्तन, चरित चित्रण और विदेशी विद्वान आदि हैं।

छठाँ खंड : आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अर्थशास्त्र पर बहुत ही सूक्ष्म और विवेचनात्मक चिंतन किया है। जो उनकी दो पुस्तक के रूप में सामने आया 'संपत्तिशास्त्र' ओर 'औद्योगिकी'। ये दोनों पुस्तकें रचनावली के छठे खंड में सम्मिलित की गयी हैं। संपतिशास्त्र का प्रकाशन 1908 में हुआ, उसके पूर्व अर्थशास्त्र पर आधारित हिन्दी की कोई सम्पूर्ण पुस्तक नहीं थी। ब्रिटिशकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था को उजागर करती हिन्दी की पहली अर्थशास्त्र पुस्तक 'संपत्तिशास्त्र' है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि आज भी किसी साहित्यकार द्वारा लिखी गयी अर्थशास्त्र की संभवत: कोई भी पुस्तक नहीं है।

अर्थशास्त्र पर लिखी गयी पुस्तक के अलावा भी उन्होंने बहुत से लेख लिखे जो 'औद्योगिकी' नामक पुस्तक में संकलित किये गये। उसमें 12 निबंध हैं, जिसमें प्रारंभ के छ:-भारतवर्ष का चलन-बाजार, सिक्का, साख, कागजी रुपया, बैंक, दलाली और हुण्डी-पुरजे का व्यवहार। इनमें उन्होंने वर्तमान और अतीत में इन के चलन के स्तरों पर तुलनात्मक ढंग से विचार किया है। बाकी पाँच निबंधों में तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था के मुद्दे पर लिखे गये लेख हैं - भारतवर्ष में औद्योगिक शिक्षा, भारत की कारीगरी, भारतवर्ष में काँच के कारखाने, भारतवर्ष में खेती की बुरी दशा एवं चुकंदर की चीनी। 'कृषि व्यवस्था में अद्भुत अविष्कार' निबंध में स्पष्ट है कि उन्होंने इस क्षेत्र में किये गये अविष्कारों का विवेचन किया है। ग्रंथावली के परिशिष्ट में संपादक ने सुपार्श्वदास गुप्त के 'कौंसिल बिल' नामक निबंध को रखा है, जो औद्योगिकी के 'बैंक' निबंध से सम्बंधित है। परिशिष्ट दो में 'सम्पत्तिशास्त्र' पर प्रकाशित उनके उन प्रारंभिक निबंधों को रखा गया है, जो 'विज्ञान वार्ता' नामक उनकी पुस्तक में संकलित हैं।

सातवाँ खंड : रचनावली का सातवाँ खंड कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। एक तो इसकी ऐतिहासिकता शिक्षा नीतियों की समालोचना से जुड़ी हुई है, दूसरी ओर महिला शिक्षा में उस दौरान में दिये गये मत, मानो भारतेंदु हरिश्चंद्र के स्त्री शिक्षा की हिमायत के अगले चरण के रूप में और सशक्त और सुदृढ़ होकर द्विवेदी जी की लेखनी में दिखाई देते हैं।

इस भाग के दूसरे लेख 'स्त्री शिक्षा की समालोचना' में उन्होंने संयुक्त प्रांत में स्त्री शिक्षा पर प्रकाश डाला है। स्त्री शिक्षा के विरोधियों का खंडन करते हुए वे सरस्वती में कई निबंध लिखे, जो बाद में महिला मोद के नाम से संकलित

कर प्रकाशित किये गये।

वे सिर्फ शिक्षा के ही नहीं बल्कि विज्ञान, प्रौद्योगिकी, तकनीकी आधारित शिक्षा के हिमायती थे। इसी कारण उन्होंने इस तरह के कॉलेजों की सराहना की है, चाहे वह मैसूर का लड़कियों का स्कूल हो या फिर कानपुर का एग्रीकल्चर कॉलेज। वृंदावन के प्रेम महाविद्यालय, बनारस के हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना पर उन्होंने काफी उत्साहजनक लेखों को लिखा था, जो रचनावली के इस खंड में संकलित किये गये हैं।

आध्यात्मिकी के निबंध दूसरे भाग में संकलित किये गये हैं। आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, कुंडलिनी आदि पर लिखे निबंधों के साथ ही 'जीवन क्या वस्तु है', 'मृत्यु का नया रूप' जैसे निबंध मिलते हैं। इसी खंड में उनके कुछ असंकलित निबंधों को रखा गया है। जो पुस्तक रूप में संकलित नहीं हुए थे। उन्होंने बांग्ला और संस्कृत साहित्य से आधारभूमि लेकर कुछ कहानियों का लेखन भी किया था। ऐसी सात कहानियों का संकलन 'आख्यायिका' सप्तक के नाम से प्रकाशित हुआ था। जिसका संकलन इसी खंड में संपादक ने किया है।

आठवाँ खंड : संस्कृत साहित्य पर उन्होंने लगातार समालोचनात्मक ढंग से विचार किया है। रचनावली के आठवें खंड में संस्कृत साहित्य पर लिखे गये उनके आलोचनात्मक, विवेचनात्मक और आख्यानपरक लेखों को सम्मिलित किया गया है। ध्यातव्य है कि उन्होंने संस्कृत की महान कृतियों का आख्यानपरक एवं औपन्यासिक रूप से रूपांतर भी किया है। खण्ड आठ में द्विवेदी जी की चार पुस्तकों-नैषध चरित चर्चा, विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा, कालिदास और उनकी कविता, कालिदास की निरंकुशता संकलित की गई है। इसके साथ ही संस्कृत साहित्य पर लेखों पर आधारित उनकी पुस्तकें आलोचनांजलि, साहित्य-सीकर, साहित्य-संदर्भ, समालोचना-समुच्चय आदि के अलावा कतिपय असंकलित निबंधों का भी संकलन किया गया है। प्राकृत भाषा पर लिखे गये उनके लेख 'प्राकृत भाषा' का भी संकलन इसी खंड में किया गया है।

संस्कृत के कवियों में सबसे ज्यादा लेखन आचार्य का कालिदास पर रहा है। कालिदास पर लिखी उनकी दो पुस्तकें जो कि लेखन के तत्काल बाद से ही तीखी आलोचना का केंद्र बन गईं, उन दोनों का संकलन रचनावली के इस खंड में किया गया है, - कालिदास और उनकी कविता, कालिदास की निरंकुशता।

आचार्य द्विवेदी जी का संस्कृत काव्य पर लेखन वैविध्यपूर्ण ही नहीं अत्यंत विचारात्मक है। इसकी महत्ता इसी से समझी जा सकती है, कि जितना प्रासंगिक यह 1900 के प्रारंभिक दशकों में था, उससे कहीं ज्यादा प्रासंगिक आज के समय में हो गया है। उनके संस्कृत साहित्य पर किये गये अवदानों का अध्ययन करने के लिए रचनावली का यह खंड अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

नौवाँ खंड : रचनावली के खण्ड नौ में उनके पत्रकारितापरक लेखों को संकलित किया गया है। जिनमें समाजशास्त्रीय लेखों के साथ ही वैज्ञानिक विषयों पर किये गये चिंतनपरक लेख भी हैं। उन्होंने समय-समय पर सरस्वती में वैज्ञानिक शोधों पर लेख लिखे हैं, यहाँ पर उनके जीवविज्ञान, जंतुविज्ञान और वनस्पतिविज्ञान पर लिखे गये लेखों को भी संकलित किया गया है। खंड नौ के भाग एक में उनके समाजशास्त्रीय और समालोचनापरक लेख हैं, जिनमें पहला बहुत ही महत्त्वपूर्ण भी है और हिन्दी में ऐतिहासिक महत्व रखता है।

'अवध के किसानों की बरबादी', भारतवर्ष की चौथी मनुष्य गणना, शासन सुधारों के विषय में रिपोर्ट, विलेज पंचायत बिल, सन् 1921 की मनुष्य गणना, म्यूनिसिपैलिटियों का कर्तव्य पालन, किसानों का संगठन, सरकारी कारनामे, देहाती पंचायतें, पुलिस के क्रियाकलाप की आलोचना आदि निबंध हैं। इनका विस्तार प्रशासन से लेकर संगठन तक है। भाग दो में विविध विषयों से सम्बंधित लेखों को रखा गया है, जिसमें कई विज्ञान से संबंधित हैं जैसे सौर जगत की उत्पत्ति, रेडियम की आत्मकथा, पानी के भीतर चलने वाले धूम्रपोत, परमाणु की शक्ति आदि। भाग तीन में जीव-जंतुओं और वनस्पति विज्ञान से संबंधित लेखों का संकलन है।

दसवाँ खंड : रचनावली का खंड दस को अगर इस पूरे ग्रंथ का स्वर्णखंड कहें तो अत्युक्ति न होगी, इसका कारण है इस खंड में सम्मिलित तीन त्रयी पुस्तकों और उसके लेखकों का उपस्थित होना। इस खंड में अंग्रेजी भाषा के तीन महान विचारकों लार्ड बेकन, जॉन स्टुअर्ट मिल और हर्बर्ट स्पेंसर की महत्त्वपूर्ण कृतियों के द्विवेदी जी द्वारा किये गये अनुवादों का संकलन है- बेकन विचार रत्नावली, स्वाधीनता और शिक्षा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन पुस्तकों और उसके हिन्दी अनुवाद की जो आवश्यकता उस युग में रही होगी, वह सौ साल बाद आज भी जस की तस बनी हुई है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुवाद तकनीकी अनुवाद की श्रेणी में नहीं आते, उन्होंने भावानुवाद किये हैं, यही कारण है कि उनके अनुवाद चाहे वह अंग्रेजी के ग्रंथों के हों या फिर संस्कृत, उर्दू या बांग्ला के, उन सबमें मूल पुस्तक और लेखक के अलावा द्विवेदी जी का व्यक्तित्व और चिंतन उभरकर सामने आता है। इस तरह के अनुवाद किसी भी रचना का दूसरा घर होते हैं, यह कायांतरण होता है एक भाषा से दूसरी भाषा में। इन अनुवादों में द्विवेदी जी के पांडित्य का पता इससे भी चलता है कि उन्होंने पाद टिप्पणियों को दिया है, जिससे यूरोपीय साहित्य और इतिहास पर उनकी गहरी अभिरुचि का पता चलता है।

ग्यारहवाँ खंड : ग्यारहवें खण्ड में आचार्य द्विवेदी द्वारा कालिदास की कालजयी रचनाओं 'रघुवंश', 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' के भावानुवाद को संकलित किया गया है। रघुवंश का रूपांतर 1912 में किया गया था, जिसका प्रकाशन 1913 में हुआ। अन्य दोनों पुस्तकों का अनुवाद 1915 में किया गया, जिसे इंडियन प्रेस, प्रयाग ने 1917 में प्रकाशित किया। इन तीनों पुस्तकों के प्रथम संस्करण को रचनावली में संकलित किया गया है।

रघुवंश के रूपांतरण के आते ही इसकी धूम मच गई थी, और इसकी समस्त प्रतियाँ बिक गयीं थीं। जिसका जिक्र कुमारसंभव की भूमिका में द्विवेदी जी ने किया है। रघुवंश का यह अनुवाद कितना महत्त्व का था, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आठ-दस वर्षों में ही इसके कई संस्करण निकल गये थे। यह उनका भावानुवाद था, जिसके कारण कृति का रूपांतर प्रस्तुत किया गया है।

बारहवाँ खंड : खण्ड 12 में भी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुदित साहित्य को रखा गया है। इसमें 'महाभारत' और 'किरातार्जुनीयम' के अनुवाद का संकलन है। रामायण और महाभारत संस्कृत के ग्रंथों के आधार रहे हैं, इन दोनों की कथाओं को ही उपजीव्य बनाकर अधिकतर संस्कृत ग्रंथों की रचना की गई है। महाभारत की रचना उन्होंने 1908 में की थी और किरातार्जुनीय की 1916 में। दोनों पुस्तकों का प्रकाशन इण्डियन प्रेस से किया गया। महाभारत की मूल कथा संस्कृत में थी, वह पोथियों तक सिमटी हुई, पंडितों की चर्चाओं का विषय तो थी, पर हिन्दी से इतर होने के कारण आम जनता उसके महत्व से

अपरिचित तो थी ही, ऐसे महान ग्रंथों के उपयोग से भी वंचित हो रही थी। द्विवेदी जी द्वारा किया गया रूपांतर हिन्दी का पहला महाभारत का रूपांतर था। 'हिन्दी महाभारत : मूल आख्यान' के नाम से प्रकाशित इस कृति के कई संस्करण निकाले गये।

तेरहवाँ खंड : रचनावली का खंड 13 हिन्दी के सबसे शुद्ध रूप के प्रणेता आचार्य के गद्य नहीं काव्य के संकलन रूप में है। आचार्य द्विवेदी का बहुत बड़ा अवदान हिन्दी साहित्य में उसकी काव्यभाषा गढ़ने को लेकर भी है। उन्होंने भाषाई तौर पर ही नहीं बल्कि भाव के स्तर पर भी कविता की देह को गढ़ा है, रीतिकालीन श्रृंगार, अलंकार, समस्यापूर्ति, अलंकार वर्णन की परिपाटी को भी काव्य के क्षेत्र से तिलांजलि दिलाई है। इस युग में ही कविता को ब्रजभाषा की सीमा से पूर्णतया मुक्त किया गया और खड़ी बोली में काव्य रचना का शुभारंभ किया गया। द्विवेदी जी की सम्पूर्ण कविताओं का संकलन इस खंड में किया गया है। इसके अलावा उन्होंने जो काव्यानुवाद किये थे, वह सब भी इसी खंड में संग्रहीत हैं। रचनावली संपादक के अनुसार काव्य लेखन द्विवेदी जी ने 1885 इसमें प्रारंभ किया था। 1895 तक लगभग दस वर्षों में उनकी कई पद्यात्मक पुस्तकें प्रकाशित हो गयी थीं। यथा – श्री महिम्नस्तोत्र, विहार वाटिका, स्नेहमाला, गंगालहरी, कुमारसंभव सार आदि। इस खंड की विवेचना में संपादक की भूरि-भूरि प्रशंसा की जानी चाहिए, क्योंकि उनके श्रमसाध्य के कारण यह अन्वेषकों और शोधार्थियों के लिए बड़े ही काम का बन गया है। तारीख के अनुसार उन्होंने कविताओं का वर्णन और विवेचना की है, जिससे भाषागत परिवर्तनों को व्याकरणिक तौर पर भी देखा जा सकता है। पथकर्ता आचार्य की भाषा का क्रमिक अध्ययन तद्युगीन भाषाई विकास की भी गाथा बयाँ करता है।

उनके दो काव्य संग्रह आये थे, काव्य मंजूषा 1903 में और सुमन। इनमें खड़ी बोली के अलावा, संस्कृत, ब्रजभाषा की कविताएँ भी सम्मिलित हैं। इन सबको पहले और दूसरे भाग में संग्रहीत किया गया है। 'काव्य मंजूषा' में तैंतीस कविताएँ संकलित थीं। काव्य मंजूषा के पूर्व उकी हिन्दी विषयक चार कविताएँ 'नागरी' नाम से प्रकाशित हुई थीं। नागरी! तेरी यह दशा!! प्रार्थना, नागरी का विनय पत्र और कृतज्ञता प्रकाश। ये चारों 'काव्य मंजूषा' में संकलित हैं। उन्होंने कुछ चित्र और उन पर कविताओं का प्रकाशन सरस्वती में प्रकाशित किया था,

इसका का प्रकाशन 'कविता कलाप' नाम से किया गया था। हालाँकि इसमें अन्य कवियों की भी कविताएँ सम्मिलित थीं। सर्वप्रथम उनका काव्य 1885 में लिखा गया था, जो पुष्यदंत के 'श्री महिम्नस्तोत्र' का पद्यात्मक रूपांतर था। यह ब्रजभाषा में है और 1891 में झाँसी से प्रकाशित हुआ। हालाँकि उनकी प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'विनय विनोद' थी जो 1889 में प्रकाशित हुई। इसमें भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' का दोहा-छंद में रूपांतर था। तीसरी पुस्तक 'विहार वाटिका' रही जो 1890 में प्रकाशित हुई, इसमें 'गीत-गोविंद' के संस्कृत वृत्तों का भावानुवाद है। इसके बाद स्नेहमाला, जिसमें भतृहरि के ही श्रृंगार शतक का दोहा में अनुवाद है। पाँचवी पुस्तक उनकी ऋतु तरंगिणी है, जिसमें षट्ऋतुओं का वर्णन है। इसकी भूमिका में वे लिखते हैं, 'यह मेरी सामर्थ्य के बाहर था कि मैं इसकी रचना किसी नवीन ढंग से करता और इसी कारण अपने भूतपूर्व महाकवियों का आश्रय लेना पड़ा। इसमें जगतविख्यात 'ऋतुसंहार'' आदि काव्यों के भाव बहुत से स्थानों में पाठकों को दृष्टिगोचर होंगे। यह उनकी पहली मौलिक पुस्तक थी और इसी की भूमिका में पहली बार खड़ी बोली गद्य भी दिखाई देता है। यह फरवरी 1891 में लिखी गयी थी। भाषा ब्रज ही है और ग्रीष्म ऋतु से प्रारंभ कर बसंत पर समाप्त किया गया है। 1891 में ही पंडितराज जगन्नाथ की गंगालहरी का रूपांतर आया। इसी वर्ष में उन्हीं का भामिनी विलास भी प्रकाशित हुआ। 1892 में 'देवी स्तुतिशतक' प्रकाशित हुआ। खड़ी बोली पद्य में उन्होंने कुमारसंभव का रूपांतर 'कुमारसंभव सार' नाम से प्रकाशित किया। इन सारी पुस्तकों का संकलन रचनावली के इस खंड के तीसरे भाग में किया गया है।

मैथिलीशरण गुप्त के संपादन में उनकी कविताओं का प्रकाशन 'सुमन' नाम से हुआ। सुमन में काव्य मंजूषा की कविताओं के साथ ही सरस्वती में समय-समय पर प्रकाशित उनकी कविताओं को संकलित किया गया है। इसकी कविताएँ संशोधित रूप में हैं। रचनावली में इसी संशोधित रूप का संकलन है।

चौदहवाँ खंड : रचनावली के चौदहवें खंड में आचार्य द्विवेदी द्वारा लिखे गये पत्रों का संकलन किया गया है। ये पत्र लेखकों, सम्पादकों, कवियों, पत्रकारों के नाम लिखे गये हैं। इन पत्रों का समय काल 1896 से 1938 तक का है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक 38 वर्षों के साहित्यिक दस्तावेज के रूप में यह युग की साखी से बन पड़े हैं। बैजनाथ सिंह विनोद ने द्विवेदी जी के पत्रों का पहला

संकलन 'द्विवेदी पत्रावली' के नाम से 1954 में छपवाई थी। 1956 में उन्होंने दूसरी पुस्तक प्रकाशित कराई, 'द्विवेदी युगीन साहित्यकारों के कुछ पत्र'। पत्रों का तीसरा संकलन पद्मधर पाठक ने प्रकाशित किया, जिसमें श्रीधर पाठक के नाम लिखे गये द्विवेदी जी के पत्रों को संकलित किया गया था। जिसमें अंग्रेजी भाषा में लिखे कुल 61 पत्र हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से भी उनके देवीदत्त शुक्ल और किशोरीदास बाजपेयी के नाम लिखे गये पत्रों को दिखाया गया है। इन सभी पुस्तकों के अलावा भी उनके तमाम असंकलित पत्रों का संग्रह इस खंड में किया गया है।

संपादक का मानना है कि संरक्षण न होने से उनके बहुत से पत्र अप्राप्य हो चुके हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी को उन्होंने 80 पत्र लिखे थे, जिसमें से दो ही संकलित किये जा सके। राय कृष्णदास के नाम दो सौ पत्रों में 69 ही मिल सके। मैथिलीशरण गुप्त के नाम सौ से अधिक पत्रों में सिर्फ 45 मिल सके।

पंद्रहवाँ खंड : हिन्दी की कालजयी पत्रिका 'सरस्वती' में संपादकीय टिप्पणियाँ 'विविध विषय' नामक स्तंभ में प्रकाशित की जाती थीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली के 15वें और अंतिम खंड में 'सरस्वती' की संपादकीय टिप्पणियों को रखा गया है। इसमें द्विवेदी जी विविध विषयों पर छोटी-छोटी टिप्पणियों को लिखा कारते थे। यह सरस्वती का सर्वाधिक लोकप्रिय स्तंभ था। 1903 से 1920 तक इस स्तंभ की टिप्पणियों बहुत व्यापक होगी। द्विवेदी जी ने 1920 में सरस्वती से अवकाश प्राप्त कर लिया पर टिप्पणियाँ वे 1929 तक लिखते रहे। उन्होंने 1911 से 1928 तक सरस्वती में प्रकाशित इन चयनित टिप्पणियों का प्रकाशन 'विचार-विमर्श' नामक पुस्तक में प्रकाशित कराया। इस बीच वे 1910 और 1919 में अस्वस्थता के कारण दो वर्षों तक सरस्वती से अलग रहे थे। इन दो वर्षों के अलावा उन्होंने लगभग सभी अंकों में ये विविध टिप्पणियाँ लिखी हैं।

रचनावली के इस खंड में द्विवेदी जी की चयनित टिप्पणियों का संकलन रखा गया है। विषयगत विभिन्नता के चलते इनको अलग-अलग भागों में विभाजित कर लिया गया है यथा - साहित्य खण्ड, पुरातत्व खण्ड, चरित चर्चा खण्ड, विज्ञान खण्ड, आलोचना खण्ड, विवेचना खण्ड, प्रकीर्ण खण्ड। इन टिप्पणियों में दुनिया भर का ज्ञान कोष संचित है। आचार्य द्विवेदी की आलोचना दृष्टि देखनी है तो इन टिप्पणियों का जरूर अध्ययन करना चाहिए।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली वास्तव में डॉ. नामवर सिंह के अनुसार 'सारस्वत स्मारक' ही है, सरस्वती के साधक की। भारत यायावर का हिन्दी साहित्य में यह अमूल्य योगदान है कि उन्होंने आचार्य द्विवेदी के साहित्य को न जाने कहाँ-कहाँ से खोजा और उस अप्राप्य साहित्य को प्राप्य कर दिया। उन्होंने द्विवेदी जी के ज्ञान राशि के इस विराट सागर के माध्यम से आचार्य के बारे में बनी-बनाई अवधारणाओं को पुनर्सृजित करने का आधार दिया और एक पथकर्ता सर्जक जिसके आदर्श कथा, उपन्यास और कविता में भी आगे चलकर प्रेरणा बने, उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व का वास्तविक मूल्यांकन हिन्दी जगत को सौंपा।

पुस्तक के रचनाकार

भारत यायावर
हजारीबाग (झारखंड)
मो. 6204130608

डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी
पोर्टब्लेयर (अंडमान)
मो. 9434286189

डॉ. देवेन्द्र दीपक
भोपाल (म.प्र.)
मो. 9425679044

डॉ. बी. एल. आच्छा
चेन्नई (टी.एन.)
मो. 9425083335

डॉ. मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ
जयपुर (राज.)
मो. 8764295011

प्रो. उमेश कुमार सिंह
भोपाल (म.प्र.)
मो. 9589890181

त्रिभुवन राय
मुम्बई (महा.)
मो. 9323737551

डॉ. सुरेश गौतम
नई दिल्ली (भारत)
मो. 9871297078

डॉ. उदय प्रताप सिंह
वाराणसी (उ.प्र.)
मो. 9415787367

प्रो. नरेंद्र मिश्र
जोधपुर (राज.)
मो. 9829696683

डॉ. विनय षडंगी राजाराम
भोपाल (म.प्र.)
मो. 9826215072

डॉ. मृगेन्द्र राय
मुम्बई (महा.)
मो. 9869158885

मुक्तेश्वर नाथ तिवारी
शांति निकेतन (वेस्ट बंगाल)
मो. 9474765831

नित्यानन्द श्रीवास्तव
गोरखपुर (उ.प्र.)
मो. 9452847328

डॉ. प्रणव शास्त्री
पीलीभीत (उ.प्र.)
मो. 9760937481

डॉ. बलदेव पाण्डेय
पटना (बिहार)
मो. 9334662954

डॉ. सुधीर कुमार शर्मा
भोपाल (म.प्र.)
मो. 8989160390

गणेशचंद्र राही
हजारीबाग (झारखण्ड)
मो. 9939707851

लोकेन्द्र सिंह
भोपाल (म.प्र.)
मो. 9893072930

डॉ. भूपेन्द्र हरदेनिया
सबलगढ़, जिला-मुरैना (म.प्र.)
मो. 9893523538

डॉ. हरेराम पाठक
डिगबोई (असम)
मो. 9435137624

डॉ. कृष्णगोपाल मिश्र
होशंगाबाद (म.प्र.)
मो. 9893189646

डॉ. दोड्डा शेषु बाबु
हैदराबाद
मो. 9985281090

डॉ. आशीष पाण्डेय
वनस्थली (राज.)
मो. 8808427443

डॉ. शिवमंगल कुमार
दिल्ली (भारत)
मो. 9910860386